समग्र ग्राम-सेवा की ओर

०

धीरेन्द्र मजूमदार

०

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
रा ज घा ट, का शी

प्रकाशक :
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, काशी

●

पहली बार : ५,०००
मार्च, १९६०
मूल्य : ढाई रुपया

●

मुद्रक :
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५५८९–१६

प्र का श की य

'समग्र ग्राम-सेवा की ओर' पुस्तक के पहले दो खण्ड हमारे पाठक पढ़ चुके हैं। उन दोनों खण्डों में श्री धीरेन्द्रभाई ने अपने बीस साल के ग्राम-सेवा के अमूल्य अनुभव दिये थे। प्रस्तुत तीसरा खण्ड उसीके बाद की कड़ी है।

विश्व की राजनीति तथा अर्थनीति में बहुत परिवर्तन हो चुका है, परन्तु भारत की ग्रामीण समस्याएँ आज भी वैसी ही बनी हुई हैं, जैसी पहले थीं। भूदान-आन्दोलन ग्राम-स्वराज्य की मंजिल तक पहुँच चुका है। उसकी सफलता के लिए सर्वांगीण दृष्टि से सेवा-योजना बनाये बिना काम न चलेगा।

हमें प्रसन्नता है कि प्रस्तुत पुस्तक में श्री धीरेन्द्रभाई ने अपने आज तक के प्रयोग, परिणाम और सुझाव देकर इसे अद्यतन बना दिया है। ग्राम-सेवा के इच्छुक प्रत्येक भाई-बहन को इस पुस्तक से अवश्य ही प्रेरणा मिलेगी।

●

अनुक्रम

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

o

समग्र ग्राम-सेवा की ओर

•

तीसरा खण्ड

•

प्रयोग - परिणाम - सुझाव

सिंहावलोकन

: १ :

अभय-आश्रम, बलरामपुर
१६-५-'५७

प्रिय आशा बहन,

१५ साल बीत गये। सन् '४२ के जेल-प्रवास से ग्राम-सेवा की आखिरी कहानी लिख भेजी थी। पिछले १५ सालों में देश और दुनिया में इतने अधिक परिवर्तन हो गये कि ऐसा लगता है, मानो सैकड़ों वर्ष बीत गये। देश आजाद हुआ। लोगों ने बड़ी धूमधाम से आजादी की खुशियाँ मनायीं। फिर कुछ दिन इसी खुशी से मस्त रहे। उसके बाद लोग एक-दूसरे की शिकायत करने लगे, जैसे किसी हारी हुई टीम के खिलाड़ी किया करते हैं।

देखते-देखते भारत के आसपास के देशों में भी आजादी की लहर उठी। सारी एशिया में नव-जीवन की नव-चेतना का संचार हुआ और चारों तरफ राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं की धूम मची। वह धूम आज भी मची हुई है।

एशिया में नवचेतना

एशिया के देशों की आजादी से पश्चिमी देशों के लिए शोषण का अवसर घटता चला गया। फलस्वरूप उनके जीवन-संघर्ष की समस्या उठ खड़ी हुई। इससे इन देशों की आपसी कशमकश बढ़ी। युद्ध तो समाप्त हुआ, पर इस कशमकश ने शान्ति स्थापित नहीं होने दी। युद्ध के दिनों में जो राष्ट्र मित्र-राष्ट्र थे, वे ही एक-दूसरे के साथ होड़ करने लगे। फिर भी सबको शान्ति की चाह थी। वह इसलिए नहीं कि वे शान्तिवादी या शान्ति-प्रिय हो गये थे, बल्कि इसलिए कि युद्ध की समाप्ति इतिहास की एक विशिष्ट घटना से हुई।

अणुबम का विस्फोट

१९४५ में जापान के हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराया गया, जिससे पलभर में वे दोनों नगर ध्वस्त हो गये। इसे देखकर सारा विश्व स्तम्भित हो उठा। वह किंकर्तव्यविमूढ हो गया और इसी किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में युद्ध की समाप्ति हुई। यह बात तो इतिहास ही बतायेगा कि वस्तुतः युद्ध की समाप्ति हुई या युद्ध स्थगित हुआ। लेकिन इस घटना ने समस्त मानव-समाज की विचारधारा तथा इतिहास की दिशा ही बदल दी। १९४५ की इस घटना से पहले का सारा इतिहास युद्ध का ही इतिहास रहा। वीर-गाथा इस इतिहास की एक मुख्य सम्पत्ति मानी जाती थी। इतना ही नहीं, मानव-समाज के काव्य और महाकाव्य भी युद्ध-केन्द्रित ही रहे हैं। अपनी रामायण और महाभारत को लें, चाहे ईरान की रुस्तम और सोहराब की कहानी ले या यूनान और इटली की पुराण-कथा लें, सबमें आदि से अन्त तक युद्ध की ही कहानी भरी पड़ी है।

अणु-शक्ति के आविष्कार ने तथा हिरोशिमा और नागासाकी के अनुभव ने मानव के नेत्रों के समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी है कि भविष्य का इतिहास युद्ध का नहीं, शान्ति का ही होगा। अगर ऐसा नहीं हुआ, तो सम्पूर्ण सृष्टि इतिहास की विडम्बना से ही मुक्त हो जायगी। यही कारण है कि १९४५ से १२ साल का जो यह युग बीत गया, इसका इतिहास समस्त संसार द्वारा शान्ति की निष्फल खोज का इतिहास हुआ। निष्फल होने पर भी यह निष्क्रिय नहीं है। चिन्तन जारी है, उसके साथ-साथ युद्ध का खतरा भी अपनी जगह पर कायम है।

आज जब हम नयी क्रान्ति और नयी शान्ति की बातें करते हैं, जब लोगों की क्रान्ति में निहित शान्ति और शान्ति में क्रान्ति की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हैं, तो देहाती लोग हमसे पूछते हैं कि क्या कभी हमारे बाप-दादों ने ऐसा किया था, जो आप इस तरह की बात करते हैं? और विद्वज्जन हमसे इतिहास की नजीर माँगते हैं। वे पूछते हैं कि इतिहास के सन्दर्भ में इस विचार का स्थान कहाँ है? वे भूल जाते हैं कि

बाप-दादों ने जिस पृष्ठभूमि में अपना जीवन-यापन किया था, वह पृष्ठभूमि सम्पूर्ण बदल गयी है और विज्ञान ने पुराने इतिहास को बदलकर नये इतिहास के निर्माण की ऐतिहासिक आवश्यकता उत्पन्न कर दी है।

यह मैंने थोड़े में आज की स्थिति का सिंहावलोकन किया। इस इतिहास को ठीक बनाने के लिए बापू ने हमें किस-किस काम का इशारा किया, उस पर अब हमें नजर डालनी चाहिए। तुम तो उन दिनों सेवाग्राम की जगह-जमीन, बच्चा-कच्चा अगोरे माँ बनी बाहर ही बैठी रही। इसलिए देश और दुनिया की सारी हलचलों को प्रत्यक्ष देखती रही। तुम्हें मालूम ही है कि किस हालत में बापू जेल से छूट आये।

सेवाग्राम में नेताओं का जमघट

बापू के एक महीने बाद मैं भी जेल से छूटकर बाहर आया। बाहर आते ही बीमार हालत में सेवाग्राम पहुँचा। आराम करने के लिए उन्होंने जब मुझे एक महीने के लिए रोक लिया, तो तुम्हारे ही मकान पर ठहरने का मुझे सौभाग्य मिला। उन दिनों देशभर के जेल से छूटे नेताओं के पास कोई काम था नहीं। बापू के पास सबका जमघट लगा रहता था। तुम लोगों के स्नेहभरे आतिथ्य के कारण सबका जमाव तुम्हारे यहाँ ही होने से मुझे सीखने और समझने का बड़ा मौका मिला, क्योंकि हमेशा गाँव के कोने में बैठकर सेवा करने के कारण पहले कभी इतने लोगों का सत्संग नहीं मिला था। सच तो यह है कि उस समय तुम्हारे यहाँ मैंने जो दो मास बिताये, वे मेरे जीवन की सबसे बड़ी पूँजी हैं। नायकमजी के और तुम्हारे स्नेह के साथ-साथ 'मितु' का प्यार भूलने की वस्तु नहीं है। वह तो अपने-आपमें एक बड़ी सम्पत्ति है ही। लेकिन जो बात आज मैं कहना चाहता हूँ, वह यह है कि उन्हीं दो महीनों में मुझे बापू की क्रान्ति का प्रत्यक्ष दर्शन मिला और मेरे सामने यह स्पष्ट हुआ कि हम किसलिए हैं और हमारे मार्फत बापू करना क्या चाहते हैं।

उससे पहले मैं इतना ही समझता था कि देश को आजाद करने के लिए गाँव-गाँव में जन-सम्पर्क करना है और जो कुछ करना है, उसे

एकाग्र और शाश्वत रूप में करना है। ग्राम-सेवा के अनुभव के कारण समाज के शोषण का कुछ धूमिल दर्शन अवश्य हुआ था। पर यह सारा दर्शन और सारा विचार अत्यन्त अस्पष्ट था। न तो कोई स्पष्ट मार्ग ही दीखता था और न उसकी खोज के लिए कोई बाहोश चेष्टा ही की थी। काम के दौरान में सहज रूप से जो कुछ छिटपुट विचार आ जाते थे, उन्हींके आधार पर कुछ चिन्तन हो जाता था।

शोषण का धूमिल दर्शन

'४१-'४२ के पत्रों में मैंने 'भलमनई' और 'चमार-सियार' रूपी दो वर्गों के परस्पर व्यवहार का वर्णन किया था। उसीसे शोषण के स्वरूप का ध्यान किस तरह आया और मेरी भावनाएँ तथा सहानुभूति किस प्रकार इन 'चमार सियार' लोगों की ओर बढ़ी, यह भी मैं बता चुका हूँ। उन्हीं लोगों के घरों में मेहमान बनने के कारण उनके साथ बातें करते हुए उनके काम के स्थान पर चले जाना और काम में उनके साथ शामिल हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ सहज रूप से विकसित होती गयीं। इन प्रवृत्तियों के पीछे उन दिनों में 'श्रम प्रतिष्ठा' या 'श्रममूलक समाज-रचना' के विचार की कोई बुनियाद नहीं थी। मानो भगवान् नेपथ्य में ही मेरे भीतर इन विचारों की नींव डाल रहे थे। बाद में रणीवाँ में मैं किस प्रकार श्रम का आग्रह रखता रहा, उसकी भी कहानी लिख चुका हूँ। यद्यपि उस समय श्रम की अनिवार्य आवश्यकता महसूस करता था, फिर भी उस समय तक श्रम-आधारित व्यवस्थित समाज-रचना की कल्पना नहीं उठी थी।

श्रम-प्रतिष्ठा की पूर्वभूमिका

जेल से छूटने के बाद तुम लोगों के साथ जो दो महीने बिताये, इसी बीच मुझे एक नयी दृष्टि मिली और शोषण-मुक्त तथा श्रेणीहीन समाज का मानो स्पष्ट चित्र मेरी आँखों के सामने आ गया। यह सब किस प्रकार हुआ, इसकी कहानी फिर किसी दिन लिखूँगा। ● ● ●

समाधान की झलक

: २ :

अभय-आश्रम, बलरामपुर
१७-५-'५७

सन् १९४१ में मैं आगरा सेंट्रल जेल में नजरबन्द था। मेरी बैरक में दो-तीन भाइयों के सिवा बाकी सब कम्युनिस्ट जवान थे। उनसे मेरा अच्छा स्नेह-सम्बन्ध हो गया था। वे सब मुझे 'दादा' कहकर पुकारते थे। उन्हीं दिनों मैं तुम्हारे पास अपनी ग्राम-सेवा के अनुभव लिख भेजता था। उन पत्रों को हमारे कम्युनिस्ट साथी पढ़ा करते थे। मेरा 'भलमनई' वाला विचार वे बहुत पसन्द करते थे।

कम्युनिस्टों से सम्पर्क

मेरी बातचीत से कम्युनिस्ट भाइयों को ऐसा लगता था कि मैं उनके साथ हो सकूँगा। अतः वे अपना साहित्य पढ़ने का मुझसे आग्रह करते रहते थे। लेकिन तुम्हें मालूम ही है कि पढ़ने-लिखने से मेरा कभी वास्ता रहा नहीं। मैं उनकी किताबें ले तो लेता था, पर दो-चार पन्नों से अधिक पढ़ नहीं पाता था। किन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके विचारों में दिलचस्पी आने लगी और गपशप में मैंने उनसे सारा विचार जानने की कोशिश भी की। वे सब मुझे बड़े भले भी लगते थे। लेकिन उनमें कहीं कुछ ऐसी बातें थीं, जिनसे उनके सिद्धान्त मेरे दिल में जमते नहीं थे। दूसरों को अपने विचार समझाने के उनके तौर-तरीके भी मुझे पसन्द नहीं थे। बाद में सन् '४२ का आन्दोलन शुरू होने पर जब फिर से मैं नजरबन्द हुआ और इलाहाबाद सेण्ट्रल जेल में पहुँचा, तो वहाँ के कुछ कम्युनिस्टों से मेरा परिचय हुआ। ढाई साल में धीरे-धीरे मैंने उनकी पाँच-सात किताबें भी पढ़ डालीं। उन किताबों से कार्ल मार्क्स के दार्शनिक विश्लेषण में मुझे कुछ सार तो मालूम हुआ, परन्तु ऐसा लगा कि उनका समाधान अधूरा-

सा ही है। तात्कालिक विषम परिस्थिति के निराकरण का उन्होंने एक सामयिक-सा हल मात्र निकाला है।

कम्युनिस्ट-विचार में कमी

कम्युनिस्टों का जो थोड़ा-सा साहित्य मैंने पढ़ा, उसमें मुझे एक और कमी महसूस हुई। मुझे ऐसा लगा कि उनके विचार तर्कपूर्ण तो हैं, लेकिन उनके पीछे मानव-संस्कृति की बुनियाद का अभाव है। उनमें मानवीय भावनाओं का निरादर है, यद्यपि मानव-सन्ताप का निराकरण ही उनके दर्शन का एकमात्र आधार है। इन कारणों से मेरा आकर्षण इनके विचारों की ओर से घटता चला गया। वस्तुतः उस समय मुझमें इतनी वैचारिक क्षमता नहीं थी, जिससे मैं मार्क्सवादी दर्शन का ठीक से विश्लेषण करता, उस पर विचार करता और उसके फलस्वरूप उसे अग्राह्य मानता। लेकिन स्पष्ट वैचारिक भूमिका न होते हुए भी मेरा आकर्षण सहज ही हट गया। तुम अगर पूछोगी, तो मैं उसका कोई कारण नहीं बता सकूँगा। यह बात मैंने इसीलिए लिखी है कि यदि तुम लोग तात्त्विक बहस करना चाहो, तो मैं उसके लिए असमर्थ हूँ; यह बात तुम्हें मालूम हो जाय। सच तो यह है कि मनुष्य की जीवनधारा के निर्णय के पीछे हमेशा तर्क ही नहीं रहता। उसके पीछे स्वभाव, स्वधर्म तथा संस्कृति भी काम करती है। मनुष्य तर्क इनकी खोज में करता है। यह अवश्य है कि कभी तर्क से किसी का अन्तर्निहित स्वभाव प्रस्फुटित होता है और कभी कोई स्वभाव से ही तर्क करता है। मेरे जीवन में तर्क से स्वभाव ही मुख्य स्थान रखता आया है, यह सब तुम जानती ही हो। हालाँकि आजकल लोग तर्क के कारण ही मेरे तरफ आकर्षित होते हैं। तो कम्युनिस्टों के विचार के प्रति अत्यन्त आकर्षण होने के बावजूद मैं जो उससे विमुख हुआ, उसका कारण मेरा स्वभाव और संस्कृति ही है, ऐसा मानना चाहिए।

इसी समय से मेरे भीतर विचार-मन्थन जाग्रत हुआ। मैं सोचने लगा कि ये लोग कहते तो ठीक हैं। समाज की सम्पत्ति का निर्माण करने में जो लोग खून-पसीना एक करते हैं, उन्हें दोनों जून खाने का साधन नहीं

और जो सम्पत्ति के उत्पादन में एक बूँद भी पसीना नहीं बहाते, वे मौज करते हैं। इस अन्यायपूर्ण और अनुचित स्थिति का निराकरण होना चाहिए। इतना ही नहीं, सामाजिक प्रतिष्ठा भी उलटी है। जो लोग कमाकर दुनिया को खिलाते हैं, वे छोटे माने जाते हैं और जो उनके कन्धे पर बैठकर आराम करते हैं, वे भद्र लोग—'भलमनई'—हैं। यह स्थिति कहाँ तक उचित है ? इसके साथ-साथ मैं यह भी सोचता था कि अगर इन लोगों के विचार के पीछे सांस्कृतिक भूमिका या मानवीय भावना नहीं है, तो किस विचार के आधार पर ऐसी हास्यास्पद परिस्थिति का निराकरण किया जा सकता है ! मैं यह सब सोचता रहा, लेकिन मन को किसी भी प्रकार समाधान नहीं मिला। चिन्तन के दौरान में कुछ थोड़ा विचार अवश्य कर लेता था, जिसकी झलक मेरे सन् '४२ वाले पत्रों में तुम्हें मिलती होगी।

तीव्र विचार-मन्थन

ऐसी उधेड़बुनवाली मानसिक स्थिति में सन् '४५ में जेल से निकला। मेरे सेवाग्राम पहुँचने के कुछ ही दिन पहले से बापू कार्यकर्ताओं के बीच रचनात्मक कार्य के वर्तमान स्वरूप तथा भावी परिकल्पना पर चर्चा कर रहे थे। चरखा-संघ के नव-संस्करण पर सात दिनों तक बापू-जाजू संवाद हो चुका था। कार्यकर्ताओं में उसकी बड़ी चर्चा थी। जिस दिशा में मेरी मानसिक उथल-पुथल चल रही थी, उसी दिशा में बापू के विवेचन की बात सुनकर मुझे बड़ी राहत मिली। चिन्तन के लिए एक दिशा मिल गयी। उन्होंने कहा कि "अंग्रेज जा रहे हैं। शायद हम जितनी जल्दी सोच रहे हैं, उससे भी जल्दी वे चले जायँ। अब हम सबको इस श्रद्धा का दर्शन करना है कि चरखा शोषण-निराकरण और अहिंसक समाज-स्थापना का साधन है।" बापू की ये सब बातें मानो आँखों के सामने एक नयी ज्योति प्रकट कर रही थीं। उन्होंने तालीमी संघ के सामने कहा कि "गर्भ से मृत्यु तक तालीम का क्षेत्र हो और नयी तालीम में युग-युग की समस्याओं के समाधान की शक्ति निहित रहे।" कस्तूरबा-ट्रस्ट के सदस्यों के सामने

बापू की क्रांतिकारी विचारधारा

उन्होंने लोकतन्त्र की नयी तथा क्रांतिकारी व्याख्या पेश की तथा देश के सामने समग्र ग्राम-सेवा का सर्वांगीण एवं बुनियादी कार्यक्रम रखा और उसके लिए सात लाख ऐसे नौजवानों का आह्वान किया, जो अपने श्रम से स्वावलम्बी बनकर सेवा कर सकें। बापू की इन बातों ने हमारे सामने एक नये दर्शन का द्वार खोल दिया।

बापू के समग्र ग्राम-सेवा के कार्यक्रम तथा उसके लिए शरीर-श्रम से गुजारा करनेवाले सात लाख जवानों के आह्वान का मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। ऐसा लगा, मानो जिस वस्तु की खोज आह्वान का असर मे मैं इतने दिनों से व्याकुल था, वह बिलकुल हाथ में आ गयी। वर्ग-विषमता का निराकरण होना चाहिए—यह बात मुझे ही नहीं, बल्कि सारे आधुनिक विचारों को मान्य थी। लेकिन वर्ग-संघर्ष से इसका निराकरण नहीं होगा, ऐसा मैं मानता था। जेल में मैं कम्युनिस्टों से बहस भी करता था। उनसे कहता था कि संघर्ष की प्रक्रिया यदि अनन्त है, यदि सामन्तवाद से संघर्ष कर पूँजीवाद उसे समाप्त करता है और पूँजीवाद से संघर्ष कर 'प्रोलेटेरियटवाद' उसे समाप्त करता है, तो वह कौन-सी वस्तु होगी, जो इस प्रोलेटेरियटवाद से संघर्ष कर इसे समाप्त करेगी ?

बापू ने शोषणहीन समाज कायम करने के लिए नयी क्रान्ति में नये यादवों का जो आह्वान किया और उनके लिए जो यह शर्त रखी कि वे अपने पुरुषार्थ से स्वावलम्बी बनकर श्रमिक-वर्ग में नयी विचार-दृष्टि विलीन हो जायँ, शोषण-निराकरण की उनकी इस विचारधारा ने एक नयी क्रांतिकारी दिशा खोल दी। वर्ग-संघर्ष नहीं, वर्ग-परिवर्तन ही वर्ग-भेद के निराकरण का सही मार्ग है, यह स्पष्ट हो गया। जेल मे कम्युनिस्ट मित्रों से तर्क करते समय मैं उन्हें बताता था कि बेहोश शरीर-श्रमिकों का शोषण ये बुर्जुआ-वर्गवाले करते हैं। अतएव श्रमिकों को होश दिलाकर इन बुर्जुओं को खतम करने से उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आखिर होश कौन दिलायेगा ?

बाहोश-वर्ग में से ही आप जैसे नेता उनमें असन्तोष फैलाकर दूसरे बुर्जुआ का खातमा करेंगे। फिर आप जैसे नेता लोग ही उनकी छाती पर बैठकर किसी न किसी बहाने उनका शोषण करते रहेंगे। तो आप लोग एक नये प्रकार के बुर्जुआ बनेंगे। इस बात का वे खण्डन करते थे और खूब तर्क-पूर्ण खण्डन करते थे। मैं उनका जवाब ठीक से नहीं दे पाता था। लेकिन मन में अपनी बात पर श्रद्धा कायम रहती थी। वर्ग-संघर्ष के पीछे मानव-संस्कृति की हत्या की जो कल्पना सामने आ जाती थी, उस कारण भी मेरी तबीयत उनकी दलीलें को स्वीकार करने में झिझकती थी। उन दिनों मेरे सामने वर्ग-निराकरण का दर्शन स्पष्ट नहीं था। आज जिस प्रकार हुजूर-मजूर के तत्त्व का विश्लेषण करता हूँ, उतना उन दिनों नहीं कर पाता था। लेकिन उस दिशा में दिमाग घूमता रहता था। चरखा-संघ के नव-संस्करण की बातचीत से निश्चित दिशा में विचार चलने लगा।

बापू की समग्र ग्राम-सेवा की परिकल्पना और उसके लिए नौजवानों के आवाहन के फलस्वरूप बहुत-से नौजवान इस काम के लिए अपना नाम भेजने लगे। ऐसा निर्णय हुआ कि इन जवानों का सेवाग्राम में एक शिविर चलाया जाय, जिसमें उन्हें नव-संस्करण के तत्त्व समझाये जा सकें। उस शिविर में मुझे भी बोलना पड़ा। उन दिनों

सेवाग्राम का शिविर

श्रेणी-विषमता की समस्या मेरे दिमाग में भरपूर थी। बीस साल पहले फैजाबाद जिले के देहातों में घूमते समय भलमनई यानी बाबू लोगों और 'चमार-सियार' यानी मजदूर लोगों के आपसी सम्बन्ध के कारण दिमाग की जो परेशानी थी, इतने दिनों बाद उसका समाधान पाकर मैं प्रफुल्लित था। ऐसी मनोदशा में मैंने समाज के शोषण के स्वरूप का जो विश्लेषण किया, उससे सेवाग्राम के लोग बहुत प्रभावित हुए। जो लोग मुझे जानते थे, वे मेरे मुँह से उन बातों को सुनकर कुछ चकित भी हुए, क्योंकि पढ़ने-लिखने से मेरा सम्बन्ध नहीं है, यह उन्हें मालूम था। मैंने

कम्युनिस्टों के दर्शन की असारता का जो विवेचन किया, उसे सुनने के लिए वे तैयार नहीं थे। 'हुजूर' और 'मजूर' शब्द उस शिविर में ही निकले। कुछ साथियों पर मेरी बातों का उलटा असर हुआ। वे कहने लगे कि यह गांधीवाद नहीं है। कुछ लोग तो यह भी कहने लगे कि मालूम होता है, जेल में धीरेन भाई पर कम्युनिस्टों का असर हुआ है और अब तो वे प्रच्छन्न कम्युनिस्ट जैसे लगते हैं। ● ● ●

घरौंव का केन्द्र

श्रमभारती, खादीग्राम
१७-७-'५७

सेवाग्राम में डेढ़ महीने रहते समय जैसी वैचारिक स्पष्टता हुई, उसका संक्षिप्त विवरण पिछले पत्र में लिखा था। बापू के नये विचार को लेकर मैं अपने प्रदेश में लौटा। गांधी आश्रम के साथियों से उसकी चर्चा की। उन्हें विचार तो ठीक लगा, लेकिन बापू की सलाह के अनुसार खादी-काम में आमूल परिवर्तन को उन्होंने कुछ अव्यावहारिक माना। विचित्र भाई ने मुझसे कहा कि मैं यह विचार आश्रम के सभी कार्यकर्ताओं से कहूँ और इसके लिए आश्रम के केन्द्रों में जाकर चर्चा करूँ। तदनुसार मैंने एक महीने तक आश्रम के केन्द्रों में घूमकर चरखा-संघ के नव-संस्करण के बुनियादी तत्वों को समझाने की कोशिश की। आश्रम के भाइयों को मैंने समझाया कि बापू के बताये हुए तरीके से खादी का काम करने पर ही 'चरखा अहिंसा का प्रतीक' सिद्ध हो सकेगा। इस प्रकार से हम जनता में प्रवेश कर शोषण-निराकरण का कार्यक्रम अगर नहीं चलायेंगे, तो बापू के कहे अनुसार भले ही अंग्रेज जल्दी चले जायँ और देश में राष्ट्रीय सरकार बन जाय; लेकिन वह सरकार शोषक-वर्ग के हाथ में ही चली जायगी और वह निहित स्वार्थ का ही संरक्षण करेगी। फिर शोषण-निराकरण का कार्यक्रम दूर की चीज बन जायगा। हम यदि उस कार्यक्रम को चलाना भी चाहेंगे, तो वह कठिन होगा। इतिहास कहता है कि विदेशी सरकार किसी देश के नागरिकों पर जितना दमन-चक्र चला सकती है, स्वदेशी सरकार अपने विरोधियों का उससे अधिक दमन कर सकती है; क्योंकि जहाँ विदेशी राज्य में देश की सारी जनता कम-से-कम मन से विरोध में शामिल रहती है, वहाँ स्वदेशी राज्य में देश

का वह वर्ग, जिसका संरक्षण सरकार करती है, उसके दमन-कार्य में साथ देता है।

इस प्रकार से मैं महीनेभर प्रचार-कार्य करता रहा। लेकिन आश्रम ने यह निर्णय किया कि मैं अलग से आश्रम के ही मातहत कहीं बैठकर समग्र ग्राम-सेवा का प्रयोग करूँ और आश्रम अपना काम पूर्ववत् चलाता रहे।

ग्राम-सेवा का प्रयोग

समग्र ग्राम-सेवा के काम में जो लोग मेरे साथी बनें, उनके लिए यह आवश्यक था कि वे इस विचार को स्वीकार करें और उसके लिए कुछ त्याग करें। श्रम-आधारित जीवन के लिए उनकी तैयारी होना भी जरूरी था। इसके लिए मैंने आश्रम के सभी कार्यकर्ताओं के नाम एक आवाहन-पत्र लिखा, जिसे विचित्र भाई ने अपने सिफारिशी पत्र के साथ सभी कार्यकर्ताओं के पास भिजवा दिया। उसमें मैंने कार्यकर्ताओं से यह माँग की थी कि जो लोग समग्र ग्राम-सेवा के काम में मेरा साथ देना चाहें, वे आश्रम के वेतन-मान से २५ प्रतिशत कम वेतन पर अपना गुजारा कर इस काम में आगे बढ़ें। मेरे आवाहन पर करणभाई, बद्रीभाई, प्रयागदत्त भाई, हरिराम भाई आदि कुछ साथी इस काम के लिए आगे आये। आश्रम ने उन्हें अपनी पुरानी जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया और वे मेरे साथ आ गये।

उस समय रणीवाँ-आश्रम सरकार द्वारा जब्त था। इसलिए यह प्रश्न हुआ कि इन साथियों को लेकर मैं किस स्थान पर बैठूँ। बनारस के पास एक स्थान का सुझाव आया कि जब तक रणीवाँ-आश्रम सरकार द्वारा वापस न मिले, तब तक वहाँ रहकर हम नये विचार से काम करें। तदनुसार बनारस जिले के साथियों की एक बैठक गांधी आश्रम, काशी में रखी; क्योंकि मैं चाहता था कि नया काम स्थानीय मदद से हो। लेकिन ऐयरभाई ने मुझे यह खबर भिजवायी कि बनारस के अधिकारी मुझे जिले में प्रवेश करने नहीं देंगे। मैंने कहा कि "अधिक-से-अधिक वे मुझे गिरफ्तार ही तो करेंगे। और क्या करेंगे?" मैं चलने को तैयार हो रहा था।

इस पर इलाहाबाद के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने मुझसे कहा कि इस समय कांग्रेस के सभी लोग रचनात्मक काम करना चाहते हैं। बापू भी अगले मोर्चे की तैयारी में देश को समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम दे रहे हैं। ऐसे समय आपको खामख्वाह जेल मे जाकर नहीं बैठना चाहिए। उन्होने आपस मे सलाह कर इलाहाबाद के पास, बरॉव नामक स्थान तय कर दिया, जहॉ बैठकर मैं बीच के दिनों में काम करूँ। बरॉव में काम जमानेवालों में वहॉ के कुँवर साहब तथा इलाहाबाद के डाक्टर कैलासनाथ काटजू, लालबहादुर शास्त्री तथा श्रीमती पूर्णिमा बनर्जी मुख्य थे। उनका कहना था कि जब तक मैं वहॉ रहूँ, तब तक मै वहॉ का आश्रम जमा दूँ। बाद मे वे लोग उसे चलाते रहे। देश को अपेक्षा से बहुत पहले ही स्वराज्य मिल गया और सभी बड़े नेता राज्य-व्यवस्था मे चले गये। फलस्वरुप मेरे बरॉव से हट जाने के बाद वह केन्द्र नहीं चल सका।

बरॉव में केन्द्र खुला

समग्र ग्राम-सेवा की बुनियाद तालीम ही हो सकती है, क्योंकि ग्राम-सेवा का असली उद्देश्य ग्रामीणों की सेवा है। सन् १९४१ मे आगरा जेल से सरकारी ग्राम-सुधार-विभाग के पंचायतघरों की योजना पर टिप्पणी करते हुए मैंने तुम्हें लिखा था कि पहले पच बनेगा, बाद मे पचायत बन सकेगी और पचायत के बनने पर ही पंचायतघरों की आवश्यकता होती है। शुरू से ही मेरी मान्यता यह रही है कि ग्राम-निर्माण ग्रामवासी के निर्माण से ही हो सकता है। इसलिए सारी सेवा तालीम के माध्यम से ही सम्भव है। तदनुसार मैंने बरॉव में बुनियादी शिक्षा की व्यापक योजना बनायी।

शिक्षा का प्रधान उपादान शिक्षक ही होता है। इसलिए पहले मैंने अपने साथियों को शिक्षक की ट्रेनिंग देने की बात सोची। तदनुसार उनके बच्चों तथा उस गॉव के कुछ और बच्चों को शिक्षा देने का काम हाथ मे लिया, जिससे साथियों को नयी तालीम की पद्धति का ज्ञान करा सकूँ। नयी तालीम के काम में मेरा भी कुछ अभ्यास नहीं था। फिर भी विचार और दृष्टि स्पष्ट होने के कारण मै उनका मार्ग-दर्शन कर लेता था।

इस सिलसिले में मैंने महसूस किया कि शिक्षकों को नियमित रूप से कुछ शिक्षा-शास्त्र का अभ्यास कराना भी आवश्यक है। अतः करण के साथ सभी साथियों को एक बार तुम्हारे पास सेवाग्राम भेज देने का विचार किया। अपने साथ एक भाई को रखकर बाक़ी सबको वहाँ भेज दिया। मैं उनकी पत्नियों और बच्चों के साथ बरॉव रह गया।

मैंने पहले ही कहा है कि इस बार बापू से मुझे सबसे बड़ी प्रेरणा वर्ग-परिवर्तन की दिशा में मिली थी। इसीलिए हमने निश्चय किया कि बरॉव के कुँवर साहब से सामान लेकर हम लोग अपना मकान अपने हाथ से बना लें। सब भाई-बहनों ने मिलकर ईंटें पाथना शुरू किया और मकान के लायक आवश्यक ईंटें पाथ लीं। मकान में राज-मिस्त्री, बढ़ई और कुछ मजदूर तो अवश्य लगाये, परन्तु बाकी सारा काम अपने हाथों किया। इससे सब लोगों का उत्साह खूब बढ़ा। साथ-साथ सबका आत्म-विश्वास भी बढ़ा। कुछ दिनों के बाद कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की कारामुक्ति हुई। उसके कुछ दिन बाद रणीवाँ-आश्रम हमें वापस मिल गया। पूर्वयोजना के अनुसार बरॉव के काम को स्थानीय लोगों के हाथ सौंपकर हम लोग रणीवाँ चले गये।

रणीवाँ को प्रस्थान

रणीवाँ जाकर देखा कि पुलिस ने उसे बिल्कुल उजाड़ दिया है। कुछ मकान इधर-उधर खड़े थे। हमने उन्हींकी मरम्मत कर उन्हें साफ कर लिया और आसपास के गाँवों का पुनर्संगठन करने की कोशिश करने लगे। रणीवाँ में यह सुविधा थी कि हम वहाँ आन्दोलन से पहले छह साल काम कर चुके थे। लोगों से स्नेह-सम्पर्क था। कुछ नौजवान हमारे सम्पर्क में आकर जेल भी गये थे। मैं वहाँ के देहातों में घूमकर लोगों से मिला और मैंने उन नौजवानों से भी काम लेना शुरू किया। मेरी दृष्टि यह थी कि हम गाँव के स्वाभाविक नेतृत्व का विकास करके ग्राम-सेवा का काम करें। इस बारे में मैं १९४१ के पत्रों में भी तुम्हें काफी लिख चुका हूँ। मन में आया कि यह अच्छा अवसर है। हमने छह साल काम करके

यहाँ अनुकूल वातावरण बनाया है, कुछ स्थानीय नौजवानों को तैयार किया है। आश्रम जब्त होना तथा सबका जेल चला जाना—ऐसी घटना थी, जिससे हमारी ओर आसपास की जनता की सहानुभूति काफी बढ़ी हुई थी। ऐसे समय यदि हम यहाँ की जनता से कहें कि अब आप लोग यहाँ का काम चलायें और हमें छुट्टी दें, तो यह एक बहुत बड़ा प्रयोग होगा।

नेतृत्व-स्वावलम्बन का प्रश्न

बापू ने जब सात लाख गाँवों के लिए सात लाख नौजवानों की माँग की थी, तो मैं अपने साथियों से कहा करता था कि सात लाख नौजवान दूसरे गाँव में जाकर काम करें, इसके बदले हम यह क्यों न कहें कि सात लाख गाँवों में सात लाख नौजवान तैयार होने चाहिए। तभी हमारा भावी आन्दोलन जनता के स्वाभाविक नेतृत्व से चल सकेगा। आखिर स्वावलम्बन का मतलब क्या? अगर हमारे कार्यकर्ता किसी गाँव में रूई की गाँठ लेकर बैठें, लोगों को चरखा चलाना सिखायें, कुछ को बुनाई सिखा दें और फिर सूत कतवा और कपड़ा बुनवाकर सबको कपड़ा दे दे, जिससे गाँव के किसी आदमी को बाहर से कपड़ा न लाना पड़े, तो क्या हम उस गाँव को स्वावलम्बी कह सकते हैं? गाँव के सब लोग अपना अन्न-वस्त्र पैदा कर लें, इतने मात्र से ग्राम-स्वावलम्बन नहीं हो सकता। अतः मैं अपने साथियों से कहा करता था कि जब तक गाँव में नेतृत्व-स्वावलम्बन और व्यवस्था-स्वावलम्बन नहीं होगा, तब तक गाँव परमुखापेक्षी ही बना रहेगा। अतएव अपने विचार के अनुसार प्रत्यक्ष प्रयोग का अवसर उपस्थित होने पर मैंने इस दिशा में गम्भीर विचार करना शुरू किया।

● ● ●

सेवापुरी और रणीवाँ : ४ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१९-७-'५७

इलाहाबाद जेल में मैंने खादी-काम के द्वारा समग्र ग्राम-सेवा की एक दशवर्षीय योजना बनायी थी। उसे सब लोगों ने पसन्द भी किया था। मैं चाहता था कि उस प्रकार का कोई प्रयोग करूँ और सेवक-प्रशिक्षण के लिए कोई विद्यालय कायम करूँ, जिससे आसपास के देहातों में सेवा का प्रत्यक्ष काम हो सके। मैंने उसकी एक योजना बना डाली और उसे बापू को दिखलाया। बापू ने उसे बहुत पसन्द किया और उसके लिए मुझे आशीर्वाद भी दिया। गांधी आश्रम ने चालू खर्च आश्रम-कोष से देना स्वीकार किया। लेकिन शुरुआत में मकान, जमीन आदि के लिए पूँजी-खर्च की शक्ति उसमें नहीं थी। बापू ने यह खर्च कहीं से देने को कहा।

सेवापुरी का चुनाव

इससे प्रोत्साहित होकर उत्तर प्रदेश के सारे कार्यकर्ताओं के सामने मैंने अपनी योजना रखी। साथ-ही-साथ मैंने यह भी कहा कि जो जिला मुझे ५० एकड़ जमीन और ५० हजार रुपया देगा, उस जिले में मैं अपना केन्द्र खोलूँगा। बनारस और कानपुर जिलों के मित्रों ने मेरी शर्त स्वीकार कर मुझे आमंत्रित किया। बनारस से मेरा पुराना संबंध होने के कारण मेरा सहज झुकाव उसी जिले की ओर हुआ और मैंने सेवापुरी का क्षेत्र चुना।

सेवापुरी की जमीन ऊसर-जंगल थी। उस पर मकान आदि बनाने के लिए मेरे पास पैसे की कमी थी। तुम कहोगी कि जब बापू ने मकान आदि के लिए पूरा खर्च देना स्वीकार किया था, तो धन का अभाव कैसे हुआ?

अभाव इसलिए था कि मैं शुरू से ही बाहर से पैसा लाकर आश्रम बनाने का पक्षपाती नहीं था। बनारस जिले के लोग चन्दा बटोरने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन तब तक वे कुछ नहीं कर पाये थे। मेरा विचार था कि पहले स्थानीय साधन से कुछ पैसा खड़ा कर दूँ, फिर बापू का धन खर्च करूँ।

स्थानीय साधनों का प्रश्न

वहाँ मिली हुई जमीन पर आश्रम का मकान न बनाने का एक कारण और भी था। शुरू से ही मेरी दृष्टि यह रही है कि अगर ग्राम-सेवा के लिए ग्रामवासियों से स्नेह-सम्पर्क करना है, तो पहले गाँव के अन्दर उन्हीके दिये हुए स्थानों में रहकर उनके साथ सम्पर्क जोड़ा जाय और धीरे-धीरे आश्रम खड़ा किया जाय। आश्रम बनाने में भी शुरू-शुरू में यह आवश्यक है कि ग्रामीण जनता से सामान माँगकर झोपड़ियाँ खड़ी की जायँ और फिर आश्रम-निर्माण का काम धीरे-धीरे बढ़ाया जाय। ऐसा न करने से ग्रामीण जनता आश्रमवासियों को स्वजन नहीं समझ पाती। आश्रम के आन्तरिक कार्यक्रम की वृद्धि तो होती है, पर ग्रामीण जनता के हृदय में उनका प्रवेश नहीं हो पाता। रणीवाँ-केन्द्र भी उसी तरह बना था। फलस्वरूप वह केन्द्र आज उसी गाँव के युवकों द्वारा ही संचालित हो रहा है और गाँव की जनता आज भी हमारे साथ कुटुम्बी जन जैसा ही व्यवहार करती है।

यद्यपि बापू से धन मिलने की स्वीकृति मिल गयी थी और बनारस के मित्रों ने भी कुछ देने का वादा किया था, फिर भी मैंने जिस प्रक्रिया से रणीवाँ का काम शुरू किया था, यहाँ भी उसी प्रक्रिया को अपनाया। मैं लालसिंह और दो साथियों के साथ वहाँ गया और गाँव के लोगों ने अपने घरों के जो हिस्से हमें दे दिये, उन्हींमें हम सब रहने लगे। सब लोग एक ही घर में नहीं रहते थे, बल्कि कई स्थानों में बँटकर रहते थे और उस क्षेत्र में सम्पर्क स्थापित करते थे।

सेवापुरी-आश्रम का श्रीगणेश

धीरे-धीरे जब लोगों का प्रेम बढ़ने लगा और हमें उनकी सहानुभूति प्राप्त होने लगी, तो हमने उनसे सामान माँगकर वहाँ की प्राप्त भूमि पर कुछ झोपड़ियाँ डाल दीं। इस तरह सेवापुरी-आश्रम का श्रीगणेश हुआ।

पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि रणीवाँ-आश्रम का पुनर्निर्माण स्थानीय लोगों के नेतृत्व और व्यवस्था में करना चाहिए, ऐसा मैं महसूस करता था। मैं सोचता था कि अगर ऐसा कर सकूँगा, तो समग्र ग्राम-सेवा तथा स्वराज्य का एक अच्छा प्रयोग हो जायगा। इस विचार से रणीवाँ तथा आसपास के कुछ मित्रों को मैंने बुलाया। मैंने उन्हें बताया कि बापू का कहना है कि अंग्रेज शायद जल्दी ही भारत से चले जायँ। लेकिन उनके चले जाने से ही स्वराज्य नहीं होता। स्वराज्य तब होता है, जब देश की जनता अपना काम अपने-आप ही चला ले। इस देश की जनता का मतलब है, देहाती जनता। इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान की तुलना करके मैंने उन्हें बताया कि जहाँ इंग्लैण्ड में १०० में ८९ व्यक्ति शहरों में बसते हैं, वहाँ हिन्दुस्तान में १०० में ८४ व्यक्ति देहातों में बसते हैं। तो जैसे इंग्लैण्ड एक शहरी देश है, वैसे हिन्दुस्तान एक देहाती देश है। आपका स्वराज्य तब होगा, जब आप लोग अपना काम अपने-आप ही चलायें। रणीवाँ-आश्रम आप ही लोगों का है। इसलिए इसे भी आपको ही चलाना चाहिए।

रणीवाँ का पुनर्निर्माण

ईश्वर की महिमा अपार है। जिन पण्डित ललताप्रसादजी ने मुझे आमन्त्रित कर अपने गाँव में बुलाया था, उनके मन में भी उन दिनों ऐसा ही विचार उठता था। वे कहने लगे कि मैंने तो यही निश्चय किया था कि इस बार धीरेन भाई आये, तो उनसे कह दूँगा कि अब बाहर से पैसा लाकर यहाँ का आश्रम न चलायें। इसी इलाके के लोगों से अनाज माँगकर उसे चलाना चाहिए। लेकिन मेरे प्रस्ताव के लिए वे भी प्रस्तुत नहीं थे। वे भी इतना ही सोचते थे कि बाहर से पैसा न लाया जाय। वे

स्वावलम्बन का विचार

इतना नहीं सोच पाये थे कि हम लोग कोई वहाँ न रहें और वहाँ का सारा काम उन्हें ही चलाना पड़े। किन्तु मेरा प्रस्ताव सुनकर उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। लेकिन वे इतना अवश्य चाहते थे कि भले ही हम सब साथियों को सेवापुरी भेज दें; परन्तु मैं खुद कुछ दिन वहाँ रहकर वहाँ के युवकों को प्रशिक्षित कर दूँ। ● ● ●

अंग्रेजों के जाने पर

: ५ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-२-'५८

रणीवाँ के नौजवानों में भाई रामलाल मिश्र उन दिनों गांधी आश्रम के कार्यकर्ता बन चुके थे और वे मेरठ के दफ्तर में काम करते थे। मैंने उनसे पूछा कि क्या वे वहाँ का काम छोड़कर मेरे प्रयोग में शामिल हो सकते हैं?

उन दिनों गांधी आश्रम का वेतन-मान अच्छा था। अवध के निम्न-मध्यम श्रेणी की हालत बहुत खराब थी। जिस परिवार में कोई आदमी बाहरी नौकरी नहीं करता था, उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। वैसी हालत में रामलाल के परिवार के सामने यह प्रस्ताव कठिन परीक्षा का था। एक तरफ मेरे प्रति प्रेम और दूसरी तरफ गरीबी में निश्चित मासिक आमदनी का त्याग। दो में से प्रेम को चुनना कठिन था। स्वतन्त्रता के संग्राम में नौकरी छोड़ना जितना कठिन था, उससे यह त्याग कठिन था। उन दिनों सरकारी या अर्ध-सरकारी संस्था में काम करना देश-द्रोह माना जाता था, तो पैसा छोड़ने पर बदले में कम-से-कम देश-भक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा तो मिल जाती थी। गांधी आश्रम का काम छोड़कर रणीवाँ के प्रयोग में शामिल होने में, बदले में ऐसा कुछ मिलने की सम्भावना नहीं थी, क्योंकि गांधी आश्रम का काम भी त्याग और देश-भक्ति का काम माना जाता था। आखिर रामलाल वह काम छोड़कर आ गया और विचित्रभाई ने तुरन्त उसे मुक्त कर दिया।

रणीवाँ में प्रयोग शुरू

रामलाल के आ जाने पर इस प्रयोग के लिए तीन-चार नौजवान और भी साथ हो लिये। उनकी मार्फत उस क्षेत्र का रचनात्मक काम

करने की योजना सोचने लगा। सबसे पहली आवश्यकता साधन की थी। आसपास के लोगों ने हमें रहने के लिए टूटे हुए मकान दिये। उनकी मरम्मत कर ली। उन्होंने खलिहानों से थोड़ा-थोड़ा गल्ला निकालकर भी आश्रम चलाने के लिए लालताप्रसादजी के हाथ में दे दिया। चार-पाँच नौजवानों की श्रद्धा तथा पंडित लालताप्रसाद की निष्ठा की पूँजी लेकर मैंने रणीवाँ का नया अध्याय शुरू किया। स्थानीय नेतृत्व, साधन तथा व्यवस्था से एक केन्द्र चलाने के अवसर से मुझे बड़ी खुशी हुई।

तालीम का काम ही ग्राम-निर्माण का करीब-करीब एकमात्र काम है और उसीके जरिये गाँव के सारे कार्यक्रम चल सकते हैं, यह मान्यता मेरी शुरू से ही रही है। लेकिन नयी तालीम की पद्धति की स्पष्ट धारणा इन नौजवानों में नहीं थी। उनमें उसकी योग्यता भी नहीं थी। उधर उस इलाके में शिक्षा की चाह बढ रही थी। यह देखकर मैंने उनसे एक हाईस्कूल खोलकर चलाने को कहा। उस स्कूल का नाम 'स्वावलम्बन विद्यालय' रखने के लिए कहा। स्वावलम्बन का अर्थ यह लगाया कि विद्यार्थी अपने उद्योग से कमाकर अपनी फीस अदा करें। मैंने समझा कि काम के साथ-साथ पढ़ाई चलेगी, तो धीरे-धीरे नयी तालीम का वातावरण बनेगा। साथ ही वहाँ के तरुण मित्रों को उसके लिए आवश्यक 'सिखाई' हासिल करायी जा सकेगी।

स्वावलम्बन-चालय

इस प्रकार सेवापुरी में बुनियादी शिक्षा का पूरा रूप और रणीवाँ में उसका अधूरा रूप लेकर प्रयोग में लग गया। इसी बीच विलायत से हिन्दुस्तान में 'कैबिनेट मिशन' आया और आम चुनाव के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश में फिर से कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना और मुझे फिर से फैजाबाद जिले की विकास-समिति का अध्यक्ष बनना पड़ा।

विकास-समिति का अध्यक्ष

कैबिनेट मिशन के रुख पर से देशवासियों को स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि अब स्वराज्य दूर नहीं है। गाँवों में भी अप्रत्यक्ष रूप से इसका भान

होने लगा। फलस्वरूप सरकारी विभागों के कर्मचारी १९३८ में मेरी बात जितनी सुनते थे, इस बार उससे अधिक सुनने लगे। इसलिए अपनी कल्पना के अनुसार ग्राम-विकास का काम करने का अधिक अवसर मिला।

को-आपरेटिव विभाग के बारे में १९३८ के मन्त्रिमण्डल के समय मेरा अनुभव अच्छा नहीं था। लेकिन इस बार सारा काम को-आपरेटिव के मार्फत चलाया जाय, इस विचार के आधार पर मैंने काम करना शुरू किया; क्योंकि पिछले दिनों के अनुभव से मैं मानने लगा था कि जब तक गाँव के लोग मिल-कर किसी काम को नहीं उठाते हैं, तब तक देहातों में कोई काम नहीं हो सकता। इस विचार से मैंने पंडित लालताप्रसाद तथा रामलाल को रणीवाँ के आसपास के गाँवों में सहयोग-समितियाँ बनाने की सलाह दी। उन दिनों जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर कण्ट्रोल रहने के कारण सहयोग-समितियों को काम भी काफी मिल गया, लेकिन क्रमशः मैंने यह देखा कि कुछ गाँवों के अलावा ये समितियाँ गाँव के किसी किस्म के उत्पादन के काम में दिलचस्पी नहीं लेतीं। मैं इसका कारण ढूँढ़ने लगा।

सहयोग-समितियाँ

मैंने देखा कि जितनी सहकारी समितियाँ बनी थीं, वे गाँवभर के लोगों की नहीं थीं। वे भी 'भलमनइयों' में से कुछ ऊपर के तबके के लोगों की चीज बनकर रह गयी थीं। इन समितियों के दिलचस्पी में कमी मुख्य लोग वे ही थे, जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के दलाल रहे थे। वे ही लोग आज भी सरकार की ओर से होनेवाले सारे कामों पर कब्जा कर लेते हैं और उसके जरिये अपनी स्थिति मजबूत करते हैं। इस स्थिति का और भी गहराई से अध्ययन करने के लिए मैं जिलेभर के देहातों में घूमने लगा। जितनी ही गहराई में गया, उतना ही मुझे लगा कि हम लोग सुधार का जो कुछ भी काम करते हैं, वह सब गाँव के शोषक तथा अत्याचारी-वर्ग को मज-बूत करने में ही लग जाता है। पुलिस और अधिकारी भी उसी वर्ग के

दिलचस्पी में कमी का कारण

होने के कारण अन्याय में उनका ही साथ देते हैं। कांग्रेस का राज्य था, मैं कांग्रेस का प्रमुख कार्यकर्ता था, मन्त्रिमंडल में तथा विधानसभा में सब मेरे मित्र थे, मेरे प्रति उन सबका आदर था, तत्कालीन मुख्य-मंत्री पन्तजी का मेरे प्रति विशेष स्नेह था; लेकिन देहाती अन्यायों का निराकरण करने में मैं असमर्थ था। बीच-बीच में डॉक्टर काटजू साहब तथा सरकार के दूसरे मित्रों से चर्चा करता, लेकिन कोई समाधान नहीं मिलता था। मैं सोचता था कि अभी तक पक्का स्वराज्य नहीं है, इसलिए अधिकारियों पर हमारा उतना दखल नहीं है। लेकिन एक-दो माह के भीतर ही पक्का स्वराज्य हो जाने के बाद भी परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ा। कोशिशें बहुत कीं, पर सब निष्फल रहीं।

देहाती जनता की मुसीबत

अंग्रेजी राज्य में कांग्रेस की ओर से हम लोग किसान और मजदूरों को न्याय दिलाने की कोशिश करते थे। उस कोशिश में अंग्रेजी सरकार हमारा दमन करती थी। फिर भी देहाती अन्यायों के प्रतिकार में हम जितनी मदद कर सकते थे, उतनी भी मदद आज हम अपने हाथ में राज्य प्राप्त करके भी नहीं कर पा रहे थे। इससे मुझे बड़ी ग्लानि होती थी। अंग्रेजी राज्य में देशभर में कांग्रेस कमेटियाँ थीं। गरीब जनता दौड़कर हमारे यहाँ आती थी। हम लोग जन-शक्ति का संगठन करके उसकी तकलीफों को दूर करने की कोशिश करते थे। हम लोग एक प्रकार से उस शोषित वर्ग के माँ बाप बन गये थे। लेकिन अंग्रेजों के हटते ही उनकी जगह पर हम पहुँच गये। वे ही कर्मचारी, वही कार्य-पद्धति और इस कारण वही परिस्थिति! मैंने देखा कि जो लोग देहातों में गरीब जनता पर अत्याचार करते थे और उसके निराकरण की कोशिश करने पर अधिकारियों से मिलकर हमीं पर दमन-चक्र चलाते थे, वे ही लोग अब कांग्रेस के सदस्य बनने लगे। मैंने देखा कि हमारे पुराने साथी अधिकारारूढ़ होकर जनता से पूर्वसम्पर्क खो रहे हैं और उनकी तकलीफों के प्रति उदासीन हो रहे हैं। इन तमाम कारणों से देहात की पीड़ित जनता एक प्रकार से असहाय

हो गयी। फलस्वरूप विदेशी राज्य से स्वदेशी राज्य में गरीब जनता को अधिक पीड़ित होना पड़ा। मैं अपनी असमर्थता देखकर सोचने लगा कि ऐसी हालत में इसमें रहकर क्या करूँ? निश्चिन्त होकर नयी तालीम के प्रयोग में लग जाऊँ, तो मेरी शक्ति का पूरा-पूरा सदुपयोग हो।

भाई केशवदेव मालवीय उन दिनों विकास-विभाग के पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी थे। यद्यपि डॉक्टर काटजू साहब उस विभाग के मन्त्री थे, फिर भी भाई केशवदेव ही उस काम को देखते थे। लखनऊ जाकर मैं उनसे मिला और उनसे अपनी मुक्ति चाही। उन्होंने कहा: "ग्राम-विकास के काम में आप ही लोग हमारी मदद नहीं करेंगे, तो हम इसे कैसे चलायेंगे? अब तक हम लोगों ने कांग्रेस कमेटियाँ चलायीं, आन्दोलन चलाया और अब जब रचनात्मक काम करने का मौका आया, तब आप लोग अलग हो जायेंगे, तो कैसे काम चलेगा?"

भाई केशवदेव के कहने से मैं विकास-समिति का अध्यक्ष बना रहा। कुछ उनके कहने से, कुछ यह भी सोचकर कि अभी-अभी हमें स्वराज्य मिला है, इस समय यदि हम सबकी शक्ति इधर-उधर बिखर जायगी, तो संभव है, उससे देश का नुकसान हो। यह समझकर मैंने इस दिशा में फिर से कोई आग्रह नहीं किया और काम चलाता रहा। जहाँ तक सम्भव था, मैं इस प्रयत्न में लगा रहता था कि काम में गाँव के अधिक-से-अधिक लोगों का सहकार मिले।

सहकार का प्रयत्न

सब कुछ हुआ, लेकिन ज्यों-ज्यों परिस्थिति का अध्ययन बढ़ने लगा, त्यों-त्यों मेरी यह मान्यता दृढ़ होने लगी कि यह स्वराज्य कहीं जनता का राज्य होने के बजाय किसी ऐसे गुट का राज्य न हो जाय, जो देश की लोकशाही को मारकर तानाशाही का रूप पकड़ ले। देश के पूँजीपति तथा गाँव के शोषक लोग अपना संगठन दृढ़ करने लगे। हमारे अच्छे-अच्छे साथी, जो एक दिन बहादुरी के साथ आजादी के संग्राम में जूझ रहे

भयंकर स्थिति

थे, वे भ्रम, मोह या लालचवश उनके चंगुल में फँसते जा रहे थे! इस परिस्थिति को देखकर मैं घबड़ा गया। मुकाबला करने की सामर्थ्य नहीं थी। भागना पलायनवाद होता। ऐसी हालत में मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या करूँ? दो-तीन माह ऐसा अनिश्चित चिन्तन चलता रहा।

दिसम्बर १९४७ में मैंने महसूस किया कि जनता को परिस्थिति का सीधे-सीधे दिग्दर्शन कराना चाहिए। शुरू में मैं कुछ हिचका। ऐसा लगने लगा कि कहीं हमारे पुराने साथी इस कार्यक्रम से परेशान न हों। अन्त में विकास-समिति के अध्यक्ष की हैसियत से जिलेभर का तूफानी दौरा करने का मैंने निश्चय किया। १९३८ के मन्त्रिमण्डल के दिनों में मैंने ग्राम-सुधार का जो काम किया था, उससे मुझे जिले की जनता का स्नेह प्राप्त था। इस बार कोई ८० सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम को गाँव-गाँव के कांग्रेस-जनों ने बड़े उत्साह से अपनाया। सरकारी विभागों के कर्मचारियों तथा कांग्रेस-जनों ने मिलकर उस दौरे को खूब सफल बनाया। हर सभा में तीन से पाँच हजार तक की भीड़ होती थी। स्त्रियाँ भी बड़ी संख्या में आती थीं।

जनता को चेतावनी

इन सभाओं में मैं गरीब जनता को चेतावनी देता था कि अंग्रेजों के चले जाने से ही उनका स्वराज्य नहीं हो जाता है। अंग्रेजों के चले जाने पर भी केवल एक स्वदेशी राज्यमात्र होकर रह सकता है, जिससे उनके शोषण का निराकरण नहीं हो सकता। मैं जनता को बताता था कि एक चतुर्भुज राक्षस पैदा होकर इस स्वराज्य को अपने कब्जे में कर सकता है। मैं समझाता था कि अगर अपना काम-काज सँभालकर अपने स्वराज्य को अपने हाथ में नहीं करेंगे, तो धोखा खाना पड़ेगा। मैं कहता था: "जैसे खेत के मुकदमे में अपने खेत की अदालती डिगरी अपने हक में रहने पर भी कब्जा न मिलने का खतरा बना ही रहता है, उसी तरह इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट से आपके हक में स्वराज्य की डिगरी [illegible] पर भी आपके लिए कब्जा न मिलने का खतरा बना

अगर आप सतर्क नहीं होंगे, तो विदेशी पूँजीपति स्वदेशी पूँजीपतियों के साथ गुट बनायेंगे और गाँव-गाँव में मौजूद पुराने साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के दलालों के साथ मिलकर अब तक जो आपके तरफदार देशभक्त रहे हैं, उन्हें खरीदकर या दूसरे उपायों से अपने चंगुल में फँसा लेंगे। फिर जब वह राक्षस अपनी चारों भुजाएँ आगे बढ़ाकर प्रेम से आपका आलिंगन करेगा, तो वह धृतराष्ट्र का ही आलिंगन होगा।"

जिले की अस्सी सभाओं में जब मैंने ऐसा भाषण किया, तो सारे जिलेवालों के सामने एक नयी रोशनी आ गयी। गाँव-गाँव में इन बातों की जोरदार चर्चा होने लगी। लेकिन कठिनाई यह थी कि एक तरफ तो मैं अकेला था और दूसरी तरफ देश की सारी शक्तियाँ थीं! फलतः इस दौरे का कोई स्थायी असर नहीं रहा।

'किसानों को चेतावनी' पुस्तक

इस दौरे में असेम्बली के मेम्बर और विभिन्न विभागों के कर्मचारी मेरे साथ रहते थे। मैंने देखा कि उन्हें इससे कोई परेशानी नहीं होती थी, बल्कि वे खुश होते थे और बीच-बीच में जिन बातों की जानकारी मुझे नहीं थी, उसे सुझा भी देते थे। जिला को-आपरेटिव अफसर ने उन भाषणों के सार के साथ अपना एक लेख जोड़कर को-आपरेटिव विभाग की ओर से 'किसानों को चेतावनी' नाम की एक पुस्तिका भी छपवा दी। लेकिन प्रान्तीय अफसर लोग इससे भड़क उठे और उस अफसर का फैजाबाद जिले से तबादला कर दिया गया।

तब से आज की स्थिति में कितना अन्तर है! आज नीचे का कोई भी अफसर ऐसी हिम्मत नहीं करेगा, क्योंकि इन दस सालों में नीचे से ऊपर तक पढ़ी पूरी हो चुकी है। आज बड़े-बड़े नेता चाहते हुए भी कुछ नहीं कर पाते, क्योंकि समाज की बागडोर उन्हीं लोगों के हाथ में चली गयी है।

महीना बीतते न बीतते बापू चले गये! यह अच्छा ही हुआ। ईश्वर को यह मंजूर नहीं था कि ऐसी महान् आत्मा इन बातों को देखे।

भविष्यवाणी सही उतरी

बापू के चले जाने पर तुम लोगों ने मुझे जबर्दस्ती चरखा-संघ का अध्यक्ष बनाया। नयी जिम्मेदारी से मैं घबड़ाया जरूर, लेकिन देहात की विवशताभरी स्थिति से दूर चले जाने से मन को कुछ राहत जरूर मिली। १९५४ में मैं एक बार फैजाबाद गया था। इतने दिनों के बाद जिले में पहुँचने पर सभी पुराने साथी मिलने आये थे। मिलते ही सबकी जबान पर एक ही बात थी : "भाईजी जो कुछ कहकर गये थे, वह सब आज बिल्कुल सामने दिखाई दे रहा है।" ● ● ●

चरखा-संघ का अध्यक्ष

श्रमभारती, खादीग्राम
१४-३-'५८

बापू के जाते ही ऐसा लगा, मानो देश से रोशनी निकल गयी! सब लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठे। बापू के राज्यकर्ता साथियों के सामने अनेक कार्यक्रम थे। देश की कितनी ही बड़ी-बड़ी समस्याएँ थीं। इसलिए बापू के अभाव का अन्धकार उन्हें कम महसूस हुआ, लेकिन बापू के रचनात्मक कामों को चलानेवाले हम लोग तो बिल्कुल ही दिक्-हारा हो गये थे। समझ में ही नहीं आता था कि आगे का कदम क्या हो। जो लोग राज्य संचालन कर रहे थे, उनसे जब हम चरखा आदि कार्यक्रम की बात करते थे, तो वे नाक सिकुड़ने जैसा भाव प्रकट करते थे। चोटी के कुछ नेता तो यहाँ तक कहते थे कि चरखा, ग्रामोद्योग आदि कार्यक्रम स्वराज्य की लड़ाई को संगठित करने के लिए ठीक थे, लेकिन आज की दुनिया के लिए वे बेकार हैं। बापू ने जो संस्थाएँ बनायी थीं, उनके प्रति नेताओं के मन में हेय-भाव था। उनकी ये भावनाएँ बापू के सामने ही प्रकट होने लगी थीं। उनके चले जाने पर हम लोग तो एकदम अनाथ ही हो गये।

दूसरी ओर जब मैं रचनात्मक संस्थाओं की ओर दृष्टि डालता था, तो मुझे कुछ विशेष उत्साह नहीं मिलता था। ऐसा लगता था कि ये संस्थाएँ बँधी हुई लीक पर लक्ष्यहीन गति से चलती जा रही बापू की सलाह की हैं। तुम जानती ही हो कि चरखा-संघ का नव-संस्करण अवहेलना करने का बापू का प्रयास किस तरह असफल रहा। '४५ में गांधीजी के पास से लौटकर मैंने नव-संस्करण का विचार आश्रम के साथियों के सामने रखा था, पर उसमें मैं सफल नहीं हो

सका था। मैं अलग कहीं प्रयोग करूँ, इसके लिए उनकी मंजूरी थी। आश्रम के कार्यक्रम में किसी भी प्रकार का हेरफेर करने के लिए वे तैयार नहीं थे। मैं अलग से प्रयोग करने को तैयार तो हुआ, लेकिन जल्दी ही मैंने महसूस किया कि एक ही संस्था के अन्तर्गत भिन्न दृष्टि से काम चलाना सम्भव नहीं है, विशेषकर तब, जब संस्था के मुख्य कार्यकर्ताओं की दृष्टि भिन्न रहती है। गांधी आश्रम ही नहीं, देश की अधिकांश खादी-संस्थाओं ने बापू की सलाह को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।

बापू चरखा-संघ के अध्यक्ष थे। इसलिए चरखा-संघ ने बापू का प्रस्ताव अवश्य स्वीकार किया, किन्तु रुपयों में दो पैसे की कीमत सूत के रूप में अदा करने के नियम को लागू करने के अलावा विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। इस प्रकार चरखा-संघ ने भी प्रकारान्तर से वही किया, जो दूसरी खादी-संस्थाओं ने किया था। वह भी उत्पत्ति-बिक्री के रूप मे शुद्ध व्यापारिक कार्य चलाता रहा।

विचार-मन्थन

इन तमाम कारणों से रचनात्मक संस्थाओं से भी मेरा समाधान नहीं होता था। गांधी आश्रम के मातहत मैं सेवापुरी में कुछ कर सकूँगा, इसका भी भरोसा नहीं हो रहा था। मुझमें स्वयं इतनी शक्ति नहीं थी कि स्वतन्त्र रूप से नयी दिशा में कुछ कर सकूँ। मैं सोचता रहता था कि एक ओर तो देश के नेता सरकार को अपने हाथ में लेकर प्रतिकूल दिशा में चलते रहें और दूसरी ओर हमारे जैसे मुट्ठीभर रचनात्मक कार्यकर्ता, जिनके सामने कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य भी न हो, कहीं पर चरखा चलवाते रहें, कहीं एकाध घानी-केन्द्र खोल दें या कहीं बुनियादी शाला चलाते रहें, तो इनमें से क्या परिणाम निकलनेवाला है और ये काम कितने दिन चलेंगे?

बहन सुचेता के आग्रह से उन दिनों रणीवाँ में कस्तूरबा-ट्रस्ट का काम जमाने में लगा था। मैं मानता था कि वह एक महत्त्व का काम है। उस सिलसिले में भी मैंने देखा कि इस रूढ़िग्रस्त समाज में स्त्रियों का

चरखा-संघ का अध्यक्ष

: ६ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१४-३-'५८

बापू के जाते ही ऐसा लगा, मानो देश से रोशनी निकल गयी। सब लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठे। बापू के राज्यकर्ता साथियों के सामने अनेक कार्यक्रम थे। देश की कितनी ही बड़ी-बड़ी समस्याएँ थीं। इसलिए बापू के अभाव का अन्धकार उन्हें कम महसूस हुआ, लेकिन बापू के रचनात्मक कामों को चलानेवाले हम लोग तो बिलकुल ही दिक्-हारा हो गये थे। समझ में ही नहीं आता था कि आगे का कदम क्या हो। जो लोग राज्य-संचालन कर रहे थे, उनसे जब हम चरखा आदि कार्यक्रम की बात करते थे, तो वे नाक सिकुड़ने जैसा भाव प्रकट करते थे। चोटी के कुछ नेता तो यहाँ तक कहते थे कि चरखा, ग्रामोद्योग आदि कार्यक्रम स्वराज्य की लड़ाई को संगठित करने के लिए ठीक थे, लेकिन आज की दुनिया के लिए वे बेकार हैं। बापू ने जो संस्थाएँ बनायी थीं, उनके प्रति नेताओं के मन में हेय-भाव था। उनकी ये भावनाएँ बापू के सामने ही प्रकट होने लगी थीं। उनके चले जाने पर हम लोग तो एकदम अनाथ ही हो गये।

दूसरी ओर जब मैं रचनात्मक संस्थाओं की ओर दृष्टि डालता था, तो मुझे कुछ विशेष उत्साह नहीं मिलता था। ऐसा लगता था कि ये संस्थाएँ
बँधी हुई लीक पर लक्ष्यहीन गति से चलती जा रही
बापू की सलाह की हैं। तुम जानती ही हो कि चरखा-संघ का नव संस्करण
अवहेलना करने का बापू का प्रयास किस तरह असफल रहा।
'४५ में गांधीजी के पास से लौटकर मैंने नव-संस्करण का
विचार आश्रम के साथियों के सामने रखा था, पर उसमें मैं सफल नहीं हो

सका था। मैं अलग कहीं प्रयोग करूँ, इसके लिए उनकी मंजूरी थी। आश्रम के कार्यक्रम में किसी भी प्रकार का हेरफेर करने के लिए वे तैयार नहीं थे। मैं अलग से प्रयोग करने को तैयार तो हुआ, लेकिन जल्दी ही मैंने महसूस किया कि एक ही संस्था के अन्तर्गत भिन्न दृष्टि से काम चलाना सम्भव नहीं है, विशेषकर तब, जब संस्था के मुख्य कार्यकर्ताओं की दृष्टि भिन्न रहती है। गांधी आश्रम ही नहीं, देश की अधिकांश खादी-संस्थाओं ने बापू की सलाह को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।

बापू चरखा-संघ के अध्यक्ष थे। इसलिए चरखा-संघ ने बापू का प्रस्ताव अवश्य स्वीकार किया, किन्तु रुपयों में दो पैसे की कीमत सूत के रूप में अदा करने के नियम को लागू करने के अलावा विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। इस प्रकार चरखा-संघ ने भी प्रकारान्तर से वही किया, जो दूसरी खादी-संस्थाओं ने किया था। वह भी उत्पत्ति-बिक्री के रूप में शुद्ध व्यापारिक कार्य चलाता रहा।

इन तमाम कारणों से रचनात्मक संस्थाओं से भी मेरा समाधान नहीं होता था। गांधी आश्रम के मातहत में सेवापुरी में कुछ कर सकूँगा, इसका भी भरोसा नहीं हो रहा था। मुझमें स्वयं इतनी शक्ति नहीं थी कि स्वतन्त्र रूप से नयी दिशा में कुछ कर सकूँ। मैं सोचता रहता था कि एक ओर तो देश के नेता सरकार को अपने हाथ में लेकर प्रतिकूल दिशा में चलते रहें और दूसरी ओर हमारे जैसे मुट्ठीभर रचनात्मक कार्यकर्ता, जिनके सामने कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य भी न हो, कहीं पर चरखा चलवाते रहें, कहीं एकाध घानी-केन्द्र खोल दें या कहीं बुनियादी शाला चलाते रहें, तो इनमें से क्या परिणाम निकलनेवाला है और ये काम कितने दिन चलेंगे?

विचार-मन्थन

बहन सुचेता के आग्रह से उन दिनों रणीवाँ में कस्तूरबा-ट्रस्ट का काम जमाने में लगा था। मैं मानता था कि यह एक महत्त्व का काम है। उस सिलसिले में भी मैंने देखा कि इस रूढ़िग्रस्त समाज में स्त्रियों का

काम करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी आवश्यक मानकर उसे चलाता रहा।

ये सब काम मैं कर रहा था और बड़ी दिलचस्पी और लगन के साथ कर रहा था, फिर भी दिमाग में असमाधान बना रहा। इसलिए दिशा की खोज में मेरा चिन्तन चलता रहा। कुछ ही दिनों में मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि इन संस्थाओं के भीतर से ऐसी कोई नयी दिशा नहीं निकलेगी, जिससे चरखा-संघ के नव-संस्करण के रूप में बापू ने जो स्वप्न देखा था, उसकी पूर्ति हो। बीच-बीच में यह खयाल भी जोरों से आता था कि संस्थाओं के बाहर क्यों न निकलकर किसी गाँव में चला जाऊँ और बापू की उस सेना में क्यों न भरती हो जाऊँ, जिसके लिए बापू ने सात लाख नौजवानों की माँग की थी और चरखा-संघ ने जिनके लिए पाँच साल की यह सुविधा रखी थी कि पहले-पहल पूरे वेतन से शुरू करें, धीरे-धीरे घटाते हुए पाँचवें वर्ष में उसे समाप्त कर दें। लेकिन गांधी आश्रम के साथियों का प्रेम तथा संस्था का मोह मुझे मजबूत रस्सी से जकड़े हुए था। इसलिए उसके लिए हिचक थी। संस्था की ओर से सेवापुरी की जिम्मेदारी भी थी। वह भी मुझे रोकती थी।

गाँव में बैठने का विचार

आखिर मैंने यह निश्चय कर ही लिया कि किसी गाँव में बैठकर पूरे गाँव को ही आश्रम का रूप देने की कोशिश करूँ। एकाध ऐसा छोटा गाँव भी मेरी नजर में था। उन दिनों ग्रामदान का स्वप्न देखना भी संभव नहीं था, और न आज की तरह ग्रामशाला का कोई स्पष्ट विचार ही मेरे सामने था। लेकिन सारा गाँव मिलकर गाँव की योजना बनाये, मिल-जुलकर अपनी उन्नति करे, इस उन्नति की प्रक्रिया में बच्चे भी हों और उसीमें से नयी तालीम निकले आदि स्फुट विचार मेरे मन में आते थे। क्या निकलेगा मैं जानता नहीं था, लेकिन बैठने पर कुछ सूझेगा, ऐसा मेरा विश्वास था। ऐसी मनोदशा में सेवापुरी से रचनात्मक कार्यकर्ता-सम्मेलन में शामिल होने के लिए वर्धा को रवाना हो गया।

रास्तेभर इसी बात पर चिन्तन चलता रहा। सेवापुरी की जिम्मेदारी का खयाल आया, लेकिन मैंने सोचा कि जिस तरह रणीवाँ में बैठकर अब तक सेवापुरी का संचालन करता रहा, उसी तरह उस गाँव में रहते हुए भी मैं बीच-बीच में सेवापुरी जा ही सकता हूँ। मेरे साथ सेवापुरी का 'अमरनाथ' था। सेवापुरी की बुनियादी शाला उसीके चार्ज में थी। मैंने उसे अपने मन की बात बतायी और पूछा कि क्या वह मेरे साथ बैठ सकता है? उसने अपनी तैयारी बतायी, तो मैंने करीब-करीब फैसला ही कर लिया।

रचनात्मक कार्यकर्ता-सम्मेलन

सन् -'४८ के मार्च का महीना था। देश के कोने-कोने से रचनात्मक कार्यकर्ता जुटे थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र बाबू आदि नेता भी पधारे थे। बापू के निधन के बाद 'पहला रचनात्मक कार्यकर्ता-सम्मेलन' होने के कारण देशभर की निगाह इस पर थी। सेवाग्राम पहुँचते ही तुम लोगों की जोरदार तैयारी देखकर मैं खुश हुआ। क्षणभर के लिए खयाल आया कि मैं जितनी निराशाजनक स्थिति समझे हुए था, शायद उतनी निराशा नहीं है। बड़े नेताओं के आगमन से कुछ आशा अवश्य बँधी।

सर्वोदय-समाज की स्थापना

मैं तुम्हारे घर ठहरा और पहुँचते ही बीमार पड़ गया। फलस्वरूप सम्मेलन की कार्यवाही में उपस्थित न हो सका। बुखार कुछ उतर जाने पर आखिरी दिन मैं उसमें पहुँचा। उस समय बड़े नेता चले गये थे। केवल दादा (आचार्य कृपालानी) मौजूद थे। वहाँ जाकर देखा कि सारा सम्मेलन विनोबा की ओर देख रहा है। विनोबा ने भी लोगों की आशा की पूर्ति की। सर्वोदय-समाज की स्थापना का जो सुझाव उन्होंने दिया, वह मौलिक था। इतिहास में किसी भी युग-पुरुष के शिष्य द्वारा इस प्रकार संगठनहीन संगठन की कल्पना नहीं की गयी थी। समाज रहे, संघ भी रहे; लेकिन तन्त्र न रहे। विचार का आदान-प्रदान

हो, आचार-विचार शासन पर छोड़ दिया जाय, यह एक मौलिक कल्पना थी। इतिहास में शासनहीन समाज की कल्पना की गयी है। अराजकता की बात भी काफी हो चुकी है। लेकिन उसके सक्रिय स्वरूप और विकास के मूल आधार का स्पष्ट चित्र इससे पहले कभी किसीने नहीं रखा था। विनोबाजी के सुझाव का अच्छा स्वागत हुआ। मुझे भी अच्छा लगा। दो-तीन दिन पहले बीमारी हालत में मित्रों ने मुझसे कहा था कि आप भी अपना कुछ सुझाव भेजिये, तो मैंने लिख भेजा था कि "जो भी संगठन हो, वह संचालक न होकर मार्ग प्रदर्शक मात्र हो।" इसलिए भी जो कुछ तय हुआ, उससे मुझे बड़ा सन्तोष मिला। सोचा कि इस दिशा में नेतृत्व संभवतः विनोबा ही लेंगे। इससे पिछली ग्लानि भी बहुत कुछ मिटी।

अध्यक्ष बनना स्वीकार

दूसरे दिन चरखा-संघ के ट्रस्टी-मंडल की बैठक हुई। बापू के बाद अध्यक्ष कौन हो? सब लोगों ने विनोबा पर जोर दिया कि यह जिम्मेदारी वे ही उठायें, लेकिन विनोबा ने इसे स्वीकार नहीं किया। तीन दिन तक अध्यक्ष की खोज होती रही। अन्ततः कृष्णदास भाई ने कहा: "अगर बड़े आदमी नहीं मिलते हैं, तो कार्यकर्ताओं में से ही कोई हो जाय।" उन्होंने मेरा नाम सुझाया। मैं अवाक् रह गया। मैंने कहा कि "बापू के चरखा-संघ को इस तरह हलका नहीं बनाना चाहिए। देश में मुझे जानता ही कौन है?" लेकिन धोत्रेजी तथा अन्य लोगों ने इस बात पर जोर दिया कि यह परम्परा कायम कर ही दी जाय। मेरे सामने सेवापुरी और रणीवाँ की जिम्मेदारी थी ही, और मैं गांधी आश्रम का कार्यकर्ता होने के नाते स्वतन्त्र भी नहीं था। साथियों ने कहा कि "विचित्र भाई यहाँ हैं ही, पूछ लीजिये और आप अध्यक्ष का स्थान सेवापुरी भी बना सकते हैं।" विचित्र भाई से पूछा। उन्होंने भी स्वीकृति देने की सलाह दी। फलतः मैंने उस जिम्मेदारी को स्वीकार कर लिया। ● ● ●

देशव्यापी दौरा

: ७ :

सोनपुर स्टेशन (ट्रेन पर)
१९-३-'५८

चरखा-संघ का अध्यक्ष गया। बहन सुशीला पै को लिखा कि अब कस्तूरबा ट्रस्ट की जिम्मेदारी लेना मेरे लिए सम्भव नहीं। वे उत्तर प्रदेश के काम को खुद ही सीधे ें। सेवापुरी की जिम्मेदारी मुझ पर थी ही, वहीं मैं अपना मुख्य ान बनाऊँ, यह छूट चरखा-संघ के साथियों की ओर से रही। अतः मैं वहाँ से सेवापुरी लौट आया। इस बीच में सेवापुरी का भी काफी कायापलट हुआ।

बापू की अन्तिम सलाह

बापू ने कांग्रेस को सलाह दी थी कि आजादी के बाद वह सत्ता में न जाय, बल्कि अपने को 'लोक सेवक-संघ' के रूप में रूपान्तरित करके जनता में फैल जाय और प्रत्यक्ष जन-शक्ति का निर्माण कर लोकतन्त्र की सही शक्ति की स्थापना करे। बापू होते, तो शायद उनके अनुयायी इस दिशा में कुछ करने की हिम्मत करते और कांग्रेस का काफी बड़ा हिस्सा इस सुझाव पर अमल करता होता। लेकिन ऐसा नहीं हो सका और गांधीजी चले गये। कांग्रेसवालों ने अंग्रेजों द्वारा मिली हुई राज्य-सत्ता को जनता के हाथों में छोड़ने की हिम्मत नहीं की। युग-युग में और देश-देश में हुआ है, स्वतन्त्रता-संग्राम। लेकिन संसार में कहीं भी ऐसी मिसाल नहीं है कि स्वाधीनता-संग्राम में जूझनेवाले दल ने विजय-प्राप्ति के बाद सत्ता को अपने हाथ में न लिया हो। इसलिए सत्ता को अपने हाथ में लेकर देश की स्वतन्त्रता को संगठित करने की बात सोचना कांग्रेस के लिए परम स्वाभाविक था। ऐतिहासिक लीक को छोड़कर नयी दिशा में चलने की हिम्मत बापू जैसा युग-पुरुष ही कर सकता था।

दूसरों के लिए यह निर्णय कठिन था। अतः कांग्रेस के नेतृत्व ने जो किया, वह परम्परा के हिसाब से ठीक ही था।

यद्यपि कांग्रेस के नेताओं ने अपनी मर्यादाओं के अन्तर्गत जो किया, वह ठीक ही था; लेकिन उनमें से बहुतों के मन में यह बात खटकी। जो लोग बापू के विचार को गहराई से समझते थे तथा उनके अधिक नजदीकी थे, उनमें इसकी ग्लानि भी थी। दादा (आचार्य कृपालानी) ऐसे लोगों में मुख्य थे। उन्होंने उत्तर प्रदेश में 'लोक-सेवक-संघ' की स्थापना का नेतृत्व लिया। उत्तर प्रदेश में रचनात्मक काम के लिए सब लोग एकत्रित हुए और उन्होंने 'लोक-सेवक-संघ' की स्थापना का निर्णय किया। दादा उसके अध्यक्ष हुए और भाई सादिक अली मन्त्री। उसमें उत्तर प्रदेश विधानसभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री टंडनजी, राज्य के मुख्य मन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त तथा अन्य मन्त्री लोग भी शामिल थे।

उत्तर प्रदेश में लोक-सेवक-संघ

लोक-सेवक-संघ का मुख्य केन्द्र लखनऊ ही रखा गया, क्योंकि राजधानी होने के नाते सभी नेता वहीं रहते थे। शीघ्र ही महसूस किया गया कि जिस परिकल्पना के अनुसार लोक-सेवक-संघ की स्थापना हुई, उसका प्रधान केन्द्र शहर के एक मकान में दफ्तर के रूप में रहना नहीं जँचता है। उसका स्वरूप किसी आश्रम का होना चाहिए। दादा ने गांधी आश्रम में प्रस्ताव किया कि सेवापुरी-आश्रम लोक-सेवक-संघ को दे दिया जाय और उसीको उसका प्रधान केन्द्र माना जाय। आश्रम ने प्रस्ताव करके ऐसा कर दिया। इस तरह सेवापुरी लोक-सेवक-संघ के अन्तर्गत हो गया। सेवापुरी की जिम्मेदारी लेने के लिए लोक-सेवक-संघ ने एक उप समिति बनायी और मन्त्री के नाते सादिक भाई आश्रम का संचालन करने लगे। इस तरह गांधी आश्रम की ओर से सेवापुरी की जिम्मेदारी का बन्धन मुझ पर से ढीला हो गया। मैंने सादिक भाई से पूछा कि उन्हें मेरी हाजिरी की कितनी आवश्यकता होगी। उन्होंने आश्वासन दिया कि

अब वे खुद आश्रम के भीतरी कामों को देख लेंगे और करण भाई सरकारी सम्पर्क को सँभाल लेंगे। मैं कभी-कभी एकाध बार आता रहूँ, तो परामर्श के लिए काफी होगा। रणीवाँ केन्द्र भी अब एक रजिस्ट्री शुदा संस्था हो गया था तथा रामलाल और उसके साथी योग्यता के साथ उसे चलाने लगे थे। अतः मैं वहाँ की भी प्रत्यक्ष जिम्मेदारी से मुक्त हो गया था। इस प्रकार मुक्त होकर मैंने चरखा-संघ के काम को सँभालने का निर्णय किया और अपना मुख्य स्थान सेवाग्राम बनाया।

सेवाग्राम में रहते हुए मैंने देखा कि रचनात्मक संस्थाओं और कार्यकर्ताओं में कार्य का क्रान्तिकारी लक्ष्य कुछ धीमा पड़ गया है। निष्ठा और त्याग का अभाव नहीं था, लेकिन दृष्टि राहत प्रस्ताव कार्यान्वित की ही थी। चरखा-संघ की दृष्टि भी गरीबों को रोजी करने का निश्चय देने की ही थी। चरखा-संघ के नव-संस्करण से बापू चरखा द्वारा शोषण-हीन तथा स्वावलम्बी समाज कायम करना चाहते थे, लेकिन संघ के कार्यकर्ताओं में ऐसी दृष्टि और भावना नहीं थी। बापू के चले जाने के बाद ट्रस्टी-मण्डल ने जो प्रस्ताव किया था, उसमें संघ के काम का पुनस्संगठन करने का लक्ष्य था। उस प्रस्ताव में ऐसा निश्चय किया गया था कि राहत के काम को प्रमाणित संस्थाओं के हाथों में सौंपकर स्वावलम्बन के आधार पर चरखा-संघ के काम का संगठन किया जाय। इसलिए मैं हिम्मत करके संघ के प्रस्ताव पर अमल करने की दिशा में सोचने लगा।

किसी भी संघ के प्रस्ताव का अमल तभी हो सकता है, जब कम-से-कम उस संघ के मुख्य कार्यकर्ताओं की आस्था उसके लिए हो। आस्था-निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि कार्यकर्ता विचार को स्पष्ट रूप से समझें तथा उसके अनुसार काम करने की आवश्यकता महसूस करें। मैं इस बारे में अपने साथी भाई धोत्रेजी तथा कृष्णदासजी से परामर्श करता रहा। परामर्श से यह तय पाया कि सेवाग्राम में हर प्रदेश के दस-दस मुख्य कार्यकर्ताओं को लेकर एक विचार-शिविर चलाऊँ।

तदनुसार सेवाग्राम में शिविर चला। उस शिविर में मैंने खादी के पीछे शोषणहीन समाज-रचना की कल्पना को विस्तार से समझाया। मैंने बताया कि शोषण के कारण वर्ग-विषमता पनपी और वर्ग-विषमता के चलते सामाजिक शोषण का एक शास्त्र-निर्माण हो गया, जिसकी परिणति से आज का मानव निश्चित रूप से ध्वंस की ओर दौड़ा जा रहा है। मैंने बताया कि यद्यपि इसका बोध सौ बरस पहले महान् ऋषि कार्ल-मार्क्स को हो गया था और उन्होंने इस भेद के निराकरण के लिए वर्ग-संघर्ष का दर्शन संसार के समक्ष प्रकट किया था, फिर भी इस शोषण-प्रक्रिया में निरन्तर वृद्धि ही होती जा रही है; बल्कि संघर्षजनित हिंसा और द्वेष का दिन-दिन अधिक संगठन होता चला जा रहा है। मैंने यह भी समझाया कि वर्ग-भेद जब तक नहीं मिटेगा और वर्ग-संघर्ष का निष्फल प्रयास छोड़कर मनुष्य उसका वैकल्पिक उपाय नहीं निकालेगा, तब तक संसार में शान्ति नहीं हो सकती है। गांधीजी ने चरखा-संघ के नव-संस्करण की चर्चा में कार्यकर्ताओं को उत्पादक वर्ग में विलीन होने को कहकर वर्ग-परिवर्तन का विकल्प उपस्थित किया है। उसे साकार रूप देना चरखा-संघ के कार्यकर्ताओं का प्रथम कर्तव्य है, क्योंकि बापू ने इस सिद्धान्त के अमल के लिए सबसे पहले चरखा-संघ के सामने ही यह प्रस्ताव रखा था। शिविर में आये सभी कार्यकर्ताओं को ये बातें अच्छी लगीं। वे अपने को कुछ पस्त हुआ मान रहे थे। अब वे महसूस करने लगे कि वे भी किसी क्रान्ति के वाहक हैं। तमिलनाड के मन्त्री भाई रामस्वामी मुझसे अलग भी बहुत-सी चर्चा करते रहे। वे कहने लगे कि "अफसोस है कि वे इन बातों को उस समय नहीं समझे, जब बापू थे; नहीं तो उनके सामने ही संघ द्वारा बहुत बड़ी क्रान्ति का वातावरण बनाया जा सकता था।" मैंने कहा : "सभी ईश्वर की माया है। आज भी अगर हम इस दिशा में कुछ कर सकें, तो बहुत होगा।"

सेवाग्राम में शिविर

कार्यकर्ताओं की प्रेरणा देखकर कुछ आशा बँधी। इतनी आशा

गांधी आश्रम के कार्यकर्ताओं में घूमकर नहीं बँधी थी।' महाकोशल के जो कार्यकर्ता आये थे, उन्होंने भाई दादाभाई के नेतृत्व में यह निर्णय ही कर लिया कि अपने प्रदेश में जगह-जगह प्रमाणित खादी-संस्थाएँ कायम कर खादी के व्यापारिक (उत्पत्ति-बिक्री के) काम को उन संस्थाओं के हाथ सौंपकर वे गाँव-गाँव फैल जायँगे और ग्राम-स्वावलम्बन की लक्ष्य-पूर्ति में चरखे के काम को चलायेंगे। इन तमाम बातों से मैं खूब उत्साहित हुआ।

किशोरलाल भाई का आशीर्वाद

इस काम में मुझे पूज्य किशोरलाल भाई का भी आशीर्वाद मिला। किशोरलाल भाई से मेरा विशेष परिचय नहीं था। वैसे रणीवाँ में और सेवापुरी में बैठकर काम करने के कारण मेरा परिचय बहुत कम आदमियों से था, लेकिन बड़े आदमियों में विनोबाजी तथा किशोरलाल भाई से नहीं के ही बराबर था। वे मुझे जानते अवश्य थे, लेकिन उनसे कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रहा था। दस दिन के शिविर में जो विवेचना की गयी, उसकी चर्चा वर्धा-परिवार में काफी थी। कृष्णदास भाई और दूसरे लोग इन चर्चाओं को बीच-बीच में उनके पास पहुँचाते रहे थे। मुझे मालूम हुआ कि उन्हें इन चर्चाओं में बड़ा रस है। इससे मुझे बड़ी राहत मिली।

एक दिन कृष्णदास भाई उनसे मिलने जा रहे थे, तो मैं भी उनके साथ चला गया। मेरे पहुँचने पर उन्होंने मुझे खूब प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा : "दिशा ठीक है और आप इस दिशा में अवश्य आगे बढ़ें।" उनसे बातें करने से मेरा उत्साह खूब बढ़ा और फिर मैं बीच-बीच में उनसे चर्चा करने के लिए उनके पास जाता रहा। किशोरलाल भाई के साथ चर्चा करने से मेरी दृष्टि अधिक स्पष्ट हुई। बहुत सी बातों के बारे में मैं सोचता ठीक था, लेकिन मेरे सामने उनकी सिलसिलेवार कोई कड़ी नहीं थी। उनकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टि ने मुझे बहुत प्रभावित किया, जिससे

और कई प्रश्नों पर मुझमें विचार की स्पष्टता आयी। बाद में उन्होंने मेरे विचारों को 'हरिजन'-पत्रों के द्वारा प्रसारित करने की भी चेष्टा की।

किशोरलाल भाई की वैज्ञानिक तथा विश्लेषक दृष्टि को देखकर मैं अवाक् हो जाता था। मुझे पश्चात्ताप होता था कि जब जेल से लौटकर सेवाग्राम में दो महीने तक टिका रहा था, तब उस समय उनके सम्पर्क में क्यों नहीं आया! वस्तुतः आज मैं जिन विचारों को व्यक्त करता रहता हूँ, उनका स्पष्ट बोध उन्हीं दो महीनों में हुआ था। यदि उस समय किशोरलाल भाई के सम्पर्क में आया रहता, तो विचार-प्रवाह के बीच-बीच में पड़नेवाली गाँठों में न उलझता और न इधर-उधर ही कहीं भटकता। लेकिन जैसा कि तुम्हें मालूम ही है, मेरा स्वभाव हमेशा कुछ पीछे रहने का रहा है। इसलिए बिना मतलब मैं कभी बड़े आदमियों के पास नहीं जाता था। बापू के पास भी तभी जाता था, जब जरूरत होती। गप्पी तो मैं हमेशा रहा हूँ, लेकिन मेरी गप्प अपनी बराबरी के साथियों के तथा छोटे बच्चों के साथ ही चलती थी। इसी कारण १९४५ में मैं इतने महान् दार्शनिक के सम्पर्क में नहीं आ सका। आज वे नहीं हैं। यदि वे होते, तो आज सर्वोदय का विचार जिस प्रकार से विकसित हुआ है, उसकी गूँज वैज्ञानिक भाषा में सारी दुनिया में पहुँची होती!

सेवाग्राम का शिविर समाप्त हुआ और लोग अपने-अपने प्रदेश में चले गये। उसके बाद जयपुर-कांग्रेस का अधिवेशन था। संघ के प्रमुख कार्यकर्ता वहाँ की प्रदर्शनी के संगठन में लग गये।

जयपुर-कांग्रेस में

जयपुर-कांग्रेस अधिवेशन में प्रदर्शनी के बहाने देशभर के रचनात्मक कार्यकर्ता एकत्र हुए थे। उन लोगों का आग्रह था कि उनके बीच में चरखा-आन्दोलन की नयी दृष्टि स्पष्ट करूँ और प्रतिदिन प्रार्थना के बाद उसका विवेचन करूँ। तदनुसार मैं सुबह की प्रार्थना के बाद गांधी-विचार का विवेचन करने लगा। इससे रचनात्मक कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ा। उनका आग्रह हुआ कि मैं एक अखिल भारतीय दौरा करूँ। चरखा-संघ के साथियों की भी ऐसी राय रही

कि केवल रचनात्मक कार्यकर्ताओं में ही नहीं, बल्कि जनता में भी इस बात का विवेचन होना चाहिए।

देशव्यापी दौरा

जयपुर-कांग्रेस से लौटते ही मैं अखिल भारतीय यात्रा के लिए निकल पड़ा। मुझमें इसके लिए बड़ी हिचक थी। सोचता था कि पता नहीं, मैं लोगों के सामने अपना विचार ठीक-ठीक रख सकूँगा या नहीं। अपने कार्यकर्ताओं के साथ बैठकर चर्चा करना एक बात है और चरखा-संघ के अध्यक्ष के नाते देश-भर का दौरा करना दूसरी बात है।

तदनुसार मैंने गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मैसूर, आन्ध्र, तमिलनाड तथा केरल प्रान्तों का दौरा कर डाला। दौरे के बीच मैंने अपने सारे विचार लोगों के सामने रख दिये। मैंने बताया कि 'हुजूर' और 'मजूर' के रूप में उत्पादक-वर्ग तथा व्यवस्थापक-वर्ग के वर्गीकरण का निराकरण जब तक नहीं होगा, तब तक दुनिया से शोषण तथा निर्दलन का अन्त नहीं हो सकता और न संसार में शान्ति की स्थापना ही हो सकती है। मैं यह भी कहता था कि इस वैज्ञानिक युग में यदि शान्ति की स्थापना न हुई, तो मनुष्य-जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।

'हुजूर-मजूर' का विवेचन

इतिहास तो मैंने पढ़ा नहीं है, लेकिन तुम जैसे साथियों से जो कुछ सुन रखा था, उसके आधार पर मैं इस 'हुजूर-मजूर' के तत्त्व का कुछ ऐतिहासिक विवेचन भी करता था। बन्दर और बिल्ली की कहानी के उदाहरण से मानव-समाज के शोषण का इतिहास बता डालता था। मनुष्य ने आपसी प्रतिद्वन्द्विता जनित अशान्ति के निराकरण के लिए राजपद का कैसे आविष्कार किया, राजपद की जिम्मेदारी चरितार्थ करने के बहाने किस तरह राजकर्मचारी-वृन्द का जन्म हुआ और साथ साथ सामन्तवाद का सगठन हुआ, बाद में औद्योगिक क्रान्ति के सिलसिले में कारखाने तथा व्यापार की वृद्धि के कारण किस तरह पूँजीवाद का संगठन

हुआ और अन्त में पूँजीवाद तथा राज्यवाद के गठबन्धन से समाज की बागडोर किस तरह अनुत्पादक-वर्ग के हाथ में चली गयी और आगे चलकर एक दुर्लंघ्य मैनेजरवाद की सृष्टि हो गयी— इन सब बातों की विवेचना से मैं यह बताने की कोशिश करता था कि जिस तरह बन्दर ने रोटी कमानेवाली बिल्लियों को सेवा देने के बहाने उनकी पूरी की पूरी रोटी हड़प ली और बिल्लियों को भूखा रखा, उसी तरह राज्य, पूँजी तथा व्यवस्था की संस्था चलाने के बहाने हम लोग, जो कि शुद्ध मेहनत से एक भी रोटी का उत्पादन करने में असमर्थ हैं, समाज की सम्पत्ति के अधिकांश का उपभोग कर लेते हैं, और वे श्रमिक, जो उस रोटी के उत्पादन में निरन्तर पसीना बहाते रहते हैं, रोटी के लिए मुहताज ही बने रहते हैं। इसी सिलसिले में वर्ग-परिवर्तन की मीमांसा भी स्पष्टतर होती गयी।

इस दौरे से मेरे विचार में भी स्पष्टता आती गयी। इस सिद्धान्त की बुनियाद पर मैं आर्थिक तथा राजनीतिक मीमांसा भी करने लगा।

त्रिविध तत्त्व का शास्त्र

अहिंसक समाज की रचना के लिए राज्य-संस्था का लोप होना चाहिए, शासन-मुक्ति के बगैर हिंसा-मुक्ति सम्भव नहीं है, शासन-मुक्ति शोषण-मुक्ति के बिना असम्भव है और वर्ग-विषमता के चलते शोषण-निराकरण हो ही नहीं सकता है। इस त्रिविध तत्त्व का एक शास्त्र ही बना डाला, जिससे रचनात्मक कार्यकर्ताओं को अत्यधिक प्रेरणा मिली। संसार की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान की प्रक्रिया वर्ग-निराकरण से ही आरम्भ होती है। वर्ग-संघर्ष के विकल्प के रूप में वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया का चित्र पाकर गांधीवादी कार्यकर्ताओं को बहुत उत्साह मिला। इस दौरे ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं में से पराजय की भावना निकालकर एक नया उत्साह पैदा कर दिया।

सारे देश की रचनात्मक संस्थाओं में गांधी विचारधारा के क्रान्तिकारी पहलू के चिन्तन ने उनकी दृष्टि को समग्रता की ओर आकर्षित किया। चरखा-संघ के कार्यकर्ता भी इस दिशा में सोचने लगे। इससे

चरखा-संघ के नव-संस्करण की ओर कदम बढ़ाना आसान हो गया।

नव-संस्करण की दिशा में

मार्च सन् '४८ की बैठक में चरखा-संघ ने विकेन्द्रीकरण का जो प्रस्ताव किया था, उसका अमल आसानी से होने लगा और विभिन्न प्रान्तों के रचनात्मक कार्यकर्ता अपने-अपने प्रदेश में नयी-नयी संस्थाएँ बनाकर खादी का काम अपने हाथ में लेने लगे।

यह सब तो हुआ, लेकिन इस निरन्तर दौरे से मेरा स्वास्थ्य बिलकुल टूट गया। बात-बात में हाथ-पाँव काँपने लगे और चक्कर आने लगे।

उरुली में विश्राम

सेवाग्राम लौटते ही साथियों ने मुझे उरुलीकांचन भेज दिया। वहाँ बालकोबाजी के स्नेह के आश्रय में चार-पाँच महीने रहा। इसी बीच मैंने चरखा-संघ के कार्यकर्ताओं को पत्र लिखे। उनके जरिये मैंने देश के मध्यम-वर्ग को यह चेतावनी दी कि यदि वे समय रहते वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति में शामिल नहीं होते, तो वर्ग-संघर्ष की आग में जलकर खाक हो जायँगे। इसी समय मैंने 'आजादी का खतरा' शीर्षक एक पुस्तिका भी लिखी, जिसमें करीब-करीब उन्हीं बातों का विवेचन था, जिन्हें मैं अपने दौरे में कहा करता था। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद गांधीजी के विचार के अनुसार अगर देश का संगठन नहीं हुआ, तो आजादी ही देश के लिए किस तरह खतरा साबित हो सकती है, इसी बात का विवेचन उसमें था। इस पुस्तक से भी चरखा-संघ तथा दूसरी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को प्रेरणा मिली।

o o o

रचनात्मक कार्य और राजनीतिक दल : ८ :

उरुलीकांचन, पूना
२६-३-'५८

इस प्रकार मैं चरखा-संघ के नव-संस्करण को अमल में लाने के लिए विचार-प्रचार द्वारा अनुकूल वातावरण पैदा करने में डेढ़ वर्षों तक पूरी एकाग्रता से लगा रहा। इस बीच सेवापुरी के जीवन में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। मैं बीच-बीच में वहाँ जाता अवश्य था, सलाह भी देता था; लेकिन मेरा चिन्तन सदा चरखे की नयी दृष्टि की ओर ही रहा। सेवापुरी-आश्रम लोक-सेवक-संघ के मातहत भाई सादिक अली के संचालन में चलता रहा और दादा (कृपालानीजी) उसका प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन करते रहे। परन्तु यह सिलसिला अधिक दिनों तक नहीं चल सका।

उत्तर प्रदेश में लोक-सेवक-संघ की स्थापना बड़े जोर-शोर से हुई थी। दादा के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश के ऐसे सभी नेता उसके सदस्य बन गये थे, जो बापू के भक्त रहे हैं। बापू की अन्तिम इच्छा को पूरा करने में इन लोगों में व्याकुलता तथा गांभीर्य की कमी नहीं थी। फिर भी उसके काम में विशेष प्रगति नहीं हुई। कुछ बैठकें हुईं, लेकिन फल कुछ नहीं निकला।

मृत्यु के एक दिन पहले बापू ने जिस प्रकार के लोक-सेवक-संघ की स्थापना की सलाह दी थी, उस प्रकार का संगठन उत्तर प्रदेश में नहीं हुआ। उन्होंने कांग्रेस का स्वरूप बदल करके

बापू की कल्पना

उसे लोक-सेवक-संघ में रूपान्तरित करने को कहा था। उन्होंने कहा था कि कांग्रेस राजसत्ता अपने हाथ में न ले और वह 'लोक-सेवक-संघ' के रूप में गाँव-गाँव में जनता के बीच फैल जाय तथा उनकी सेवा करके प्रत्यक्ष लोक-शक्ति का निर्माण करे।

बापू की लोक-सेवक-संघ की कल्पना के बारे में उनके अनुयायी तरह-तरह के विचार रखते हैं। पर मुझे तो इस कल्पना के पीछे राजनीति-शास्त्र का एक नया अध्याय दिखाई पड़ा। राजतन्त्र की समाप्ति के बाद लोकतन्त्र की स्थापना हुई। विभिन्न देशों में विभिन्न संविधानों के अनुसार विधानसभाएँ बनीं। विरोधी दल के रूप में शासकीय दल के संशोधन की बात भी सोची गयी। लेकिन समाज में प्रत्यक्ष लोकशाही की स्थापना नहीं हो सकी। विधानसभा राजनीतिक दलों का अखाड़ा बनी, राज्य-व्यवस्था नौकरशाही की वज्रमुष्टि में बनी रही। दर्शक की हैसियत से कभी इस राजनीतिक दल को, तो कभी दूसरे दल को प्रोत्साहित अवश्य करती रही, पर सत्ता पर उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं रह सका। निस्सन्देह बापू जैसे युग-पुरुष की दृष्टि से यह परिस्थिति ओझल नहीं रही होगी। उन्होंने लोक-सेवक-संघ की कल्पना द्वारा राजशाही के स्थान पर वास्तविक लोकशाही की स्थापना का दिशा-निर्देश किया ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः बापू की लोकशाही की परिभाषा ही ऐसी थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका आदि तथाकथित लोकतान्त्रिक देशों में कहीं भी सच्ची लोकशाही नहीं है और जनता के कुछ लोग शासन-सत्ता में चले जायँ, इतने मात्र से लोकशाही नहीं होती है; बल्कि जहाँ पर जनता प्रत्यक्ष रूप से अधिकार के दुरुपयोग को रोक सके, वहीं लोकशाही होती है। अब प्रश्न यह है कि दुरुपयोग के अवसर पर जनता किसके नेतृत्व में विद्रोह करे? देश के सभी जन-सेवक सत्ता के अंग हों, तो जनता की स्वतन्त्र लोकसत्ता का नेतृत्व कौन करे और आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह का नायक कौन बने? निस्सन्देह इसके लिए ऐसा नेतृत्व आवश्यक है, जो पक्षातीत हो, जो सेवा करने के बावजूद सत्ता का आकांक्षी न हो, जिसके बारे में जनता निस्सन्देह हो कि सेवा ही इसका एकमात्र धर्म है, जो जनता के किसी एक अंश मात्र का प्रतिनिधित्व न करके सम्पूर्ण जनता का सेवक हो तथा उसके आह्वान के पीछे दलगत स्वार्थ न हो। पुराणों में सत्ताधारी इन्द्र को कौन चुनौती

दे सकता था! वही, जो इन्द्र के बराबर अथवा उससे अधिक तपस्या करने पर भी इन्द्रासन का आकांक्षी न होकर गण-देवता के रूप में गण के साथ ही रहता था।

लोकतन्त्र के पुराने विचार के अनुसार विधानसभा के विरोधी दल को ही आवश्यकता पड़ने पर गण-विद्रोह का नायक बनना चाहिए। लेकिन वह ऐसा कैसे बन सकेगा? जन-विद्रोह उसे कहते हैं, जिसमें सारी जनता शरीक हो। विरोधी दल सारी जनता को कैसे शरीक करे? वह जनता के अल्पमत का प्रतिनिधि है याने उस पर बहुमत का भरोसा नहीं है। तो सारी जनता का नायकत्व वह कैसे करेगा? इसलिए चालू लोकतन्त्र का विरोधी दल स्वतन्त्र लोकसत्ता का जामिन नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि लोकसत्तात्मक राजनीति में गणतन्त्र की रक्षा के लिए नयी खोज हो। लोक-सेवक-संघ के रूप में तृतीय शक्ति की कल्पना पेश कर गांधीजी ने जनतन्त्र की रक्षा के लिए नयी संस्था का आविष्कार किया। यह संस्था निरन्तर जनता की सेवा करने पर भी सत्ता की आकांक्षा रखनेवाली न हो और न सत्ताधारी संस्था का कोई अंग ही बने। वह जनता के पक्षविशेष की प्रतिनिधि न हो। उसका अधिष्ठान समग्र जनता के सेवक के रूप में ही रहे, ताकि समस्त जनता उसका विश्वास कर सके। तुम्हें शायद यह मेरी मनगढ़न्त कल्पना लगे, पर बात ऐसी नहीं है। उसके पीछे आधार है। मुख्य आधार तो बापू-विचार ही है। जेल से छूटने के बाद से ३० जनवरी १९४८ तक बापू के सान्निध्य में रहने का मुझे जो अवसर मिला है, उसका आधार भी बड़े महत्त्व का है। मैं कह चुका हूँ कि उनके इन्हीं दिनों के सम्पर्क से मेरे विचार में स्पष्टता आयी थी।

विरोधी दल की स्थिति

इस बीच की एक चर्चा विशेष उल्लेखनीय है। सन् '४७ के अन्तिम दिन थे। बापू के घनिष्ठ सम्पर्क के लोग दिल्ली में एकत्र थे। बापू की सभी रचनात्मक संस्थाओं के कार्यकर्ता भी वहाँ थे। दादा (कृपालानीजी),

शंकररावजी, डॉ० जाकिर हुसेन, प्रफुल्ल बाबू आदि नेता वहाँ उपस्थित थे। विभिन्न चर्चाओं में मुख्य चर्चा यह रही कि स्वराज्य तो हो गया है, पर अब राष्ट्र-निर्माण की दिशा क्या हो। कांग्रेस के राज्यकर्ता नेताओं ने गांधीजी के आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों को न तो अपनाया था और न वे उन्हें अपनाना ही चाहते थे। प्रश्न यह था कि ऐसी हालत में उन लोगों का क्या कर्तव्य है जो निष्ठापूर्वक यह मानते थे कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बापू की बतायी दिशा में राष्ट्र-निर्माण-कार्य हो सकेगा। आम राय यह थी कि गांधीवादी पक्ष को सत्ता में जाकर उसका उपयोग करना चाहिए। चर्चा गम्भीर थी और गांधीवादी नेता इस चर्चा में शामिल थे। मैं यद्यपि केवल श्रोता ही था, तो भी अपने स्वभाव के अनुसार मैं इन चर्चाओं में से वैचारिक खुराक लेता रहा।

महत्त्वपूर्ण चर्चा

पर्याप्त चर्चा हो चुकने के बाद बापू पधारे। नेता लोगों ने बापू के सामने अपने मन की परेशानी जाहिर की। बापू ने सब सुना और अपनी दृष्टि उनके सामने रखी। उसका सार यही था कि इनके लिए सत्ता में जाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि सत्ता में जाना नहीं चाहिए। वास्तविक शक्ति सत्ता के हाथ में नहीं रहती, वह तो जनता के हाथ में रहती है। जनता को इसका बोध होना चाहिए और बोध कराने का यह काम रचनात्मक कार्यकर्ताओं का है। जनता को आत्मशक्ति का बोध कराकर उसका संगठन ही रचनात्मक कार्य का ध्येय है।

यह सब कैसे हो सकेगा, उसकी प्रक्रिया और कार्यक्रम क्या होगा, इत्यादि प्रश्नों पर भी पर्याप्त चर्चा हुई। तय यही हुआ कि सेवाग्राम में फरवरी '४८ के प्रथम सप्ताह में देशभर के रचनात्मक कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हो और बापू वहाँ अपनी योजना रखें। किन्तु विधि का विधान कुछ और था।

विधि का विधान

३१ जनवरी को बापू दिल्ली से रवाना होनेवाले थे, लेकिन ३० को ही चले गये!

बापू तो गये, लेकिन दिल्ली की बैठक से मुझ पर यह छाप पड़ी कि बापू राज्य-सत्ता से भिन्न किसी प्रकार की स्वतन्त्र लोकशक्ति की खोज में थे। यही कारण है कि बापू के लोक-सेवक-संघ की कल्पना के सम्बन्ध में मेरी ऐसी धारणा बनी।

उत्तर प्रदेश में जो 'लोक-सेवक-संघ' बना, उसके पीछे ऐसी दृष्टि नहीं थी, यह मैं कह ही चुका हूँ। बापू ने तो उन लोगों के द्वारा लोक-सेवक-संघ की स्थापना की बात कही थी, जो सत्ता में न जायँ और सत्ता के अतिरिक्त तीसरी शक्ति का निर्माण करें। लेकिन इस लोक-सेवक-संघ में तो वे लोग ही थे, जो पहले से ही सत्ता में मौजूद थे। सत्तानिष्ठ तथा सत्ता में बैठे हुए व्यक्तियों द्वारा सत्ता-निरपेक्ष लोक-सेवा के कार्य से स्वतन्त्र लोकशक्ति का निर्माण कैसे हो सकता है? अतः उत्तर प्रदेश के *लोक-सेवक-संघ की असफलता स्वाभाविक थी।*

स्वतन्त्रता मिल जाने पर राजनीतिक दलों द्वारा रचनात्मक काम शायद नहीं हो सकेंगे। बापू का कुछ ऐसा ही खयाल था। उनकी एक दिन की बातों से मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ।

कांग्रेस द्वारा रचनात्मक कार्य

तुम्हें याद होगा कि दादा जब कांग्रेस के अध्यक्ष हुए थे, तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ कांग्रेस-संगठन द्वारा रचनात्मक काम करने की कोशिश की थी। कांग्रेस की रचनात्मक उप-समिति बनी और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्तरों पर रचनात्मक विभाग भी बने। कुछ और छोटी छोटी समितियाँ बनीं, जो सरकार को रचनात्मक कामों के बारे में योजना देतीं। शिक्षासम्बन्धी योजना के लिए जो कमेटी बनी, उसमें डॉ० जाकिर हुसेन और आर्यनायकम्‌जी थे।

१९४७ की बात है। बापू पटना आये हुए थे। स्वभावतः सभी रचनात्मक कार्यकर्ता वहाँ एकत्र थे। चरखा-संघ, तालीमी संघ आदि तमाम रचनात्मक संस्थाओं की बैठक रखी गयी थी। कई दिन बैठकें चलीं। और संस्थाओं का काम हो चुका था, चरखा-संघ की बैठक जारी

थी। हम लोग चर्चा कर ही रहे थे कि इस बीच आर्यनायकम्‌जी बापू से विदा लेने आये।

बापू ने पूछा : "इतनी जल्दी क्यों ?" जवाब में नायकम्‌जी ने यह सूचना दी कि कांग्रेस रचनात्मक समिति की ओर से उन्हें केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मन्त्री से मिलकर शिक्षा के बारे में योजना देनी है।

उनके पूछने पर नायकम्‌जी ने दादा की योजना कह सुनायी। बापू मुस्कराये। उन्होंने कहा : "प्रोफेसर से कहो कि रचनात्मक काम करने के लिए वह जगह नहीं है।" आगे चर्चा नहीं चली, लेकिन समझने के लिए बापू का इतना इशारा ही काफी है। तुम्हें मालूम है कि दादा द्वारा-प्रतिपादित कांग्रेस रचनात्मक विभाग विशेष कुछ कर नहीं सका और आगे चलकर वह समाप्त हो गया।

ढेबरभाई का प्रयत्न

१९५५ में ढेबर भाई कांग्रेस-अध्यक्ष बने। वे पुराने रचनात्मक कार्य-कर्ता हैं। इस काम के लिए उनकी निष्ठा सर्वविदित है। कांग्रेस-अध्यक्ष बनते ही वे भी कांग्रेस के रचनात्मक विभाग का संगठन करने में जुट गये। जिस समय उनका नाम कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए आया था, उस समय मैं सौराष्ट्र के सनोसरा में होनेवाले अखिल भारतीय नयी तालीम-सम्मेलन में था। उसी समय उनसे मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। उनके मीठे स्वभाव ने मुझे आकर्षित किया और पहले परिचय में ही मित्रता हो गयी। स्वभावतः रचनात्मक विभाग के संगठन के बारे में वे मुझसे चर्चा करते रहे।

इन चर्चाओं के बीच एक बार मैंने ढेबर भाई से कहा कि कांग्रेस-संस्था पक्षगत राजनीति में इस तरह डूबी है कि उसके जरिये रचनात्मक काम के किये जाने में मुझे सन्देह है। लेकिन उनकी निष्ठा अटल थी। उन्होंने कहा : "कांग्रेस-संस्था से ही तो रचनात्मक काम हो सकेगा।" मैंने दादा कृपालानीजी की असफलता का जिक्र किया, तो उन्होंने कहा कि "उस समय की परिस्थिति से आज की परिस्थिति भिन्न है।

मैंने भी अधिक चर्चा न करके यथासम्भव सहयोग देने की ही कोशिश की। लेकिन पिछले तीन सालों का अनुभव यही बताता है कि ऐसा प्रयत्न सफल नहीं होता।

ऐसे अनुभव पर मन में एक विचार आता है। आखिर रचनात्मक काम का उद्देश्य क्या है? अगर इसका उद्देश्य पिछड़े हुए देश का निर्माण मात्र है, तो कांग्रेस-दल के हाथ में सत्ता रहते हुए अलग से रचनात्मक काम करने की उसे क्या आवश्यकता है? राज्य होने के कारण जिस संस्था के हाथ में देशभर के साधन मौजूद हैं, वह जिस रचनात्मक काम को करना चाहे, उसे सरकारी तंत्र द्वारा तो चला ही सकती है, तो उसे अलग से रचनात्मक कार्यक्रम बनाने की क्या जरूरत है? अगर कांग्रेस संस्था यह समझती है कि सरकार जिस ढंग से चलाती है, वह ढंग ठीक नहीं है, तो सत्ताधारी दल द्वारा ऐसा समझना कहाँ तक ठीक है? अगर वह मानती है कि सरकार जो कुछ भी चला रही है, वह ठीक है, तो अलग कार्यक्रम न बनाकर उसी सरकारी कार्यक्रम को मजबूत बनाने में उसे हाथ बँटाना चाहिए। शासनारूढ़ राजनीतिक संस्था द्वारा अलग से रचनात्मक काम की योजना बनाने के पीछे कुछ अन्तर्विरोध है, ऐसा मुझे लगता है। इस अन्तर्विरोध के रहते सफलता कैसे मिल सकती है?

सफलता क्यों नहीं मिलती?

अब रही विरोधी राजनीतिक पक्ष की बात। ये लोग भी रचनात्मक काम करने की बात करते हैं, लेकिन वहाँ कुछ होता नहीं दीखता है। इसके कारणों का भी पता लगाने की आवश्यकता है।

विरोधी पक्षों की स्थिति

प्रश्न यह है कि विरोधी दल की बुनियाद क्या है? विरोध वैचारिक है या व्यक्तिगत? अगर वैचारिक है, तो विचार-भेद की बुनियाद क्या है? इंग्लैण्ड में 'कन्जरवेटिव दल' तथा 'लेबर दल' के रूप में दो दल हैं। उनमें आर्थिक बुनियाद पर विचार-भेद है। कभी-कभी विचारगत और व्यक्तिगत—दो में से एक भी न होकर—राज्य चलाने के बारे में मतभेद पर भी दल बन

सकते हैं। जैसे, इंग्लैंड के 'कन्जरवेटिव दल' और 'लिबरल दल' या अमेरिका के 'रिपब्लिकन दल' और 'डेमोक्रेटिक दल'।

इस सन्दर्भ में भारत के विभिन्न दलों पर विचार करने की आवश्यकता है। यहाँ कांग्रेस दल, समाजवादी दल, साम्प्रदायिक दल तथा कम्युनिस्ट दल हैं। साम्प्रदायिक और समाजवादी दलों की विभिन्न शाखाओं को मैं छोड़ देता हूँ। कांग्रेस के कथनानुसार उनका ध्येय भी समाजवाद है। कम्युनिस्ट दल का ध्येय भी समाजवाद है। पहले कम्युनिस्ट दल शान्तिमय लोकतन्त्रीय तरीके को नहीं मानता था। अब वह उसे मानने लगा है। इस प्रकार कांग्रेस, समाजवादी तथा कम्युनिस्ट दलों में वैचारिक भूमिका में विशेष भेद नहीं रह जाता है। काम करने के तरीकों में ही अन्तर है। ऐसी हालत में जब कम्युनिस्ट दल तथा समाजवादी दल राज-कीय कांग्रेस दल के विरोधी हैं, तो उनके लिए सरकार द्वारा चलाये जानेवाले रचनात्मक काम को छोड़कर और कौनसा रचनात्मक काम हो सकता है? विकेन्द्रित अर्थनीति को कांग्रेस तथा समाजवादी दोनों ही विशिष्ट मर्यादा में मानते हैं। कम्युनिस्ट भी उसे कुछ अंश में मानने लगे हैं। आज भारत में रचनात्मक काम मुख्यतः आर्थिक प्रश्न को ही लेकर है और वह भी बापू के कारण प्रधानतः चरखामूलक है। कम्युनिस्ट पार्टी को इन बातों में आस्था नहीं है। समाजवादी और कांग्रेस के लोग करीब-करीब एक राय के हैं। साम्प्रदायिक दलों के सामने समस्या रचना की नहीं है, बल्कि उनका काम तो शायद उस रचना को सँभालने का है, जो आज काल-प्रवाह से टूट रही है। अतः नयी रचना का प्रश्न उनके सामने नहीं आता। कुछ आर्तजनों की सहायता उनके दायरे में आ सकती है, लेकिन जन-कल्याणकारी राज्यवाद के युग में गैर सरकारी राहत के काम का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। ऐसी हालत में विरोधी दलों के लिए कोई स्वतन्त्र रचनात्मक काम बचता ही नहीं है।

भारतीय दृष्टि से विचार

तुम कहोगी कि कांग्रेस, समाजवादी तथा कम्युनिस्ट दलों के बुनि-

वादी विचार एक होने पर भी कार्य-शैली में कुछ अन्तर है और उस अन्तर के कारण वे स्वतन्त्र रूप से अपनी पद्धति से रचनात्मक काम कर सकते हैं और उन्हें ऐसा करना चाहिए। लेकिन ऐसा करने के लिए उनकी मानसिक तैयारी नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में राज्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र जन-शक्ति द्वारा राष्ट्र-निर्माण का कुछ भी काम हो सकता है, यह बात वे मानते नहीं हैं। राजनीतिक दल राजनीति पर ही विश्वास करेंगे। राज्य के बिना वे कोई नीति निर्धारित कर ही नहीं सकते। वे मानते हैं कि अपने विचार तथा अपनी नीति के अनुसार राष्ट्र-निर्माण तथा संचालन करने के लिए राज्य-सत्ता का अपने हाथ में होना अनिवार्य है। अतः राज्य-निरपेक्ष रचनात्मक काम के प्रति रुचि न रहना राज-नीतिक पक्षों का स्वभाव-धर्म है। इसलिए उनका समग्र चिन्तन तथा सम्पूर्ण शक्ति सत्ता को हाथ में लेने के सगठन में ही लगती है। अपने समय और शक्ति को दूसरे कामों मे लगाकर उसका अपव्यय करना वे नहीं चाहते।

कार्य-शैली में अन्तर

तुम कहोगी कि माना, यह बात सही है; फिर भी सत्ता हाथ में लेने के लिए उनके लिए रचनात्मक काम करना फायदे का होगा। कारण, प्रत्यक्ष रचनात्मक कार्य द्वारा जन-सेवा करने से उनकी लोकप्रियता बढ़ेगी, तो उन्हें वोट भी ज्यादा मिलेगा। तुम्हारा यह विचार टिकनेवाला नहीं है। यह तब होता, जब व्यक्तिगत लोकप्रियता ही चुनाव की बुनियाद होती। हर पक्ष की यही निष्ठा है कि चुनाव व्यक्तिगत बुनियाद पर न होकर पार्टीगत बुनियाद पर होना चाहिए। वे व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर वोट नहीं माँगते हैं, बल्कि पक्ष के घोषणा-पत्र के आधार पर माँगते हैं। हर पक्ष के लोग मतदाताओं को समझाते हैं कि उनके पक्ष की नीति से जनता को लाभ है, इसलिए अपने पक्ष के अदना-सा आदमी को भी वोट देने का वे आग्रह करते हैं।

रचनात्मक कार्य में बाधा क्यों ?

तुम्हें याद होगा कि अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ ने पहले चुनाव सम्बन्धी अपने प्रस्ताव में जब यह कहा था कि मतदाता सज्जन व्यक्ति देखकर, न कि पार्टी देखकर वोट दें, तो हर पक्षवाले को इस प्रस्ताव से असन्तोष हुआ था। दूसरे चुनाव में सर्व-सेवा-संघ ने जब आगे बढ़कर विभिन्न पक्षों के सदस्यों को यह सलाह दी कि वे अपने पक्ष के खराब आदमी को वोट देने के बजाय वोट एकदम न देना कबूल करें, तो विभिन्न पक्षों के लोगों का असन्तोष पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। ऐसी हालत में रचनात्मक कार्य से लोकप्रियता हासिल करना भी दलगत राजनीति के स्वधर्म में बैठता नहीं। इसलिए रचनात्मक काम के बजाय अपने दल का संगठन तथा वजन बढ़ाने में लगे रहना उनके लिए अधिक स्वाभाविक है। वजन बढ़ाने का मतलब है, उनके गाँव में जो लोग वजनदार हैं उन्हें अपने पक्ष में करने की चेष्टा। इस पूँजीवादी, जातिवादी तथा जमींदारी समाज में किनका वजन है, यह आसानी से समझ सकती हो।

राजनीति में स्वधर्म से बाधा

वस्तुतः रचनात्मक कार्य के बारे में हमारे देश में स्पष्ट चिन्तन नहीं है। बापू के प्रति श्रद्धा के कारण हर पक्ष के लोगों का उनके कार्यक्रम के प्रति आदरभाव है। इसलिए वे सब इन कामों के प्रति शुभ कामना रखते हैं। शायद कुछ सहयोग भी करना चाहते हैं। लेकिन राजनीति के स्वभाव और स्वधर्म के कारण वे प्रत्यक्ष कुछ कर नहीं पाते। जो लोग बापू के रचनात्मक कार्यक्रम में निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं, उन्हें भी स्पष्ट विचार करने की आवश्यकता है।

इसके लिए राज्य-संस्था के इतिहास पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। आरम्भ में मनुष्य ने राज्य-संस्था का निर्माण इसलिए किया था कि आवश्यकता पड़ने पर वह उसका इस्तेमाल कर सके। राजा रक्षा के लिए ही था। यज्ञ में ताड़का की तरह कोई विघ्न डाले, तो उस स्थिति में राज्य का उपयोग था। धीरे-धीरे जनता अपने सुख और सुविधा के लिए राज्य

पर अधिक जिम्मेदारी सौंपने लगी और आज राज्य का स्वरूप रक्षाकारी मात्र न रहकर कल्याणकारी हो गया है। स्वभावतः आज की जनता की अपेक्षा यह है कि उसके समग्र कल्याण की तथा उसकी सारी समस्याओं के समाधान की जिम्मेदारी राज्य की है। जनता का काम केवल इतना ही है कि वह राज्य-सचालक चुन दे और उसके हाथ आवश्यक साधन दे दे।

तुम कहोगी कि जनता केवल राज्य-संचालक नहीं चुनती है, बल्कि विरोधी दल के रूप में उनके लिए एक प्रहरी भी चुनती है। पर यह बात सही नहीं है। जनता प्रहरी चुनने की दृष्टि से किसीको वोट नहीं देती है। वोट राज्य-सचालन के लिए ही दिया जाता है। फिर जिस दल के प्रतिनिधि यथेष्ट सख्या में नहीं चुने गये, यानी जिस दल को बहुमत ने अयोग्य समझा, वह राज्य-संचालन का प्रहरी बना। भला सोचो तो सही कि तुम यदि किसी काम के लिए अयोग्य हो, तो उस काम के लिए दूसरे योग्य व्यक्ति की निरीक्षिका कैसे बन सकती हो?

तो, आज का राज्य कल्याणकारी राज्य है। इसलिए जन-कल्याण की जिम्मेदारी उस पर है। जनता उस कल्याण-कार्य के लिए टैक्स देती है। फिर उसी काम के लिए स्वतन्त्र रचनात्मक संस्था की आवश्यकता क्या है? आखिर हमारा रचनात्मक काम जनता के चन्दे से चलता है। जनता एक ही काम के लिए दुबारा टैक्स क्यों दे? आज अगर देती है, तो केवल दान-धर्म की परम्परा के कारण, काम की वैचारिक मान्यता के कारण नहीं। जैसे-जैसे कल्याणकारी राज्यवाद का विचार स्पष्ट होता जायगा, वैसे-वैसे एक ही काम के लिए दुबारा कर देने का सिलसिला समाप्त होता जायगा। यह तो व्यावहारिक पहलू है। सिद्धान्त की दृष्टि से भी जिस जन-कल्याण के काम को सरकार करती है, उसे हम सरकार से बाहर अलग बैठकर क्यों करें? तुम कहोगी कि सरकारी लोग उसे अच्छी तरह से नहीं कर सकते हैं, तो फिर हम ही सरकारी लोग बनकर उसे अच्छी तरह से क्यों न चलायें?

अतएव स्वतन्त्र कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्र रचनात्मक कार्यकर्ताओं को अपनी दृष्टि साफ कर लेनी चाहिए। स्वतन्त्र देश में हर व्यक्ति को इन तीन में से एक स्थिति स्वीकार करनी चाहिए :

कार्यकर्ता दृष्टि साफ कर लें

(१) अगर वे कल्याण-कार्य को ही मानते हैं, तो उन्हें कल्याणकारी राज्य में घुसकर उसे परिपुष्ट करना चाहिए।

(२) अगर वे मानते हैं कि जो लोग राज्य में हैं, उनके रहते यह काम अच्छी तरह से किया नहीं जा सकता है, तो उन्हें किसी विरोधी दल में शामिल होकर या अपनी दृष्टि से विरोधी दल का संगठन कर राज्य-सत्ता अपने हाथ में लेनी चाहिए।

(३) इन दोनों बातों में जिनकी आस्था नहीं है, उन्हें केवल कल्याण-कार्य में न लगकर नयी सामाजिक मान्यता को स्थापित करने के काम में लगना चाहिए।

पुरानी सामाजिक मान्यता के सन्दर्भ में केवल कल्याण-कार्य के लिए राज्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र संस्था का कोई अर्थ नहीं है। ○ ○ ○

सेवापुरी : एक प्रशिक्षण-केन्द्र : ९ :

श्रमभारती, खादीग्राम
११-४-'५८

सेवापुरी का लोक-सेवक-संघ असफल हुआ। सादिक भाई दिल्ली चले गये और वह केन्द्र फिर से गांधी आश्रम की शाखा बना। इस बीच चरखा-संघ के काम में मैं काफी व्यस्त हो गया। संघ के नये प्रस्ताव के अनुसार मैं विकेन्द्रीकरण की दिशा में लगा रहा। इस सिलसिले में देश का दौरा करने की आवश्यकता थी। सेवापुरी के काम को मैं देखता अवश्य था, लेकिन उसके लिए अपनी जिम्मेदारी मैंने नहीं मानी थी। केन्द्र के आश्रम में लौटने पर भी आश्रम के साथियों ने भी मेरी जिम्मेदारी नहीं मानी थी। लेकिन मैं बराबर वहाँ जाता रहा। करण भाई मुझसे जो भी सलाह चाहते थे, ले लेते थे।

सेवापुरी के काम के लिए सलाह मैं अवश्य देता था, लेकिन उसके बारे में मैं निर्णय नहीं कर पा रहा था कि इसका स्वरूप क्या हो। चरखा-संघ के नव-संस्करण के पीछे जो दृष्टि थी, गांधी आश्रम की दृष्टि वह नहीं थी। उत्तर प्रदेश में नयी तालीम का काम बिलकुल नहीं हो रहा था। इसलिए मैंने सोचा था कि नयी तालीम का कुछ काम करने के लिए सेवापुरी की उपयोगिता है। लेकिन आश्रम ने उस काम को बन्द कर दिया था। इसके अलावा गांधी आश्रम ने सेवापुरी की कोई विशेष उपयोगिता नहीं समझी और उसने उसके लिए खर्च करना भी उचित नहीं माना। ऐसी हालत में मैंने करण भाई को यह सलाह दी कि वे सेवापुरी को सरकारी ग्राम सुधार के कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण-केन्द्र बनायें। साथ ही साथ गांधी आश्रम अपने काम के लिए कार्यकर्ता-शिक्षण की आव-

सेवापुरी में प्रशिक्षण-केन्द्र

श्यकता यदि महसूस करे, तो उन लोगों की ट्रेनिंग भी वहाँ पर हो। इस तरह सेवापुरी एक स्वतन्त्र क्रान्तिकारी केन्द्र न बनकर एक गैर-सरकारी प्रशिक्षण-केन्द्र बन गया। बाद में गांधी-निधि की ओर से वहाँ नयी तालीम का भी काम चला। लेकिन मैं सोचता रहा कि आखिर इसका बुनियादी उद्देश्य क्या है तथा इसकी स्थिति क्या है? यह जिस संस्था की शाखा है, उसे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं। किसी नयी क्रान्ति का यह आधारभूत केन्द्र भी नहीं, इसे सरकारी केन्द्र भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह इसका कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं निखरता है। फिर भी देश के लिए यह उपयोगी संस्था है। यह ठीक से चले, यह चिन्ता मुझे थी। अपने व्यस्त कार्यक्रम में से जहाँ तक बन पड़ता था, मैं इसमें समय देता था।

इतने काम के लिए करण भाई की शक्ति पर्याप्त थी। १९३५ से वे मेरे साथ थे। मेरी दृष्टि को वे समझते थे और अपनी शक्तिभर उसे कार्यान्वित करते थे। इसलिए मैं निश्चिन्त था कि करण भाई इस काम को भलीभाँति कर लेंगे।

साथी कार्यकर्ताओं से अपेक्षा

यहाँ साथी कार्यकर्ताओं के बारे में दो शब्द कह दूँ। करण भाई उस काम को ठीक से चला लेंगे, यह विश्वास मुझे सिर्फ इसलिए नहीं था कि वे पिछले तेरह-चौदह साल तक हूबहू मेरे विचार के अनुसार काम करते रहे और आगे भी करेंगे, बल्कि इसलिए था कि मूल विचार के प्रति वे वफादार थे और काम अपनी समझ से करते थे। कभी-कभी मेरी राय और मेरे विचार के विरुद्ध भी वे जाते थे, लेकिन उसका कारण था स्वतन्त्र चिन्तन। उनके स्वतन्त्र चिन्तन का मुझे विश्वास था।

साथी कार्यकर्ताओं के बारे में हम अक्सर यह गलती करते हैं कि उनसे हमारी अपेक्षा यही रहती है कि वे हूबहू हमारे निर्देश के अनुसार ही काम करें। दुनिया में किन्हीं दो मनुष्यों की भी दृष्टि, विचार या राय हूबहू एक नहीं हो सकती। विचार और राय तो दूर की बात है, दो

मनुष्यों के अँगूठों के निशान भी एक-से नहीं होते। इसलिए यह बात मान ली लेनी चाहिए कि एक गोल के कई कार्यकर्ता जब एक साथ काम करते हैं, तो उनमें कभी एक ही मत या एक ही दृष्टि नहीं हो सकती। 'सम चिन्तन', 'सम-मति' जैसे शब्द एक प्रकार से काल्पनिक ही हैं।

सम-चिन्तन नहीं, सह-चिन्तन

वस्तुतः दो मनुष्यों में 'सम-चिन्तन' नहीं होता है, 'सह-चिन्तन' ही हो सकता है और 'सम्मति' के बदले में 'अनुमति' ही हो सकती है। उसे 'सहमति' भी कह सकते हैं। इस बुनियादी तत्त्व को यदि हम समझ लें, तो कार्यकर्ताओं के बारे में हमारी बहुत-सी समस्याएँ हल हो जायँ।

करण भाई पर जिम्मेदारी

करण भाई मेरे साथ रणीवाँ गये थे। उनका सामाजिक विचार पहले से ही मेरे विचार से भिन्न था। कार्यशैली अलग थी। काम की दिशा भी भिन्न थी। लेकिन हमारा मूल उद्देश्य एक था और वह था—'स्वराज्य-प्राप्ति' और 'राष्ट्र-सेवा'। समाज-क्रान्ति के सन्दर्भ में इस उद्देश्य में कोई फर्क नहीं था। उसके लिए वे कोई भी कष्ट उठाने में पीछे नहीं रहते थे। मेरे प्रति उनका व्यक्तिगत प्रेम था और एक अनुज के नाते मतभेद होते हुए भी 'अनुमति' थी। हालाँकि शुरू में ही मैंने उनसे कह दिया था कि "तुम मेरे साथ चल नहीं सकोगे", फिर भी तेईस साल से हम एक-दूसरे के साथ चलते आ रहे हैं। शुरू में ही मैंने उनके अन्दर की शक्ति तथा श्रद्धा की भावना देख ली थी और हमेशा उसके विकास की कोशिश करता था। आज वे जिस कोटि की सेवा कर रहे हैं, उससे स्पष्ट है कि उनके बारे में मेरा मूल्यांकन सही रहा है।

करण भाई सेवापुरी का काम केवल चला ही नहीं लेंगे, बल्कि उसके स्वरूप को विकसित भी कर सकेंगे, इस विश्वास के साथ मैं सेवापुरी का काम उनके जिम्मे छोड़कर चरखा-संघ के नव-संस्करण के काम में पूरे तौर से लग गया।

● ● ●

वैचारिक भूमिका बनी, उतनी भी बिहार में नहीं बनी। इस परिस्थिति को देखकर मेरे मन में शंका उठने लगी कि प्रान्तों को अलग करके हमने सही कदम उठाया या गलत !

लेकिन यह शंका अधिक दिनों तक नहीं टिकी। मैं सोचने लगा कि शायद ईश्वर का यही विधान है। चरखा-संघ यदि विकेन्द्रित नहीं होता, तो क्या हालत इससे अधिक अच्छी होती ? केन्द्र द्वारा संचालित संस्था में बहुत-सा कानूनवाद अनिवार्यतः चलता है, जिसके कारण नीचे के कार्यकर्ता अपनी प्रेरणा से बहुत कुछ नहीं कर पाते। तो मैं यह मानकर सन्तोष करने लगा कि अगर प्रान्तों को विकेन्द्रित नहीं किया गया होता, तो चरखा-संघ के मातहत काम चलाने पर वैचारिक भूमिका में परिवर्तन होता या नहीं, इसमें सन्देह ही था। बापू के सामने जो चीज नहीं हो सकी, वह मेरे जैसा छोटा आदमी करा लेगा, ऐसा सोचना भी कल्पनातीत था। इसलिए काम के स्वरूप में यदि परिवर्तन नहीं हो सका, तो कम-से-कम इतना तो हुआ कि प्रान्तीय स्तर की प्रेरणा, नेतृत्व तथा व्यवस्था से काम चल गया। इसलिए मैं यह सोचने लगा कि यह भी विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की दिशा में एक छोटा-सा कदम ही है।

निरुत्साह और मनोमंथन

विकेन्द्रीकरण की इस योजना से काम का स्वरूप बदलने की दिशा में विशेष लाभ न होता देखकर इस काम से मेरा उत्साह हट गया और मानसिक परेशानी बढ़ गयी। मन में यह प्रश्न उठने लगा कि चरखा-संघ के नव-संस्करण द्वारा चरखा से स्वराज्य प्राप्त करने का जो स्वप्न बापू देखते थे, वह क्या अव्यावहारिक था ! गहराई से विचार करने पर मुझे ऐसा नहीं लगता था, बल्कि उलटे यह प्रश्न उठता था कि क्या चरखा गरीबों को कुछ काम देने मात्र का साधन है ? अगर ऐसा ही है, तो आर्थिक तथा राजनीतिक केन्द्रवाद के चलते केवल राहत के साधन के रूप में चरखा टिक सकेगा ? अगर लोग कपड़ा पहनने के लिए न कातें और केवल रोजी कमाने के लिए कातें, तो उस कपड़े का क्या होगा !

क्या केवल भूतदया से प्रेरित होकर करोड़ों गज कपड़े की खरीददारी चलेगी ? बापू ने तीस साल से खादी पहनने के पीछे जो भावना पैदा की थी, वह भावना आर्थिक तथा राजनीतिक आधार के बिना क्या कायम रहेगी ? मुझे तो ऐसा दीखता नहीं था। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद *कांग्रेसजनों के दिल में खादी की भावना घटती नजर आ रही थी।* खादी-कार्यकर्ताओं का हाल भी कोई बेहतर नहीं था। वे खुद खादी पहनते थे, लेकिन परिवार के अन्य लोगों और बच्चों को खादी नहीं पहनाते थे। वे शायद खुद भी तभी तक पहनते थे, जब तक खादी-संस्था में काम करते थे।

ऐसा होना स्वाभाविक था। कांग्रेस ने चरखा तथा खादी को उसके मूल-विचार के सन्दर्भ में नहीं अपनाया था। उसने तो चरखे को बापू के नेतृत्व की कीमत ही मानी थी। तुम कहोगी कि कांग्रेस जैसी बड़ी संस्था के बारे में ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। लेकिन यह मेरा अनुमान-मात्र नहीं है। इस प्रकार के अनुमान के पीछे आधार भी है।

बापू के नेतृत्व की कीमत

कांग्रेस के अनेक बड़े-बड़े नेताओं के मुँह से असंख्य बार इसी भावना को व्यक्त होते मैंने सुना है। बापू कांग्रेस सदस्यता के लिए सूत कातने की शर्त कभी भी मनवा नहीं सके थे, यह तो तुम्हें मालूम ही है। वे भी कांग्रेसजनों की इस भावना से भलीभाँति परिचित थे। लेकिन एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के नाते वे चरखे को आगे बढ़ाने के प्रयत्न में लगे थे। कांग्रेस की दृष्टि का बोध बापू को भलीभाँति था—वह इस बात से प्रमाणित होता है कि १९४५ में जब बापू सेवाग्राम में चरखा-संघ तथा दूसरी रचनात्मक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के साथ चर्चा कर रहे थे, तो उन्होंने कांग्रेसजनों की चरखा-निष्ठा के बारे में कहा था कि कांग्रेस थोड़े ही चरखे को मानती है, वह तो उसे मेरे कारण बर्दाश्त करती है!

इस सिलसिले में देशभरमें एक बहुत बड़ी गलतफहमी फैली है,

उसे मैं साफ कर देना चाहता हूँ। यह गलतफहमी सिर्फ आम जनता में ही नहीं है, रचनात्मक कार्यकर्ताओं में भी काफी मात्रा में है। मैंने जब देशव्यापी दौरा किया, तो उस समय कार्यकर्ताओं की बैठकों में और आम सभाओं में अक्सर ही लोग मुझसे प्रश्न करते रहे हैं कि "आज जो नेता देश की बागडोर सँभाले हुए हैं, वे सब-के-सब गांधीजी के अनुयायी कहलाते हुए भी चरखा आदि बापू के कार्यक्रमों को प्रोत्साहित न करके केन्द्रित उद्योगों का संगठन क्यों कर रहे हैं?" इस प्रश्न के पीछे वस्तुस्थिति का अज्ञान ही एकमात्र कारण है। इस देश में गांधीजी के सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से पहले ही भारतीय कांग्रेस का जन्म हुआ था। यह एक राष्ट्रीय संस्था थी। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता इसका लक्ष्य था। गांधीजी के पहले राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए देश में अनेक प्रकार के प्रयोग हो चुके थे। माडरेट नेताओं द्वारा वैधानिक आन्दोलन और आतंकवादियों द्वारा आतंक फैलाने के कार्यक्रम की आजमाइश हो चुकी थी। ये सब प्रयोग विफल रहे। तीसरे कार्यक्रम के अभाव में देश में निराशा फैल रही थी। ऐसी परिस्थिति में जब गांधीजी असहयोग और सत्याग्रह का कार्यक्रम लेकर देश के सामने उपस्थित हुए, तो उन्हें इस नीति के पीछे आशा की एक किरण दिखाई पड़ी। सफलता में शंका होने पर भी निराशा की स्थिति में देशवासियों को एक उपयोगी विकल्प मिल गया। वे महसूस करने लगे कि ऐसी असहाय स्थिति में गांधीजी द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम में राष्ट्रीय पुरुषार्थ का अवसर है। कांग्रेस ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य से बापू के असहयोग-आन्दोलन को अपना लिया। बापू अत्यन्त कुशल सेनापति की भाँति देश को क्रमशः सफलता की ओर बढ़ाते गये। इस सफलता के कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए गांधी-नीति पर कांग्रेस की आस्था दृढ़ होती गयी।

एक गलतफहमी

कांग्रेस के नेताओं ने विदेशी राज्य से मुक्ति पाने के लिए गांधीजी की नीति को स्वीकार किया था, इसलिए यह नहीं मान लेना चाहिए कि

उन्होंने गांधीजी की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्ति की मान्यता को भी स्वीकार करलिया था। यों बारीकी से देखा जाय, तो लोगों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी की पद्धति को परिस्थिति के कारण ही स्वीकार किया था, सिद्धान्त के कारण नहीं। द्वितीय महायुद्ध के समय श्री स्टेफोर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय नेताओं से समझौता करने के लिए एक मिशन भारत में आया था। उस समय कांग्रेस कार्यसमिति ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए गांधीजी को नेतृत्व से जो मुक्ति दी थी, वह भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस घटना ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि भारतीय कांग्रेस राजनीतिक आजादी प्राप्त करने के लिए भी किस हद तक गांधीजी की अनुयायिनी थी।

गांधीजी की पद्धति क्यों स्वीकार की ?

विश्व में जार्ज वाशिंगटन, डी० वेलेरा, गैरीबाल्डी आदि अनेक राष्ट्र-नायकों ने स्वतन्त्रता-संग्राम का सफल नेतृत्व किया है। इन नेताओं ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी हैं। उसी तरह से भारत में गांधीजी की भी एक विशिष्ट पद्धति रही है।

गांधीजी विदेशी राज्य का हटना अपनी क्रान्ति के लिए यद्यपि पहला अनिवार्य कदम मानते थे, फिर भी उनके लिए स्वतत्रता साध्य नहीं थी, साधन थी। यही कारण था कि गांधीजी ने चरखा, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता-निवारण, बुनियादी तालीम आदि रचनात्मक कार्यक्रमों को स्वतन्त्रता-संग्राम की बुनियाद माना था। और वे सत्याग्रह की पूर्वतैयारी मे रचनात्मक कार्य को अनिवार्य बताते थे। जहाँ इस प्रकार का काम नहीं होता था, बड़े-से-बड़े नेताओं के आग्रह के बावजूद वे सत्याग्रह-संग्राम की इजाजत नहीं देते थे। इसलिए नेताओं को मूल सिद्धान्त के न मानने पर भी केवल सत्याग्रह की इजाजत पाने के लिए भी इन कार्यक्रमों का अनुमोदन करना पड़ता था। लगातार तीस साल तक इस प्रकार अनुमोदन करते-करते यह बात उनके स्वभाव में आ गयी थी।

कांग्रेस के वे नेता, जो कि वैचारिक भूमिका पर इन कार्यक्रमों के क्रान्तिकारी पहलू को नहीं भी मानते थे, जब निरन्तर इनका समर्थन करते थे, तो स्वयं उन्हें भी ऐसा लगता था कि वे बापू के मूल विचार को मान रहे हैं। कभी-कभी स्वयं बापू को भी ऐसा लगता था कि उन्होंने तीस साल में कांग्रेस को अपनी क्रान्ति के विचार में ढाल लिया है। स्वराज्य-प्राप्ति के तुरन्त बाद कांग्रेस-सरकार से आग्रहपूर्वक यह कहना कि वह कपड़े की नयी मिलें न खोले और पुरानी मिलों की मरम्मत न करके उन्हें क्रमशः समाप्त कर दे, उनकी इस धारणा का एक प्रमाण है। कुछ ही दिनों में बापू ने यह महसूस कर लिया था कि उनके साथी केवल राष्ट्रीय स्वाधीनता पाने तक के ही साथी रहे हैं, उनके द्वारा परिकल्पित स्वराज्य-स्थापना के साथी नहीं है। उनके बीच बीच के वक्तव्यों से ऐसा जाहिर होता था (जैसे उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता के लिए खादी पहनने की शर्त हटा देने की सलाह दी थी, ताकि लोगों मे ईमानदारी आ जाय)। इतना होने पर भी एक अत्यन्त आशावादी क्रान्तिकारी के नाते वे अन्त-अन्त तक कांग्रेस को अपनी क्रान्ति की ओर मोड़ने की आशा रखते थे। जिस दिन वे गये, उस दिन भी उन्होंने सलाह दी कि 'कांग्रेस सत्ता में न जाकर लोक-सेवक-संघ के रूप मे परिणत हो जाय', यह इस आशा का ज्वलन्त परिचय है।

इस गलतफहमी के निराकरण के लिए कांग्रेस के असली स्वरूप की स्पष्ट धारणा आवश्यक है। मैं बता चुका हूँ कि कांग्रेस स्वतन्त्रता-प्राप्ति का

संयुक्त कार्यक्रम के बाद

ध्येय रखनेवाली एक राष्ट्रवादी संस्था थी। वह समाज-क्रान्ति के उद्देश्य से परिकल्पित तथा सगठित संस्था नहीं थी। विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक मान्यताएँ रखनेवाले व्यक्ति राष्ट्रीयता के आधार पर स्वाधीनता का संग्राम कर सकते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से सभी प्रकार के विचारवालों को स्वतन्त्रता प्रिय है। यही कारण था कि राष्ट्रीय कांग्रेस में सामन्तवादी, पूँजीवादी, सम्प्रदायवादी, समाजवादी तथा गांधी-विचारक

आदि सभी शामिल थे। स्वतन्त्रता प्राप्त करना सबके लिए समान ध्येय था। जब तक भारत को आजादी नहीं मिली थी, तब तक इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विचारवाले लोग कांग्रेस के झंडे के नीचे इकट्ठे थे। आजादी मिलते ही सबका संयुक्त कार्यक्रम समाप्त हो गया। राष्ट्र-निर्माण के सन्दर्भ में सब अपने-अपने विचार के अनुसार सोचने लगे। समाजवादियों ने अपना अलग दल बनाया। कम्युनिस्ट सन् '४२ के आन्दोलन के समय से ही अलग हो गये थे। गांधीजी के वे अनुयायी, जो स्वतन्त्र जनशक्ति के आधार पर समाज-निर्माण की बात सोचते थे, जनता के बीच चुपचाप रचनात्मक काम करने लगे। सम्प्रदायवादियों ने भी अलग होकर अपने-अपने पक्ष बनाये। कांग्रेस में वे ही लोग रहे, जो राष्ट्रवादी थे। हर देश में राष्ट्रवादियों का ही बहुमत होता है। विशिष्ट सामाजिक विचारक को सदा अत्यन्त अल्पमत लेकर ही प्रारंभ करना पड़ता है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि कांग्रेस के नये स्वरूप में भी देश का बहुमत ही शामिल रहे। यह सही है कि आज भी कांग्रेस में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो गांधी-विचार अथवा समाजवादी विचार रखते हैं और जो पिछले तीस वर्षों के पारिवारिक बन्धन के कारण कांग्रेस-परिवार में आज भी शामिल हैं तथा पूरी कांग्रेस को अपने विचार की ओर मोड़ने की कोशिश भी करते हैं। किन्तु कांग्रेस का मुख्य कलेवर आज शुद्ध राष्ट्रवादी है, जिसका ध्येय राष्ट्रीय कल्याण है। अतः जो लोग कांग्रेस की आलोचना करते हैं, उन्हें कांग्रेस के स्वरूप के बारे में सही स्थिति समझ लेना चाहिए, ताकि गलतफहमी के कारण वे उसके प्रति अन्याय न कर बैठें।

कहना था कुछ, पर बहक गया किधर! अतः आज यही तक!

● ● ●

श्रम विद्यापीठ, सर्वोदयनगर (पसना)
पो० कोराँव, जि० इलाहाबाद
१६-४-'५८

पीछे मैं बता चुका हूँ कि विभिन्न प्रान्तों में स्वतन्त्र संस्थाएँ बना देने से चरखा के नव-संस्करण की दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई। उन केन्द्रों का दौरा करके लौटने के बाद मैं कृष्णदास भाई तथा अन्य साथियों के साथ विचार-विमर्श करने लगा कि क्या यह नीति जारी रखनी चाहिए ? मैं सोचने लगा कि बजाय इसके कि हम अपने काम को हस्तान्तरित करें, हमें उसके रूपान्तर की ही चेष्टा करनी चाहिए। तदनुसार खादी में विश्वास रखनेवालों द्वारा छोटी-छोटी समितियों का संगठन आरम्भ हुआ। इन समितियों का नाम कताई-मंडल रखा गया।

कल्पना यह थी कि जहाँ कहीं पाँच या उससे अधिक ऐसे व्यक्ति मिल जायँ, जो चरखे के विचार को मानते हों, उनके द्वारा कताई-मंडलों का संगठन किया जाय। कताई-मंडल के सदस्य अपने इलाके में चरखे का प्रचार करते थे। सप्ताह में एक दिन एक जगह एकत्रित होकर सप्ताह-भर के कार्यक्रम का सिंहावलोकन करते थे तथा आगे की परिकल्पना बनाते थे। विचार यह था कि कताई-मंडल जैसे-जैसे सुचारु रूप से संगठित होते जाँय, वैसे-वैसे उन्हें सहायता देकर वस्त्र-स्वावलम्बन के आधार पर समग्र सेवा-केन्द्र का संगठन किया जाय। वस्त्र-स्वावलम्बन की चेष्टा में जो कुछ अतिरिक्त खादी बन जायगी, उसकी बिक्री चरखा-संघ तथा सम्बद्ध संस्था करे। मैं स्वयं दौरा करके तथा पत्रव्यवहारों के द्वारा इस विचार का प्रचार करता रहा। लेकिन इस प्रचार में मैं करीब-करीब

प्रगति भी हुई। लेकिन दो साल के अत्यधिक श्रम के कारण मेरा स्वास्थ्य बिलकुल गिर गया। मित्रों की राय से स्वास्थ्य-लाभ के लिए मैं उरुली काचन चला गया। मेरे उरुली काचन चले जाने के बाद बहनों का प्रशिक्षण-केन्द्र तोड़ दिया गया। मुझे लगा कि मैंने इसे शुरू करके शायद गलती की थी। पर मेरा यह विश्वास अब भी कायम है कि कार्यकर्ताओं को सपरिवार क्रान्ति-कार्य करना चाहिए।

नरसिंहपुर में प्रयोग

आज जब हमारी क्रान्ति ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्य के दर्जे तक पहुँच गयी है, तो क्रान्तिकारी की सपरिवार साधना की आवश्यकता पहले से अधिक हो गयी है। आजादी के आन्दोलन में स्त्रियाँ पुरानी रूढ़ि के अनुसार चलीं और कार्यकर्ता आजादी के आन्दोलन में शामिल रहे, इसमें कोई परस्पर विरोध नहीं था। कार्यकर्ता खुद रूढ़िग्रस्त रहते हुए भी स्वतन्त्रता-संग्राम का सैनिक बन सकता था। एक व्यक्ति सामन्तवादी, पूँजीवादी या अत्यन्त संकीर्ण सम्प्रदायवादी होते हुए भी विदेशी गुलामी से मुक्ति का आकांक्षी हो सकता है। लेकिन एक ही व्यक्ति एक ही साथ रूढ़िग्रस्त तथा क्रान्तिकारी, दोनों नहीं हो सकता। और जब वह सम्पत्ति-विसर्जन तथा ग्रामदान का विचार लोगों को समझाने जाता है, तो निस्सन्देह जो लोग ग्रामदान करेंगे, वे सब सपरिवार उस विचार में शामिल होंगे। अतः इसके प्रचारक को भी सपरिवार ही शामिल होना चाहिए।

क्रान्ति में परिवार भी शामिल हो

यह पूछा जा सकता है कि क्या स्त्रियाँ अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकतीं ! रख अवश्य सकती हैं और उन्हें रखना भी चाहिए, लेकिन विचार समझने के लिए उन्हें संयोजित अवसर मिलना चाहिए न ! उन्हें अन्धकार में रखकर हम मान लेते हैं कि वे क्रान्तिविरोधी ही होती हैं।

करीब छह महीने उरुली कानन में रहकर कुछ स्वास्थ्य-लाभ करके फिर मैं अखिल भारतीय दौरे में लग गया।

● ● ●

कोसी-क्षेत्र के अनुभव

: १२ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२-५-'५८

उरुली कांचन जाने के पहले मैंने बिहार का दौरा किया था। उस दौरे में बिहार खादी-समिति के प्रायः सभी प्रमुख केन्द्रों में भी गया था। उन दिनों मेरे मन में मिल-बहिष्कार की आवश्यकता का विचार चल रहा था। देश के विभिन्न प्रान्तों में रचनात्मक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं मे मिल की चीजों के इस्तेमाल के बारे मे कोई परहेज नहीं देखा। जिन संस्थाओं मे केवल ग्रामोद्योग का ही काम चलता था, वहाँ भी मिल का ही सामान इस्तेमाल किया जाता था। गांधी आश्रम में मै बहुत दिन पहले से ग्रामोद्योगी वस्तुओं के व्यवहार पर ही जोर देता रहा था। मेरे अत्यधिक आग्रह के कारण गांधी आश्रम में चक्की का रिवाज चला था। वह भी विचार-निष्ठा के कारण कम, मेरे प्रति साथियो के स्नेह के कारण अधिक था।

सारे भारत की रचनात्मक संस्थाओं की एक ही हालत देखकर मुझे बड़ी परेशानी हुई। आखिर लोग ग्रामोद्योग का काम क्यो चला रहे हैं?

ग्रामोद्योग का काम क्यों?

क्या सिर्फ इसलिए कि बापू ने कहा था या गरीबों को दो-चार पैसे की राहत पहुँचाने के लिए? रचनात्मक कार्यकर्ता अगर यह सब काम गरीबों को सिर्फ थोड़ी राहत पहुँचाने के लिए करते है, तो वे कहाँ पहुँचेंगे? क्या बापू का जन्म केवल यही सन्देश सुनाने के लिए हुआ था? यह भावना तो सनातन काल से चली आ रही है। आज भी धार्मिक लोग एकादशी, पूर्णिमा के दिन गरीबों को राहत पहुँचाने का धर्म निबाहते हैं। क्या केवल इतने के लिए ही हजारों की तादाद में

नौजवान त्याग करके गांधीजी के झण्डे के नीचे इकट्ठे हुए थे? अगर कहा जाय कि इसलिए नहीं हुए थे, उन्होंने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए त्याग किया था। अगर ऐसी बात है, तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद रचनात्मक काम क्यों किया जा रहा था? जब मैं कार्यकर्ताओं से इस प्रकार के प्रश्न करता था, तो उनमें से अधिकांश लोगों पर कोई असर नहीं होता था। कुछ लोग गम्भीरता से विचार करते थे और कुछ लोग मुझे fanatic (पागल) कहते थे।

बिहार में कार्यकर्ता शिविर

बिहार के दौरे में इस प्रकार के प्रश्नों से मेरा दिमाग उलझा हुआ था और मैं लक्ष्मी बाबू आदि साथियों से इसकी चर्चा करता था। मेरा निश्चित मत था कि खादी-ग्रामोद्योग या नयी तालीम की संस्थाओं को कम-से-कम भोजन-वस्त्र की वस्तुओं के लिए मिल का बहिष्कार करना चाहिए। लक्ष्मी बाबू, ध्वजा बाबू, रामदेव बाबू तथा बिहार खादी-समिति के दूसरे साथियों पर मेरी इस बात का बहुत असर हुआ। उन दिनों मैं मुख्यतः दो ही बातें करता था : एक वर्ग-संघर्ष की असारता और वर्ग-परिवर्तन की आवश्यकता एवं दूसरा मिल-बहिष्कार की अनिवार्यता। परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए मैं उसका जो गांधीवादी समाधान सुझाता था, उससे बिहार खादी-समिति के कार्यकर्ता काफी प्रभावित हुए। वे चाहते थे कि वहाँ के कार्यकर्ताओं से मैं और गहराई से चर्चा करूँ। वे यह भी चाहते थे कि मैं बिहार में कोई ऐसा केन्द्र खोलूँ, जहाँ वैचारिक सन्दर्भ में कुछ काम हो सके। इत्तफाक से हमारे एक कार्यकर्ता श्री तरुण भाई उन दिनों बीमार थे और उनके आराम के लिए लक्ष्मी बाबू ने तिरील में इन्तजाम किया था। तरुण भाई ने वहाँ रहते हुए कुछ काम करने की इच्छा प्रकट की। लक्ष्मी बाबू ने भी ऐसा चाहा कि कुछ हो। संयोग मिल जाने से तिरील में ही केन्द्र बनाने का निर्णय मैंने किया और वहाँ बिहार खादी-समिति के पचास मुख्य कार्यकर्ताओं का शिविर लेने की बात भी तय पायी।

बिहार खादी-समिति के लोग बड़ी दिलचस्पी से शरीर-श्रम का काम करते हुए दिन-रात चर्चा में भाग लेते रहे। मैंने उन्हें समझाया कि उन्हें निर्णय करना होगा कि वे खादी और ग्रामोद्योग का मिल-बहिष्कार का काम अर्थनीति के विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य से कर रहे हैं या गरीबों को कुछ राहत पहुँचाने की इच्छा से? अगर आर्थिक विकेन्द्रीकरण उनका लक्ष्य है, तो केन्द्रित उद्योगों को चलाते हुए क्या वह हो सकेगा? यदि नहीं हो सकेगा, तो यह आवश्यक है कि खादी और ग्रामोद्योग के कार्यकर्ता भोजन-वस्त्र की सामग्रियों के लिए केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार करें। यह बात उनकी समझ में आ गयी और उन्होंने अपने यहाँ मिल-बहिष्कार का संकल्प कर लिया। इतना ही नहीं, बल्कि उसी समय से उन्होंने प्रान्तभर में इसका प्रचार भी शुरू कर दिया।

संकल्प

बापू ने जब चरखा-संघ के नव-संस्करण की बात कही, तो सबसे पहले बिहार के भाइयों ने ही उस योजना को अमल में लाने की बात कही थी। तदनुसार बिहार चरखा-संघ सबसे पहले विकेन्द्रित हुआ था। उसके बाद बिहार खादी-समिति ने विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की योजना चलाने के लिए अनेक प्रकार से कोशिश की थी। लेकिन उन दिनों देश में कोई वैचारिक वातावरण न होने के कारण उनकी चेष्टा सफल नहीं हो रही थी। मैंने देखा कि लक्ष्मी बाबू के मन में इस बात की बड़ी ग्लानि है। यही कारण था कि जब मैंने बिहार का दौरा किया और जब उन्होंने मेरी विवेचना सुनी, तो वे गहराई से चर्चा करने को प्रेरित हुए थे। बिहार की ऐसी रुचि और मनोभावना देखकर मैं काफी उत्साहित हुआ और बिहार को विशेष रूप से समय देने लगा।

बिहार में अनुकूल वातावरण

१९५१ में हमेशा की भाँति कोसी-क्षेत्र में बाढ़ आयी और लोगों को बड़ी तकलीफ हुई। अखबारों में उस क्षेत्र की देहाती जनता की असहाय अवस्था का वर्णन पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि वहाँ जाकर

अपनी आँखों से देखना चाहिए। ऐसी निराशाजनक स्थिति में स्वावलम्बन तथा आत्म-निर्भरता की बात सुझायी जाय, तो लोग स्वभावतः उसे अपना लेंगे, ऐसा मैं मानता था। इसलिए मैंने उस क्षेत्र की स्थिति का गहराई से अध्ययन करने की बात सोची। अक्तूबर-नवम्बर में डेढ़ महीने उस क्षेत्र में पदयात्रा करने का विचार मैंने बिहार खादी समिति के गोपाल बाबू को लिख भेजा। उन्होंने निश्चित कार्यक्रम बनाकर मेरे पास भेज दिया। उन दिनों मेरा नियम यह था कि गाँव में जाकर किसी हरिजन के घर में ठहरता था। उस नियम के बारे मे भी मैंने उन्हे लिख दिया।

कोसी-क्षेत्र का दौरा

चार-पाँच मील का ही पड़ाव रखा जाता था। पड़ाव पर हजारों की संख्या में लोग भाषण सुनने आते थे और पचासों नौजवान साथ रुककर चर्चा करते थे। एक जिम्मेदार गांधीवादी समाज-क्रान्ति की बात करता है, वर्ग-निराकरण की बात करता है और उसकी प्रक्रिया उपस्थित करता है। वह औद्योगीकरण को मिटाने के लिए सरकारी कानून के अलावा बहिष्कार-आंदोलन की बात करता है। लोगों को यह सब अजीब मालूम होता था। लोगों ने मान रखा था, ऐसी बातें करना समाजवादियों का एकाधिकार है। वे मानते थे कि गांधीवाद एक श्रद्धा का विषय है। समाज की मान्यता में परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है, जैसा चल रहा है वैसा ही चले, सिर्फ समाज में जो झूठ, भ्रष्टाचार आदि चालू है, वह मिट जाय। लोग ईमानदार रहें और गरीबों के प्रति दया की भावना रहे। इतना हो जाय, तो गांधीजी की कल्पना का समाज बन जायगा। सर्वसाधारण की तो बात ही क्या, बहुत से जिम्मेदार कार्यकर्ता भी मुझसे इसी प्रकार की चर्चा करते थे। खादी के तथा गांधीजी के विचारों में कुछ नयापन होने के कारण मेरी सभाओं में काफी तादाद में लोग इकट्ठे होते थे। खादी-समिति के तत्त्वावधान में सभाओं का आयोजन होता था, इसलिए महिलाएँ भी पर्याप्त संख्या

जनता की दिलचस्पी

में आती थीं। नये प्रकार के समाजवादी विचार के कारण समाजवादी नौजवान तो बड़ी संख्या में आते ही थे।

तुम्हें मालूम ही है कि सभाओं तथा गोष्ठियों में मैं श्रोताओं से प्रश्न करने के लिए कहता हूँ। अतः नाना प्रकार के प्रश्न मुझसे किये जाते थे, जिनमें चुनाव सम्बन्धी प्रश्न अधिक होते थे। समाजवादी नौजवान ऐसे प्रश्न अधिक करते थे।

चुनाव सम्बन्धी प्रश्न

चुनाव के बारे में स्वभाव से मैं उदासीन रहता था। स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में कांग्रेस का सदस्य तो था ही, फिर भी कांग्रेस के आंतरिक चुनावों में अधिक रस नहीं लेता था। अब तो मैं कांग्रेस भी छोड़ चुका था। पक्षगत राजनीति के बारे में मेरा मत निश्चित हो चुका था। सर्व-सेवा-संघ के सदस्य चुनाव में भाग न लें, यह प्रश्न संघ के सामने मैं पहले ही रख चुका था। इसलिए चुनाव के सम्बन्ध में निरपेक्ष विचार प्रकट करता था। उस समय बिहार में समाजवादी दल का जोर था। वे लोग समझते थे कि बिहार में उनकी ही सरकार बनेगी। मैं जहाँ कहीं भी जाता था, तो उस दल के नौजवान बड़े विश्वास के साथ कहते थे कि कम-से-कम बिहार में तो समाजवादी दल की सरकार बनेगी ही। वे मुझसे तरह-तरह के सवाल करके अपने पक्ष में कुछ राय निकाल लेना चाहते थे। मैंने चुनाव सम्बन्धी प्रश्नों को टालने की ही नीति रखी थी। एक जगह बड़ा दिलचस्प प्रश्नोत्तर हुआ।

एक मनोरंजक प्रश्नोत्तर

शायद नवम्बर का महीना था। चार महीने में भारतीय संविधान के अनुसार पहला आम चुनाव होनेवाला था। अतः चुनाव की चर्चा जोरों पर थी। समाजवादी दल के युवकों ने एक सभा के बाद प्रश्न करना शुरू किया :

प्रश्न : अगले चुनाव में आपकी राय में किसे वोट देना चाहिए?

मैं : वोटर की राय में जो ठीक हो, उसीको वोट देना चाहिए।

प्रश्न : लेकिन नेता लोगों को तो बताना चाहिए ?

उत्तर : नेता का स्थान वही है, जो स्कूल के अध्यापक का है। वह सालभर पढ़ाता है, लेकिन परीक्षा के समय यह नहीं बता देता कि क्या लिखना है ? देश की भलाई-बुराई, समाज-व्यवस्था की रूपरेखा, आर्थिक परिकल्पना आदि के बारे में नेता भी जनता के शिक्षण में लगा रहेगा। वोट तो परीक्षा का भवन है। अमुक व्यक्ति को वोट देना चाहिए, ऐसा कहना तो परीक्षा में रटा देने जैसा है।

प्रश्न : लेकिन आपकी अपनी राय क्या है ?

उत्तर : मेरी राय यह है कि पक्षगत राजनीति ही देश के लिए हानिकारक है। अतएव पक्ष के आधार पर वोट न देकर व्यक्ति के आधार पर देना चाहिए और जिस चुनाव-क्षेत्र में जिस पक्ष का व्यक्ति अच्छा और सज्जन हो, उसीको वोट देना चाहिए।

प्रश्न : अच्छा, यह बताइये कि आपने पदयात्रा के बीच जो इतने लोगों से सम्पर्क किया, उससे क्या अध्ययन किया ? कांग्रेस के प्रति जनता की राय कैसी है ?

उत्तर : जनता की राय इतनी जल्दी नहीं समझी जा सकती है। उसके पेट में एक बात होती है, मुँह में दूसरी। इसलिए निश्चित रूप से राय नहीं दी जा सकती।

इतने में प्रश्नकर्ता कहने लगा कि "आप कहना नहीं चाहते।" उसके बाद सभा विसर्जित हो गयी।

खाना खाने के बाद रात के समय एक स्कूल में ठहरा था। वहाँ तीस-चालीस युवक मिलने आये। वे सब समाजवादी दल के थे। मेरे

जनता किसे वोट देगी ?

भाषण से वे काफी प्रभावित थे। वे अनेक विषयों पर चर्चा करने लगे। मैंने उन्हें समझाया कि पाश्चात्य समाजवाद कितना अधूरा है और उसमें कहाँ-कहाँ तानाशाही की गुंजाइश है। अन्त में उन्होंने कहा : "अब तो आम सभा नहीं है। अब बताइये कि आपने परिस्थिति के

अध्ययन से क्या समझा ? क्या जनता कांग्रेस के अत्यन्त विरुद्ध नहीं है ? क्या विहार में समाजवादी सरकार बनने की सम्भावना नहीं दीखती ?" मैंने उनसे कहा कि "मुझे इसकी सम्भावना नहीं दीखती। मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि मतदाता अपने घर से कांग्रेस को गाली देते हुए निकलेंगे, रास्तेभर उसे कोसते चलेंगे। वैलट बक्स के सामने खड़े होकर भी दस बार गाली देंगे, लेकिन पर्चा कांग्रेस के ही बक्से में डालेंगे।"

युवकों को मेरी बातों से आश्चर्य हुआ। वे कहने लगे कि इतनी गाली देने का स्वाभाविक नतीजा तो यह होना चाहिए कि दूसरी पार्टी को वोट देना चाहिए। मैंने उनसे कहा कि "आप जनता की कसौटी जैसे वस्तुस्थिति से अलग रहनेवाले पढ़े-लिखे लोगों का तर्क और होता है और जीवन-संग्राम में फँसी जनता का तर्क कुछ और ही। दोनों में फर्क है। जनता का तर्क अपने ढंग का होता है और उसके अनुसार वह हिसाब भी लगा लेती है। वह आज के सत्तारूढ़ कांग्रेस-जन को देखती है और सत्ता-प्राप्ति की कोशिश करनेवाले आप लोगों को भी देखती है। फिर आपके आज के चरित्र और रवैया के साथ कांग्रेस-जन जब सत्तारूढ़ नहीं थे और उसकी प्राप्ति में लगे हुए थे, उस समय के उनके चरित्र और रवैया का मुकाबला करती है। इस मुकाबले में आप हलके पड़ते हैं। जनता का गणित इस प्रकार का होता है—

कांग्रेस-जन सत्ता-प्राप्ति की चेष्टा में = १००% चरित्र।

सत्ता में पहुँचने पर चरित्र में ४०% की हानि।

अर्थात् सत्तारूढ़ कांग्रेस-जन का चरित्र = १००°—४०° चरित्र = ६०° चरित्र।

दूसरी तरफ सत्ता-प्राप्ति की चेष्टा में आप लोग हैं। मान लीजिये कि आपका मूल्यांकन वह ८०% करती है। तो यदि आप लोग सत्ता में जायेंगे, तो आपका चरित्र ८०°—४०° = ४०° होगा। ऐसी उसकी

मान्यता है। इसलिए कांग्रेस से असन्तुष्ट रहने पर भी जनता कांग्रेस को ही वोट देगी, ऐसा निश्चय मानिये।"

ये नौजवान अकबकाये तो जरूर, फिर भी बड़ी देर तक बहस करते रहे। मैंने उन्हें इन्द्र के उदाहरण से समझाया कि इन्द्र किसी व्यक्ति का नाम नहीं, पद का नाम है। जो कोई सबसे कठोर तपस्या करेगा, उसे इन्द्र का पद मिलेगा। आप लोग इतनी जल्दी इन्द्रपद पाने के चक्कर में न पड़कर कांग्रेसवालों से अधिक तपस्या कैसे हो, उसकी चिन्ता करिये। उनसे अधिक जन-सेवा करिये।

कठोर तपस्या करिये

दरभंगा जिले के मधुबनी सबडिवीजन में मेरी यह पदयात्रा एक नया अनुभव थी। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद गाँव-गाँव में इस प्रकार घूमने का यह पहला अवसर था। '४७-'४८ के बीच एक साल मैं रणीवाँ अवश्य रहा, लेकिन वहाँ के देहातों को हम लोगों ने अपने ढंग से बना लिया था। इसलिए उन दिनों की भारतीय ग्रामीण परिस्थिति का पूर्ण अनुभव रणीवाँ के आसपास के गाँवों से नहीं मिल सकता था। फिर बाढ़-क्षेत्र होने के कारण यहाँ की परिस्थिति विशेष प्रकार की थी। लोगों में निराशा थी। स्वराज्य-प्राप्ति से जो आशा बँधी थी, वह भी कुछ दिखाई नहीं देती थी। पहले जिन लोगों का सहारा था, वे ही आज अधिकार में चले गये। अधिकारियों के रवैये में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ था। लोग इन तमाम बातों को बयान करते थे। अगर उस इलाके में खादी-समिति के केन्द्रों का जाल बिछा हुआ नहीं रहता, तो लोगों की जैसी मनोवृत्ति थी, उसे देखते हुए मुझे ऐसा लगा कि मेरी दुर्दशा ही हो जाती। अत्यन्त निराशा के वातावरण में चरखा ही एकमात्र उनके लिए प्रकाशस्तम्भ था। चरखा-संघ के अध्यक्ष के नाते लोग मेरा आदर करते थे, क्योंकि चरखे के लिए उनके मन में बड़ा आदर था।

रणीवाँ की स्थिति से अन्तर

जनता केन्द्रीय शासन-प्रणाली से इतनी ऊबी हुई थी कि वह मेरे

ग्रामराज्य के विचार को अच्छी तरह समझने लगी। मैं उसे समझाता था कि अगर वे गाँव-गाँव में ग्रामराज्य स्थापित नहीं करेंगे ग्रामराज्य पर जोर और नौकरशाही के भरोसे रहेंगे, तो जनता के पास जो कुछ बचा-खुचा है, वह भी समाप्त हो जायगा। जनता के सामने मैं नौकरशाही का चित्र खींचता था। मै बताता था कि किस तरह एक-एक प्रकार की सेवा के बहाने एक-एक विभाग खुला हुआ है और हर विभाग मे सैकड़ों लोग पतलून पहनकर घूमते रहते हैं। मैं जनता को समझाता था कि जब तक वह इन पतलूनधारियों को विदा नहीं करेगी, तब तक उसकी सारी सम्पत्ति का शोषण समाप्त नहीं होगा। मैं यह भी बताता था कि नौकरशाही रूपी विराट् फौज को पालने में, जनता का कितना आर्थिक शोषण होता है। मैं कहता था कि इसके निराकरण का उपाय कताई-मंडल ही है। कताई-मंडल आत्म-संगठन की शुरुआत मात्र है, लेकिन धीरे-धीरे गाँव की सारी समस्याओं का समाधान तथा व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अन्ततोगत्वा राजकीय विभागों को समाप्त करना होगा।

एक बाढ़-पीड़ित गाँव में एक सरकारी दवाखाना खुला था। मालूम हुआ कि उस दवाखाने पर २४००० रु० सालाना खर्च होता था, जिसमें दवा की मद में ३०००), ४०००) लगता था। इसका उदाहरण मैं जगह-जगह दिया करता था।

इस पदयात्रा से जनता को कितनी प्रेरणा मिली, यह तो मुझे मालूम नहीं, लेकिन खादी समिति के कार्यकर्ताओं में नयी जाग्रति अवश्य हुई। वे समझने लगे कि वे क्रान्ति का काम खादी-कार्यकर्ताओं कर रहे हैं। खादी के कार्यकर्ता अपने को हारा हुआ में उत्साह मानते थे। वे समाजवादी लोगों को ही क्रान्तिकारी मानते थे। अब उन्हें महसूस होने लगा कि उनसे वे सौ साल आगे हैं।

दूसरी ओर कांग्रेस-जनों पर उलटा असर पड़ा। मैं जो

कांग्रेस-जनों पर उलटा असर

राजनीति का विवेचन करता था, उसे वे अपने खिलाफ कटु आलोचना मानते थे। राजनीति-शास्त्र का वह एक मूल विचार है, ऐसा वे समझ नहीं पाते थे। पहले भी जब मैंने बिहार का दौरा किया था, तो बिहार के कांग्रेस-जन मुझसे नाराज थे, अब तो वे और ज्यादा नाराज हो गये। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य तो होता ही था, दुःख भी होता था। उत्तर प्रदेश में जब मैं ग्रामों में अपने विचारों का प्रचार करता था, तब ऐसा अनुभव नहीं आया था। लेकिन बिहार में ऐसा नहीं हुआ। वे मेरी बातों को अपने खिलाफ प्रचार मान बैठे। यह बड़े दुःख की बात है कि सत्ताधारी दल के सामान्य कार्यकर्ताओं का ही नहीं, बड़े नेताओं का भी बौद्धिक स्तर इस प्रकार हो! मुझे इसलिए और ज्यादा दुःख होता था कि मुझे कांग्रेस-दल का कोई विकल्प नहीं दिखलाई देता था। ऐसी परिस्थिति तानाशाही की जननी होती है। लेकिन दुःख मानने से समाधान तो होता नहीं, इसलिए मैं निश्चिन्त था। ○ ● ●

समग्र विद्यालय का जन्म : १३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२५-६-'५८

१९४८ के रचनात्मक सम्मेलन में विनोबाजी ने सर्वोदय-समाज की कल्पना देकर रचनात्मक कार्यकर्ताओं को काफी प्रोत्साहित किया, यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ। उसीके साथ-साथ सर्व-सेवा-संघ का जन्म हुआ, यह तो मालूम ही है। उसके बाद विनोबाजी देश के विभिन्न स्थानों में यात्रा कर सर्वोदय-दर्शन पर प्रकाश डालते रहे। लेकिन रचनात्मक कार्यकर्ताओं के लिए कोई निश्चित नेतृत्व उपस्थित नहीं हो सका। उनमें पूर्ववत् निराशा तथा निष्क्रियता बनी रही। सर्व-सेवा-संघ बना तो जरूर, पर विभिन्न संस्थाएँ अपने ढंग पर ही अपना कार्यक्रम चलाती रहीं। उनके कामों में एकरसता नहीं हो पायी। इन तमाम कारणों से सेवाग्राम के सम्मेलन में से विशेष निष्कर्ष नहीं निकला। रचनात्मक कार्यकर्ताओं के मन में व्याकुलता तथा उथल-पुथल बनी रही।

१९५० में उड़ीसा के अंगुल में द्वितीय सर्वोदय-सम्मेलन हुआ। वहाँ भी उचित नेतृत्व न मिलने के कारण कार्यकर्ता निराश ही लौटे।

कार्यकर्ताओं में निराशा

वर्धा में सर्व-सेवा-संघ की बैठक थी। शिवरामपल्ली में सम्मेलन होना तय हुआ। शंकररावजी देव ने प्रश्न उठाया कि विनोबाजी सम्मेलन में हाजिर रहेंगे या नहीं ? विनोबाजी ने वहाँ जाने की अनिच्छा प्रकट की। तब शंकररावजी देव ने यह प्रस्ताव रखा कि सम्मेलन न किया जाय। पिछले साल विनोबाजी की अनुपस्थिति से कार्यकर्ताओं को बड़ी निराशा हुई थी। इसलिए सबने इस बात पर जोर दिया कि विनोबाजी सम्मेलन में अवश्य हाजिर रहें। अन्ततः विनोबाजी मान गये और सम्मेलन की

तारीखें निश्चित कर दी गयीं। दूसरे दिन विनोबाजी ने अपना यह निर्णय सुनाया कि वे सम्मेलन में पैदल जायेंगे। यात्रा की इस नवीन प्रणाली ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं में नयी दिलचस्पी पैदा कर दी। लोग बड़े उत्साह से शिवरामपल्ली पहुँचे और वहाँ पर विनोबाजी से प्रेरणा लेकर वापस गये।

उन दिनों हैदराबाद के तेलंगाना जिले में अशान्ति की आग धधक रही थी। एक तरफ से कम्युनिस्ट पार्टी के हिंसात्मक संगठन ने और दूसरी तरफ से सरकारी दमन-चक्र ने वहाँ की जनता को त्रस्त कर रखा था। शिवरामपल्ली तक पहुँचकर विनोबाजी ने आग्रह किया कि वे तेलंगाना जाकर शांति का प्रयास करेंगे। वहाँ की भयावह परिस्थिति के कारण कुछ लोगों ने उन्हें वहाँ जाने से रोका, लेकिन वे नहीं माने और पैदल चल पड़े। यह यात्रा वैसी ही थी, जैसी बापू की नोआ-खाली-यात्रा।

विनोबा की तेलंगाना-यात्रा

विनोबाजी की तेलंगाना-यात्रा और उसके फलस्वरूप भूदान की गंगोत्री की कहानी आज देश का बच्चा-बच्चा जानता ही है। शान्ति का मार्ग खोजकर विनोबाजी सेवाग्राम लौटे।

सेवाग्राम आते ही उन्होंने वहाँ की संस्थाओं का आह्वान किया और उनसे कहा कि जहाँ बापू थे, जहाँ बापू द्वारा प्रतिष्ठित सारी संस्थाओं का केन्द्र है, जहाँ सैकड़ों कार्यकर्ता और अनेक नेता हैं, उस जिले से दुनिया को सर्वोदय का दर्शन मिलना चाहिए। वर्धा तहसील में सघन कार्य होना चाहिए और यह काम सभी संस्थाएँ मिलकर करें। विनोबाजी के आह्वान पर तमाम संस्थाओं की सम्मिलित समिति बनी और विनोबाजी के मार्गदर्शन में काम करने के लिए योजना भी बनी। वह सितम्बर का महीना था। उस समय हमारे अधिकांश कार्यकर्ता सेवाग्राम में मौजूद थे।

विनोबा का आह्वान

यह तो हुआ, लेकिन दूसरे ही दिन एकाएक मालूम हुआ कि विनोबाजी पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिलने के लिए दिल्ली की ओर पदयात्रा करनेवाले हैं। यह सुनकर हमें बड़ा अजीब-सा लगा।

सेवाग्राम से प्रस्थान

दूसरे दिन विनोबाजी को विदाई देने के लिए हम सेवाग्राम-आश्रम गये। प्रार्थना आदि के बाद विनोबाजी ने यात्रा प्रारम्भ कर दी। उनके साथ तालीमी संघ के बच्चे कीर्तन करते हुए चल रहे थे, हम भी उनके साथ हो लिये। चरखा-संघ के सामने से सड़क जहाँ स्टेशन की ओर मुड़ती है, वहीं से विनोबाजी ने सड़क छोड़ दी और पवनार की ओर मुड़ गये। वहीं तक सबके साथ चलकर मैं रुक गया और सडक पर बने हुए पुल पर बैठकर मैं देखता रहा कि यात्रा-दल किस तरह आगे बढ रहा है।

पहाड़ी रास्ता थोड़ी दूर चलकर नीचे की ओर चला गया है। अतएव यात्रा-टोली भी थोड़ी देर में अदृश्य हो गयी। लेकिन मैं बैठा-बैठा एकाग्रता से उस ओर देखता रहा। उस समय मैं क्या सोच रहा था, आज याद नहीं है; लेकिन एकाएक मेरे मन में विचार आया कि यह यात्रा साधारण नहीं है। इसका अन्त पण्डितजी से मिलने से ही नहीं होगा। गांधीजी द्वारा परिकल्पित क्रान्ति का यह पूर्वाभास है। इस यात्रा से देश में बापू की क्रान्ति निखरेगी, अर्थात् यह शुद्ध क्रान्ति-यात्रा है। क्रान्ति-यात्रा का आरम्भ हो रहा है, इस बात की कल्पना से ही मेरा सारा अन्तर नाच उठा। मैं विह्वल-सा हो उठा। मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। कुछ देर बाद मैं चरखा-संघ में अपने कमरे पर लौटा और लेट गया। मैं सोचने लगा कि यह क्रान्ति जब निकलेगी, तब हम लोग कहाँ रहेंगे। मैंने इतिहास तो पढ़ा नहीं, प्रसंगवश तुम लोगों से सुना जरूर है; लेकिन ऐसा लगता था कि आजादी के आन्दोलन का इतिहास आँखों के सामने मानो चलचित्र जैसा गुजर रहा था। दादाभाई नौरोजी

क्रान्ति-यात्रा का श्रीगणेश

ने स्वराज्य का मंत्र दिया, गोखले आदि बड़े-बड़े नेताओं ने उसे सींचा, यों आजादी का आन्दोलन चला। फिर १९०५ में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में एक नयी लहर आयी। इस लहर में वे नेता और कार्यकर्ता नहीं थे, जो गोखले के साथ थे। उन्हें 'माडरेट' कहा गया। तिलक के साथ नया नेतृत्व निर्माण हुआ। फिर आन्दोलन आगे चला। १९२१ में गांधीजी के कारण उसमें एक नयी लहर आयी। मैंने देखा कि १९०५ से १९०७ के आन्दोलन में जो बड़े त्यागी तथा महान् कष्ट उठानेवाले नेता और कार्यकर्ता थे, वे उसमें शामिल नहीं हुए। १९०५ में खुली संस्थाएँ भी साथ नहीं हुईं। उनके बदले नये नेता आये, नये कार्यकर्ता निकले और नयी संस्थाएँ खड़ी हुईं। मैं सोचने लगा कि गांधीजी का मंत्र पाकर आगे बढ़नेवाले हम रचनात्मक कार्यकर्ता और हमारी ऐसी संस्थाएँ क्या विनोबाजी की क्रान्ति के वाहक बन सकेंगे? पिछले इतिहास के संदर्भ में मुझे ऐसा भरोसा नहीं हो रहा था। लेकिन चारा भी क्या था? विनोबा के साथ है कौन? बापू के क्रान्ति-बीज को सँभालनेवाले हमी लोग हो न? हम अगर इसके वाहन बनने में असमर्थ रहें, तो क्या निकलेगा?

ऐसे अनेक विचार मेरे मन में आते रहे। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय? फिर भी यह बेचैनी तो थी ही कि मौका आया है, तो कुछ करना ही चाहिए।

सोचते-सोचते १९२१ का चित्र सामने आया। मैं उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ता था। देश में आजादी के आन्दोलन की लहर उठी।

मेरा विचार-मन्थन

हमारे जैसे सैकड़ों नौजवान उस लहर की लपेट में आ गये। कॉलेज से निकल पड़ा। किधर जाऊँगा, इसका कोई पता नहीं था। गांधी आश्रम तथा काशी विद्यापीठ नया खुला था। वहाँ दादा से मुलाकात हुई। हम तीन-चार लड़के उनके साथ गांधी आश्रम में टिक गये। बाकी अधिकांश भटक गये और अन्त में घूम-फिरकर फिर कॉलेज में पहुँच गये। गांधी

आश्रम नया था और स्वभावतः उसमें नया विचार और नया जोश था। दादा जैसा तपस्वी गुरु उपलब्ध था। इसलिए आज भी क्रांति के संदर्भ में सोचने की वृत्ति रह गयी है। सोचा कि इस आन्दोलन में भी तो नये नौजवान आयेंगे, भले ही उनकी संख्या थोड़ी ही हो। मैं सोचने लगा कि यह एक सृजनात्मक क्रांति होगी, तो ऐसा कौन-सा स्थान हमारे पास है, जहाँ तपे हुए नौजवानों के लिए नया विचार और नये जोश की खुराक ही उपलब्ध हो सके। अपने पास सेवाग्राम और सेवापुरी के केन्द्र थे। उस समय तक मैं देश की सभी संस्थाओं को देख चुका था। पर कोई भी स्थान मुझे जँच नहीं रहा था। फिर मैंने सोचा कि सम्भव है कि अब तक की निराशाजनित परिस्थिति के कारण इन संस्थाओं में जान न हो। विनोबा क्रान्ति में परिस्थिति का निर्माण कर दें, तो सम्भव है कि इनमें प्राण आ जाय। इस सम्भावना को सोचकर मुझे थोड़ी सी तसल्ली हुई। लेकिन भीतर से कुछ समाधान नहीं हुआ और मेरा विचार-मन्थन जारी रहा।

मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि क्या ये संस्थाएँ आज की क्रांति की वाहक हो सकती हैं ? संदेह तो था ही, वह बढ़ता ही गया। सोचा कि इनका जन्म जिस नक्षत्र में हुआ, उस नक्षत्र का भी तो असर होगा। इनकी वैचारिक भूमिका तथा कार्यक्रम की दृष्टि राष्ट्रीय ही होगी। ऐसी हालत में ये समाज क्रांति का वाहन नहीं बन सकेंगी, यह धारणा दृढ़ होती गयी।

फिर यह भी खयाल आया कि जिस तरह दादा जैसे लोगों ने १९२१ में जहाँ-तहाँ बैठकर नयी-नयी संस्थाएँ बनायीं, उसी तरह हममें से भी कुछ लोगों को आगे आकर नये केन्द्र बनाने होंगे। इसी तरह की चिन्ता में कुछ समय बीत गया। एक दिन कृष्णदास भाई के साथ मैंने चर्चा की कि मुझे लगता है कि जिस क्रांति की बात मैं करता हूँ, उसके लिए हवा बन रही है। इसलिए यह जरूरी है कि चरखा-संघ के पास ऐसा शिक्षण-केन्द्र हो, जहाँ क्रान्ति के संदर्भ में आये हुए नौजवानों

को तालीम मिल सके। पिछले दो ढाई साल से मेरी प्रेरणा से कभी-कभी एक दो नौजवान विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़कर या नौकरी छोड़कर हमारे पास आने लगे थे। सबको तो मैं साथ नहीं रख सकता था, इसलिए मैं उन्हें खादी विद्यालय में भेज देता था; लेकिन वहाँ उन्हें भरपूर मानसिक खुराक नहीं मिलती थी और वे चले जाते थे। इस सम्बन्ध में चरखा-संघ के मित्र कई बार चर्चा कर चुके थे। इसलिए कृष्णदास भाई को भी इसमें दिलचस्पी थी।

समग्र विद्यालय की कल्पना

इसी साल कृष्णदास भाई के मंत्री पद की अवधि समाप्त हो चुकी थी। वे उससे मुक्त हो चुके थे और भाई अण्णासाहब सहस्रबुद्धे ने उनका पद संभाल लिया था। मैंने उनसे कहा कि "अब तो तुम दफ्तर की जिम्मेदारी से मुक्त हो। हम दोनों मिलकर इस विद्यालय का संगठन करें। मैं गाप चलाऊँगा और तुम उद्योग चलाना। इस तरह से हम दोनों एक-दूसरे के पूरक बनेंगे।" १९४५ में बापू ने भी चरखा-संघ के नव-संस्करण के साथ-साथ श्रद्धेय नरहरि पारीख को आचार्य बनाकर खादी विद्यालय को बदलकर समग्र ग्राम सेवा विद्यालय की स्थापना की थी। चरखा-संघ में नव-संस्करण का कार्यक्रम न चलने से स्वभावतः यह विद्यालय भी टूट गया था। हम दोनों ने उसके बारे में भी चर्चा की और यही तय रहा कि हम लोग उसी चीज को फिर से पनपायें और खादी विद्यालय के स्थान पर समग्र विद्यालय खोलें।

शिक्षा-समिति का निर्णय

कृष्णदास भाई से मैंने कहा कि वे तुरन्त चरखा-संघ की शिक्षा-समिति की बैठक बुलायें। शिक्षा-समिति की बैठक बुलायी गयी। मैंने उसके सामने अपनी कल्पना रखी। विद्यालय का स्वरूप क्या होगा, उसका अभ्यास-क्रम क्या रखा जाय, विद्यार्थियों की योग्यता क्या हो, शिक्षण की अवधि क्या हो, ऐसे अनेक प्रश्न उठे। अन्त में मैंने बताया कि आज देश में क्रान्ति की आवश्यकता है। जमाना क्रान्ति

का आह्वान करता है। इस आह्वान पर सहज रूप से जो लोग आयेंगे, उन्हें ट्रेनिंग दी जायगी और परिस्थिति के अनुकूल अभ्यास बनाया जायगा।

घोत्रेजी ने प्रश्न किया कि जो लोग ट्रेनिंग पूरी करेंगे, क्या उन्हें चरखा-संघ के कार्यकर्ता के रूप में वेतन देकर देहात में भेजा जायगा? इसका भी निश्चित उत्तर देना कठिन था। अन्त में सदस्यों ने कहा कि "इतने ब्योरे से क्या मतलब है? आप और कृष्णदास भाई मिलकर जो कुछ करेंगे, वह ठीक होगा, ऐसा हम लोगों का विश्वास है।" यह कहकर समिति ने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

बैठक बुलाने में कुछ समय निकल गया था। इस बीच मैंने कृष्णदास भाई तथा नन्दलाल भाई से चर्चा करके यह तय किया था कि सेवाग्राम का खादी विद्यालय मूल (चाँदा जिला का केन्द्र, जहाँ शुरू में चरखा-संघ का विद्यालय था) या बारडोली स्थानान्तरित करके सेवाग्राम का स्थान खाली किया जाय और उसीमें समग्र विद्यालय खोला जाय।

पहले ऐसा तय हुआ था कि अक्तूबर-नवम्बर में दक्षिण भारत का दौरा करूँगा, परन्तु अब समग्र विद्यालय शुरू करने के लिए मैंने दक्षिण भारत का कार्यक्रम रद कर दिया और मैं विद्यालय की चिन्ता में लग गया।

शिक्षा-समिति की बैठक समाप्त होने के बाद भी घोत्रेजी दो-चार दिन के लिए रुके रहे। शायद अण्णासाहब भी थे। हम लोग अक्सर नये विद्यालय की चर्चा करते रहते थे। चरखा-संघ के नव-संस्करण के विचार को अमल देने में हम क्यों असफल रहे, समग्र विद्यालय क्यों बन्द करना पड़ा, कहीं ऐसा न हो कि इसका भी यही हाल हो? ऐसी बातों की चर्चा होती थी। एक दिन घोत्रेजी ने कहा: "धीरेन्द्र भाई, जिस विचार और दृष्टि से आप खुद बैठकर विद्यालय को चलाना चाहते हैं, उसके लिए सेवाग्राम और वर्धा का वातावरण अनुकूल नहीं है। अगर आप कुछ करना चाहते हैं, तो कहीं दूसरी जगह नये सिरे से काम शुरू कीजिये।"

साथियों से विचार-विनिमय

मैंने कहा कि "यहाँ कुछ सुविधाएँ हैं। यहाँ नयी तालीम, ग्रामोद्योग, खादी, कृषि, गो-पालन आदि हरएक विषयों के विशेषज्ञ मौजूद हैं। उनका लाभ मुझे हमेशा मिलता रहेगा।"

धोत्रेजी इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने कहा कि "जिसे आप सुविधा मानते हैं, वही असुविधा का कारण होनेवाला है।"

मैंने कहा कि "अगर हमें क्रान्ति की दृष्टि से अपना सारा काम मोड़ना है, तो यहाँ के वातावरण को भी तो अनुकूल बनाना चाहिए।"

धोत्रेजी ने कहा : "आप इसमें क्या सुधार करेंगे ! जहाँ विनोबा असफल होते हैं, वहाँ पर आप सफल होंगे क्या ! बल्कि इस चेष्टा में आप ही टूट जायँगे। अच्छा यही होगा कि आप कहीं पर नये सिरे से नया निर्माण कीजिये।"

ये सब बातें होती रहीं और मैं सोचता रहा। धीरे-धीरे मेरे मन पर इन मित्रों की सलाह का असर होता रहा और मैं भी सोचने लगा कि कहीं दूसरी जगह जाकर काम करना चाहिए।

फिर भी मेरे मन में परिस्थिति की तीक्ष्णता की बात रह-रहकर घूम रही थी। विनोबाजी की यात्रा के दिन ही मैंने करण भाई को एक पत्र लिख दिया था कि विनोबा की यह यात्रा सामान्य घटना नहीं है। इससे देश में एक नयी क्रांति होनेवाली है। उस पत्र में मैंने उन्हें यह भी लिखा था कि इस क्रान्ति-काल में बहुत से नौजवान इस ओर आकर्षित होंगे, उनके शिक्षण के लिए मैं किसी स्थान पर बैठने की बात सोच रहा हूँ। मेरी कल्पना थी कि दिल्ली के बाद विनोबा आगे बढ़नेवाले हैं। इसलिए करण भाई को लिखा कि तुम कोशिश करो कि विनोबा उत्तर प्रदेश की ओर मुड़ जायँ और तुम सब काम छोड़कर उनके साथ हो जाओ। करण भाई उस समय असेम्बली के चुनाव में खड़े होनेवाले थे। वे उसमें न खड़े हों, ऐसी इच्छा भी मैंने जाहिर की थी। मैंने इस बात पर जोर दिया था कि वे सब काम छोड़कर विनोबाजी के साथ चलें,

करण भाई को पत्र

ताकि विनोबाजी की प्रेरणा से जो नौजवान इस ओर झुकें, उन्हें वे पहचान सकें और आवश्यकता जान पड़े, तो उन्हें मेरे पास भेज सकें।

अतः बाहर किसी उपयुक्त स्थान का इन्तजार किये बिना खादी विद्यालय में ही समग्र विद्यालय खोलने का मैंने निश्चय किया और २५ दिसम्बर को श्रद्धेय जाजूजी का आशीर्वाद लेकर समग्र विद्यालय का उद्घाटन कर दिया। उस समय मेरे पास केवल ५-६ विद्यार्थी थे, जिनमें से तीन—रुद्रभान भाई, पारस भाई तथा सरस्वती बहन मेरे साथ खादीग्राम आये।

समग्र विद्यालय का उद्घाटन

● ● ●

खादीग्राम में बैठने का निश्चय : १४ :

श्रमभारती, खादीग्राम
६-७-'५८

मैं बता चुका हूँ कि जिन दिनों अपने साथियों से मैं विद्यालय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा था और सोच रहा था कि विद्यालय का नये सिरे से नव-निर्माण करना ही ठीक होगा, उसी समय एक दूसरा विचार भी मेरे मन में चल रहा था। और वह यह कि अगर सेवाग्राम की सारी सुविधाएँ छोड़नी हैं, तो विद्यालय चलाने के लिए पुराने कार्यकर्ता भी साथ नहीं लेने चाहिए। अगर संस्थाओं की पूर्वपरम्परा आगे जाने में बाधक है, तो पुराने कार्यकर्ताओं में भी तो पूर्व संस्कार हैं। तो क्या वे आगे बढ़ने के लिए अनुकूल हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगा, तो विचार आया कि संस्था और व्यक्ति एक नहीं। संस्था जड़ होती है, व्यक्ति चेतन। संस्था अपनी परम्परा नहीं छोड़ सकती, तो यह जरूरी नहीं है कि व्यक्ति भी क्रान्ति के विचार से उद्बोधित होकर अपने पूर्व संस्कार को काट न सके। इसलिए यद्यपि मेरा विचार क्रान्ति के संदर्भ में नये जवानों को लेकर ही केन्द्र स्थापित करने का था, फिर भी मैंने तय किया कि पुराने साथियों में से जो आना चाहते हैं, उन्हें अवश्य साथ लूँगा। लेकिन इसके लिए तीन विद्यार्थियों को छोड़कर और किसीकी तैयारी नहीं थी।

राममूर्तिजी का आवाहन

सन् १९३८ से ही भाई राममूर्ति से मेरा परिचय था। उस समय वे लखनऊ विश्वविद्यालय में रिसर्च स्कॉलर थे। उन्हीं दिनों उनका आकर्षण बापू के विचारों की ओर हुआ। रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर भी वे आकर्षित थे। उन दिनों वे काशी के क्वींस कालेज में अध्यापक थे। उनसे मेरा घनिष्ठ सम्पर्क हो गया। वे मेरे विचारों से प्रभा-

वित थे। कॉलेज में रहते हुए भी वे गांधीजी के क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करते रहते थे। अपने छात्रों तथा साथियों को लेकर उन्होंने एक विचार-गोष्ठी भी बनायी थी। समय-समय पर अपने छात्रों को भी वे हमारे काम में लगाने की कोशिश करते थे।

नये सिरे से नये स्थान पर बैठना है, तो मैं किसे अपने साथ लूँ, यह चिन्ता मुझे सता रही थी। तभी एक दिन सहज ही खयाल में आया कि अगर राममूर्ति भाई अपना काम छोड़कर हमारे साथ आ जायँ, तो सुविधा होगी। यह तो मैं शुरू से ही कहता आया हूँ कि बापू की क्रान्ति का वाहन नयी तालीम ही हो सकती है। दूसरा कोई साधन इसके लिए है ही नहीं। इसलिए नया केन्द्र नयी तालीम की बुनियाद पर संगठित करना होगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं था। भाई राममूर्ति काफी दिनों तक शिक्षा का काम कर चुके थे। उनके विचार में स्पष्टता थी और वे मेरे विचारों के अनुकूल थे। इन तमाम कारणों से मुझे ऐसा लगा कि ये भाई साथ दें, तो अच्छा होगा। तदनुसार मैंने उन्हें अपने इरादे के बारे में लिखा। मैंने पूछा कि क्या वे मेरे साथ निकल सकते हैं? सम्भवतः मेरे पत्र से मेरी बात स्पष्ट नहीं हुई। अतः उन्होंने अपने एक छात्र के, जो तालीमी संघ में प्रशिक्षण पा रहे थे, लिखा कि वे मुझसे मिलकर मेरे विचारों को ठीक से समझ लें।

भाई राममूर्ति के छात्र श्री चन्द्रभूषण ने मुझसे मिलकर काफी देर तक चर्चा की। मैंने उन्हें अपनी सारी कल्पना बतायी और कहा कि मैं क्रान्ति की प्रक्रिया तथा उत्तर-क्रान्ति के संगठन की तैयारी दोनों साथ-साथ चलाना चाहता हूँ। सम्भवतः यह बात भाई राममूर्ति को कुछ अटपटी लगे, ऐसा लगना स्वाभाविक भी था। वे इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं और उन्होंने क्रान्ति के इतिहास का बारीकी से अध्ययन किया है। इतिहास में क्रान्ति की जैसी बातें लिखी हुई हैं, वैसी बात यहाँ नहीं पायी जाती। इसलिए मैंने भाई चन्द्रभूषण को सारी बातें समझायीं और कहा कि इस बार जब मैं बनारस आऊँगा, तब विस्तार से बात करूँगा।

देश में बेकारी की समस्या दिन-दिन जटिल होती जा रही थी। सरकार की समझ में नहीं आ रहा था कि उसका निराकरण कैसे हो। सरकार में बहुत से लोग गांधीजी के साथी रह चुके थे, इसलिए खादी और ग्रामोद्योग की बात सोचना उनके लिए स्वाभाविक था। फलस्वरूप उन्होंने सरकार की ओर से इस काम को चलाने के लिए खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड स्थापित करने का निर्णय किया और चरखा-संघ से माँग की कि वह सदस्यों के नामों की सिफारिश करे। इन प्रश्नों पर निर्णय करने के लिए नवम्बर या दिसम्बर में चरखा-संघ की विशेष बैठक बुलायी गयी। बैठक कई दिनों तक चलती रही। बीच-बीच में मेरी नयी योजना पर भी चर्चा होती रही। यह तो पहले ही निर्णय हो चुका था कि नया विद्यालय कहीं दूसरी जगह शुरू किया जाय। कहाँ शुरू किया जाय, किस प्रान्त में सहूलियत है, इन विषयों पर विचार होता रहा। लक्ष्मीबाबू और ध्वजाबाबू ने कहा कि बिहार अनुकूल क्षेत्र है तथा पूर्वी क्षेत्र में ऐसा कोई केन्द्र बनना चाहिए। आज खादीग्राम जिस भूमि पर प्रतिष्ठित है, वह जमीन बिहार चरखा-संघ ने कई साल पहले ले ली थी और उसी तरह से पड़ी हुई थी। उसकी भी चर्चा आयी। बिहार के प्रति मेरा सहज आकर्षण था, इसलिए मैं बिहार में बैठने को राजी हो गया।

बिहार में बैठने का निश्चय

फरवरी के द्वितीय सप्ताह में मैं आसाम सर्वोदय-सम्मेलन में जानेवाला था। लक्ष्मीबाबू तथा ध्वजाबाबू से कहा कि आसाम जाते समय वह जमीन देख जाऊँगा। इस निर्णय से उन लोगों को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने कहा कि वे फरवरी में मुझे जमीन दिखला देंगे।

फरवरी के पहले सप्ताह में मैंने ध्वजाबाबू को लिखा कि ८ फरवरी को जमीन देखने आ रहा हूँ। भाई राममूर्ति को भी लिख दिया कि फरवरी के पहले सप्ताह में सेवापुरी में उनसे तथा उनके उन साथियों से मिलूँगा, जिन्हें मेरे साथ बैठने में दिलचस्पी है।

जमीन का निरीक्षण

आसाम के रास्ते में सेवापुरी पहुँचा। भाई राममूर्ति और उनके साथी वहाँ पहुँच गये थे। उनसे चर्चा हुई। विनोबा की यात्रा की परिणति के बारे में मेरे जो विचार थे, मैंने उनके सामने रखे। आगे क्या करना है, यह भी बताया। विनोबाजी की यात्रा की प्रगति देखकर वे भी प्रभावित थे। मुख्य बात तो यह थी कि मेरे प्रति उनकी आस्था थी। कुल मिलाकर उन्हें विचार जँच गया और उन्होंने मेरे साथ रहने का वादा किया। उनमें भाई राममूर्ति और रवीन्द्र भाई मेरे पूर्व-परिचित थे। दो नये नौजवान थे शिवकुमार भाई तथा इन्द्रदेव भाई। इनसे बातचीत करके मैं बिहार की ओर चल पड़ा।

पटना से ध्वजाभाई को साथ लेकर शाम को जमुई स्टेशन पर पहुँचा। हम लोग टमटम पर सवार होकर अँधेरे में जंगल की ओर रवाना हो गये। उन दिनों इधर काफी जंगल था, इसलिए ध्वजाभाई भी स्थान को ठीक से पहचान न सके और आगे बढ़ गये। फिर इधर-उधर पूछ-पाछकर रात को साढ़े सात बजे हम लोग अपने स्थान पर पहुँचे। यहाँ पर बिहार खादी समिति का एक छोटा सा केन्द्र चलता था। वहीं पर हमने रात बितायी। दूसरे दिन हम लोग दिनभर जमीन पर घूम-घूमकर देखते रहे। जमीन पत्थरों से भरी हुई थी और पहाड़ और जंगल से घिरी हुई। ऐसा लगता था कि ऐसी जमीन में आदमी कभी नहीं बस सकता। लेकिन आसपास का प्राकृतिक सौंदर्य ऐसा था कि मैं उस पर मुग्ध हो गया और ध्वजाभाई से मैंने कह दिया कि मैं यहीं पर बैठूँगा। मैंने सेवाग्राम को भी लिख दिया कि लोग तैयारी रखें, ताकि वापस पहुँचते ही मैं रवाना हो सकूँ।

आसाम से लौटकर उत्तर प्रदेश होते हुए सेवाग्राम पहुँचा और एक साल के लिए चरखा-संघ के पुराने कार्यकर्ता चंदन भाई को लेकर २६ फरवरी १९५२ को खादीग्राम की जमीन पर

खादीग्राम में प्रवेश

पहुँच गया। रास्ते में बनारस से इन्द्रदेव भाई तथा शिवकुमार भाई साथ हो गये।

● ● ●

गाँव में नये प्रकार का शिविर : १९ :

श्रमभारती, खादीग्राम
७-७-'५८

सन् १९५० के बिहार के दौरे के बारे में पहले लिख चुका हूँ। बिहार की जनता की सहृदयता तथा गांधीजी के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा का दर्शन मधुबनी क्षेत्र की पदयात्रा में मिल चुका था। लक्ष्मीबाबू, ध्वजाबाबू तथा दूसरे साथियों की वैचारिक सदर्भ से कुछ करने की तैयारी भी मैंने देखी थी। भंडार के अनेक कार्यकर्ताओं से मुलाकात हुई थी, जिनमें कार्यक्षमता भले ही कम रही हो, पर श्रद्धा की पूँजी पर्याप्त थी। इन तमाम कारणों से मुझे ऐसा लगा कि एक बार बिहार के कार्यकर्ताओं को खादी के क्रान्तिकारी विचार समझाने का प्रयास करूँ। तुम कहोगी कि एक बार गांधी आश्रम के कार्यकर्ताओं में ऐसा प्रयास किया था, उतना काफी नहीं था? किसी भी क्रान्तिकारी के लिए उतना काफी नहीं कहा जा सकता। उसे तो बार-बार धक्का देना होगा, भले ही जीवन के अन्तिम क्षण तक उसके लिए दरवाजा बन्द ही रहे।

ऐसा सोचकर मैंने लक्ष्मीबाबू से कहा कि खादी समिति के मुख्य कार्यकर्ताओं का तीन-चार दिन का शिविर लीजिये, क्योंकि कार्यकर्ता यदि विचार नहीं समझेंगे तो ठीक न होगा। केवल ऊपर के लोगों के समझने से काम नहीं चलेगा। तदनुसार राँची के पास तिरील में बिहार समिति के पचास कार्यकर्ताओं का एक शिविर हुआ।

कार्यकर्ताओं का शिविर

शिविर की समाप्ति के समय कार्यकर्ताओं में पर्याप्त उत्साह दिखाई पड़ा। उन्होंने कहा : "खादी-काम के पीछे इतनी बातें हैं, यह तो हम जानते ही नहीं थे।" सब लोगों ने सही दृष्टि से काम करने की कोशिश

करने का वादा किया। उसी शिविर के अन्तिम दिन सबने मिल-बहिष्कार का भी संकल्प किया।

चर्चा के दौरान में बिहार के कुछ साथियों ने कहा कि खादी की यह नयी दृष्टि सभी कार्यकर्ताओं को मिलनी चाहिए और बारी-बारी से खादी समितियों के चार सौ कार्यकर्ताओं का शिविर होना चाहिए। कुछ साथियों ने यह भी कहा कि केवल खादी समिति के कार्यकर्ताओं को ही नहीं, उन खादी प्रेमियों को भी ये बाते बतानी चाहिए, जो इस काम में विशेष दिलचस्पी लेते हैं। मैंने इसके लिए कभी-कभी समय निकालने का वादा किया।

ग्राम-शिविर की कल्पना

जिन दिनों मैं चरखा-संघ की ओर से कताई मंडलों का संगठन कर रहा था, उन दिनों मैं यह महसूस कर रहा था कि केवल सार्वजनिक सभा में, विद्यार्थियों में या दूसरे लोगों में भाषण करने से काम नहीं चलेगा, उसके बजाय गांधीजी की विचार-धारा को समझाने के लिए शिविरों का आयोजन करना होगा। संस्थाओं मे शिविर बुलाने से कुछ निष्पत्ति नहीं निकलती है, यह पहले ही मैं देख चुका था। देहातों के एक-दो शिविर चलाकर भी समाधान नहीं हुआ था। शिविरार्थियों के भोजन के लिए चंदा बटोरने और खाने-खिलाने में ही व्यवस्थापकों की सारी शक्ति लगे और उनका समय जाय, यह मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता था। देहात के लोगों पर भी अनुष्ठानों का सह-भोज का ही असर होता था। बहुत सोचने के बाद मुझे यह उपाय सूझा कि देहातों में विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन के आधार पर सच्चे लोकतंत्र की स्थापना का विचार फैलाया जाय और जो गाँव आमन्त्रित करे, वहाँ शिविर का संगठन किया जाय। चंदा बटोरा जाय और एक बहुत बड़ा रसोईघर बनाया जाय—यह पद्धति छोड़ दी जाय और उसके बजाय एक-एक घर में एक, दो-दो शिविरार्थी अतिथि हो जायँ। वे लोग वहीं पर रहें, भोजन करें, परिवार के लोगों के साथ उनके ही घर के आसपास

सफाई करें, प्रार्थना और चर्चा के समय परिवार के सभी लोग एक जगह एकत्र हों। इस प्रकार के शिविरों में मुझे सफलता मिल चुकी थी। मैंने लक्ष्मीबाबू से इस पद्धति के बारे में बात की। उन्होंने कोशिश करने को कहा।

पहला शिविर मुँगेर जिले के गोविन्दपुर खादी भंडार के तत्वावधान में उसी गाँव में करने का विचार हुआ। भाई रामविलास सिंह उन दिनों *बिहार के कताई मंडल के संगठक थे। उन्होंने लक्ष्मीबाबू के साथ* गाँव में जाकर यह पद्धति समझायी। गाँववालों को यह विचार कुछ अटपटा-सा लगा। उन्होंने कहा कि यह सम्भव नहीं। उनका कहना था कि वे खुद ही अनाज जुटाकर सबके लिए भोजन की व्यवस्था कर देंगे। हम लोगों को सोचने की जरूरत नहीं है।

भाई रामविलास शर्मा का पत्र आया कि गाँव के लोग मान नहीं रहे हैं और उन्हींके सुझाव के अनुसार शिविर हो, यही अच्छा है। मुझे यह विचार पसन्द नहीं आया। विकेन्द्रित समाज-

गोविन्दपुर में प्रयोग

नीति को यदि बढ़ाना है, तो इस विचार को गाँव-गाँव में फैलाना ही पर्याप्त नहीं है, उसे घर-घर में प्रवेश भी कराना होगा। अहिंसक क्रान्ति का विचार किसी पर लादा नहीं जा सकता। उसे तो लोगों के दिल में प्रविष्ट कराना होगा। बिना आत्मीयता साधे क्या यह सम्भव होगा? मैं इस तरह सोचने लगा। फिर मैंने यह निर्णय किया कि मैं ही दो दिन पहले गाँव में पहुँच जाऊँ और खुद गाँववालों को समझाऊँ। पहले ही शिविर में हम असफल रहे, तो बिहार के कार्यकर्ताओं में इस प्रथा की व्यावहारिकता पर सन्देह हो जायगा। यह सोचकर मैं दो दिन पहले गोविन्दपुर पहुँच गया। पहुँचते ही श्री रामविलास शर्मा ने मुझे सूचित किया कि गाँव-वाले अब कुछ-कुछ समझ रहे हैं और यह तय कर रहे हैं कि शिविरार्थी किस-किस घर में ठहरेंगे।

मैंने करण भाई की पत्नी सुशीला बहन को अपने पास बुला लिया

था, जिससे बहनों से सम्पर्क हो सके। सुशीला बहन को बहनों में चर्चा करने के लिए भेजकर मैंने शाम को गाँव के लोगों की एक बैठक बुलायी। उन्हें मैंने विकेन्द्रित समाज का विचार बताया और यह भी बताया कि क्यों घर-घर हम टिकना चाहते हैं। तय तो उन्होंने पहले ही कर लिया था, लेकिन मुझसे चर्चा करके उन्हें पर्याप्त समाधान तथा सन्तोष हुआ। वे उत्साह से इसकी व्यवस्था करने में लग गये। बीच में एक दिन का समय था। मैं, सुशीला बहन तथा रामविलास शर्मा जिनके घर में अतिथि बननेवाले थे, उनके यहाँ जाकर समझाने लगे कि क्या करना है। प्रायः सभी घरों में वैज्ञानिक पेशाबघर बनवा दिये, जिससे पेशाब का उपयोग खाद में हो सके।

दूसरे दिन से शिविर प्रारम्भ हुआ। गाँववालों तथा कार्यकर्ताओं के लिए यह एक अभिनव प्रयोग था। इसकी चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसलिए दूर-दूर के गाँवों से भी शाम की चर्चा-गोष्ठी में प्रतिदिन दो-तीन सौ लोग शामिल होते थे।

शिविर की प्रसिद्धि इस कारण और भी बढ़ी कि मैं और लक्ष्मीबाबू हरिजनों के घर ठहरे हुए थे। उन दिनों मैंने हरिजनों के घर ठहरने का नियम बना रखा था। लक्ष्मीबाबू भी उसी नियम के अनुसार भंगी के घर ठहरे थे। इस घटना से चारों ओर तहलका मचा हुआ था और लोग मुझसे इसका रहस्य पूछने आते थे। मैं पहले भी इस इलाके में दौरा कर चुका था और मेरा 'हुजूर' और 'मजूर' वाला विवेचन इधर काफी फैला हुआ था। मैंने उनसे कहा : "आप मानते ही हैं कि किसी गाँव में किसी गोल की मेहमानी हो, तो उसमें से मुख्य व्यक्ति गाँव के सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर में ही मेहमान बनता है। शोषणहीन तथा स्वावलम्बी समाज में अनुत्पादक वर्ग से उत्पादक वर्ग ही अधिक प्रतिष्ठित है, ऐसी मान्यता चलेगी। मैं इनके घरों में ठहरकर 'मजूर-प्रतिष्ठा' का विचार फैलाना चाहता हूँ।" मेरी बातों से कुछ लोगों को सन्तोष हुआ,

तो कुछ लोग काफी नाराज भी हुए। लेकिन कुल मिलाकर उस क्षेत्र के लोगों पर तथा शिविरार्थियों पर अच्छा असर पड़ा।

घर-घर में चर्चा-गोष्ठी

लोग जिन घरों में ठहरे हुए थे, उनके साथ वे सफाई करते थे, बच्चों को प्यार करते थे और भोजन करने के समय कुछ बहनों से भी चर्चा का मौका मिल जाता था। दोपहर के भोजन के बाद तथा रात को सोने से पहले जितने घरों में मेहमान टिके हुए थे, वे सब-के-सब एक-एक चर्चा-गोष्ठी बन गये थे। वहाँ आसपास के दस-बारह नौजवान मुख्य चर्चा के संदर्भ में शिविरार्थी भाइयों के साथ और अधिक चर्चा करते थे। इस प्रक्रिया से गाँव में शिविर का संगठन न करके गाँव को ही शिविर बनाने का कार्यक्रम सफल हुआ। आजकल मैं नयी तालीम का विचार समझाते हुए कहता हूँ कि शिक्षा का समाजीकरण करना होगा। गाँव में विद्यालय न खोलकर गाँव को ही विद्यालय बनाना होगा और उसके लिए सारे गाँव के बच्चे, जवान तथा बूढ़ों को विद्यालय का विद्यार्थी बनाना होगा।

शायद यह प्रयास इसी विचार का पूर्वाभास था। घर-घर में चर्चा-गोष्ठी चलना, सुशीला का घर-घर घूमकर बहनों से चर्चा करना, करण भाई की छोटी बच्ची माया का बच्चों को बटोरकर खेल-कूद सिखाना—इन सब बातों ने सारे गाँव को शिविरार्थी बना दिया था।

प्रयोग की सफलता से प्रेरणा

गोविन्दपुर के शिविर की सफलता ने लक्ष्मीबाबू तथा खादी समिति के साथियों को अत्यधिक उत्साहित किया। संस्थाओं के सामने जब कभी शिविरों का प्रश्न उपस्थित होता था, तो सबसे जटिल प्रश्न खर्चे का होता था। दूसरी कठिनाई व्यवस्था की थी। दोनों कठिनाइयों को हल करते हुए जन-जीवन की इतनी गहराई में प्रवेश करके शिविरों का संगठन हो सकता है, इसके दर्शन से वे प्रफुल्लित हुए और आगे इसी प्रकार के शिविर चलाने का उन्होंने निर्णय किया।

उसके बाद मैं बीच-बीच में बिहार के कार्यकर्ताओं के शिविरों में जाया करता था और खादी के नये काम समझाया करता था। जिस समय मैं खादीग्राम पहुँचा, उस समय तक यह प्रक्रिया जारी थी। खादीग्राम आने के बाद भी छपरा में आखिरी शिविर का संगठन हुआ था।

खादीग्राम में मेरे आ जाने से तथा बिहारभर के शिविरों का संगठन करने से बिहार के रचनात्मक कार्य की दुनिया में पर्याप्त जाग्रति हो गयी थी। १९५२ में सेवापुरी के सर्वोदय-सम्मेलन में उस जाग्रति का लाभ मुझे किस तरह मिला, उसकी कहानी फिर कभी लिखूँगा। ० ० ०

सेवापुरी-सम्मेलन

: १६ :

श्रमभारती, खादीग्राम
८-७-'५८

अप्रैल १९५१ से ही विनोबाजी ने तेलंगाना में भूदान-यज्ञ शुरू कर दिया था। यद्यपि उनका यह काम एक बड़ी सामाजिक क्रान्ति की गंगोत्री जैसा था, फिर भी वह था विनोबाजी का ही आन्दोलन। किसी संस्था की ओर से वह काम नहीं चल रहा था। सेवाग्राम में सर्व-सेवा-संघ की बैठक में कुछ चर्चा अवश्य हुई थी, पर उस समय तक संघ ने उसे अपनाया नहीं था। फिर जब उन्होंने उत्तर प्रदेश का दौरा किया, उस समय भी विनोबाजी का आन्दोलन जन-आधारित होकर ही चलता था। पदयात्रा का खर्च यात्रा के क्षेत्र के लोग ही चलाते थे और काम करनेवाले भी व्यक्तिगत रूप से उनके साथ हो लेते थे। आज हम तंत्र-मुक्ति और निधि-मुक्ति की बात करते हैं, शुरू में आन्दोलन का स्वरूप वही था। अगर वैसा ही रहने दिया जाता, तो शायद आज तन्त्र-मुक्ति और निधि-मुक्ति को लेकर हममें इतनी व्याकुलता न रहती। मेरी राय तो पहले से ही ऐसी रही, लेकिन ईश्वर की इच्छा कुछ और थी।

आसाम के सर्वोदय-सम्मेलन में मैं गया हुआ था। शाहजहाँपुर से करण भाई का तार आया कि आगामी सम्मेलन के निर्णय करने की चर्चा में शामिल होने के लिए मैं वहाँ पहुँच जाऊँ।

सेवापुरी का सम्मेलन

१२ फरवरी को तार पहुँचा कि १४ को बैठक है। संयोग से तुरन्त कलकत्ता का विमान मिल गया और मैं १४ की रात को शाहजहाँपुर पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि सेवापुरी में सम्मेलन होने का निर्णय हुआ है और यह भी तय हुआ कि मैं ही सम्मेलन की जिम्मेदारी उठाऊँ।

उस समय मैं कई कामों का संकल्प कर चुका था, विहार के शिविरों के लिए समय दिया था और उस महीने के अन्त तक खादीग्राम में पहुँचने का भी निश्चय कर लिया था। मैंने गांधी आश्रम के जिम्मेदार लोगों से कहा कि इसकी जिम्मेदारी वे ही उठायें। लेकिन विचित्र भाई और दूसरे साथियों ने मेरी बात बिल्कुल नहीं मानी। वे कोई अच्छा साथी भी देने को तैयार नहीं हुए। उस समय मेरे स्वास्थ्य की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उस विगड़ी हुई हालत में एकदम अकेले कुछ करने की हिम्मत नहीं हो रही थी। बड़ी मुश्किल से भाई देवकरण सिंह मेरी सहायता के लिए मिले। पिछले चुनाव के सिलसिले में वे उन दिनों गाजीपुर में थे। निश्चय हुआ कि वे मेरी सहायता में सेवापुरी आ जायेंगे। मैंने इतने से ही संतोष कर लिया और वहाँ से सेवाग्राम चला गया। १७-१८ फरवरी के करीब सेवाग्राम पहुँचा और जल्दी से अमुई पहुँचकर मैंने वहाँ पर अपना आसन जमा दिया।

८-१० दिन अथक परिश्रम करके हम लोगों ने रहने के लिए एक झोपड़ी बना ली तथा यहाँ के लिए योजना बनानी शुरू कर दी। यहाँ का काम करते-करते पिछले निश्चय के अनुसार विहार के दो शिविरों का भी काम समाप्त किया। साथ ही साथ सेवापुरी के सम्मेलन की व्यवस्था के लिए वहाँ भी जाता रहा। स्वास्थ्य पहले से ही विगड़ा हुआ था, अत्यधिक परिश्रम के कारण और भी टूट गया और कमर के दर्द से चारपाई पर पड़ रहा। ऐसी बुरी हालत में ही मैं सेवापुरी पहुँचा। उस समय सम्मेलन के लिए मुश्किल से १५-२० दिन रह गये थे।

सम्मेलन के खर्च के लिए कुछ चंदा बटोरना था। शाहजहाँपुर से सेवाग्राम जाने के पहले ही लखनऊ में मित्रों की एक बैठक बुला ली थी। उसके अनुसार देवकरण भाई ने कोशिश भी की थी। विभिन्न जिलों में काम करने के लिए मित्रों ने जिम्मेदारी भी ली थी। लेकिन जब मैं सेवापुरी पहुँचा, तो कुछ विशेष परिणाम देखने में नहीं आया। थोड़ी सी आशा थी, लेकिन बहुत गुंजाइश नहीं थी। तो मैंने बनारस तथा आसपास के इलाके

में गल्ला माँगना शुरू किया। उसमें भी कुछ आशा दिखाई दी, लेकिन कुछ प्राप्ति होने में समय लगता, निवास-शुल्क मिलने में भी देरी ही होती, तो सवाल था कि तात्कालिक काम कैसे शुरू किया जाय? गांधी आश्रम से एक हजार रुपया कर्ज माँगा, लेकिन वह भी नहीं मिला। इस पर मैं सोचने लगा कि गांधी आश्रम जैसी ये संस्थाएँ आखिर किसलिए हैं? बापू ने क्या सोचकर इन संस्थाओं को खड़ा किया था? फिर मन में आता था कि जब मैं मानता हूँ कि पुरानी संस्थाएँ क्रान्ति की वाहक नहीं हो सकती हैं, तो ऐसी अपेक्षा ही क्यों रखता हूँ? ऐसे नाना प्रकार के विचार मन में आने लगे। अन्त में यह सोचा कि जो हो, सम्मेलन तो करना ही है। मैंने इधर-उधर नजर दौड़ायी, तो एकमात्र बिहार ही नजर आया। मैंने लक्ष्मीबाबू को लिखा कि वे मुझे ५००) नकद कर्ज दे दें और हिसाब-किताब में पक्के तीन-चार अच्छे कार्यकर्ता भी मेरे पास भेज दें। लक्ष्मीबाबू ने प्रधान कार्यालय के हिसाबनवीस और दो मुख्य कार्यकर्ता तथा ५००) मेरे पास भेज दिये। यह रुपया मैंने व्यक्तिगत कर्ज के रूप में लिया। इस तरह सर्वोदय-सम्मेलन के कार्य का श्रीगणेश हुआ। धीरे-धीरे बिहार से ५०-६० कार्यकर्ता आ गये और वे सम्मेलन के काम में लग गये।

स्वास्थ्य पर बुरा असर

कमर के दर्द के बावजूद मैं सम्मेलन के काम में जुटा था और प्रतिकूल परिस्थिति से लोहा ले रहा था। मानसिक बोझ तो था ही। इन सबने मुझे एकदम चारपाई पर डाल दिया। तब से सवा दो साल तक मैं चारपाई पर ही पड़ा रहा। सम्मेलन के बाद भी कमर के दर्द के कारण मैं रेल-यात्रा नहीं कर सका और खादीग्राम नहीं जा सका। मैं बनारस में ही पड़ा रहा और पड़े-पड़े वैद्यजी का इलाज कराता रहा।

खादीग्राम का केन्द्र कृषिमूलक होगा, इसमें तो कोई सन्देह था नहीं, इसलिए मेरी गैरहाजिरी में ही भाई अण्णासाहब और दादाभाई नाईक, जो रचनात्मक कार्य की दुनिया में कृषि के विशेषज्ञ हैं, वहाँ की

सम्भावनाएँ देखने के लिए वहाँ पहुँचे। अण्णासाहब और दादाभाई ने लौटकर मुझसे कहा कि वहाँ न तो पानी है, और न जमीन। छोटा-मोटा केन्द्र बनाकर बैठिये और इस जमीन में जंगल की योजना बना लीजिये। मैं उस समय बिस्तर पर पड़ा था, क्या कहता!

कितने ही दिन बीत गये। इलाज से कुछ लाभ नहीं हुआ, तो मैं लेटे-लेटे ही खादीग्राम चला आया। सोचा, वहाँ पड़ा भी रहूँगा, तो भी कुछ मार्ग-दर्शन कर सकूँगा। हमारे साथी कुआँ बनाने और थोड़ी-बहुत खेती करने की व्यवस्था में जुट गये। मैं पड़ा-पड़ा मार्ग-दर्शन करता रहा।

खादीग्राम का कार्यक्रम बनाते समय मैंने सोचा था कि दिन में तो मैं केन्द्र पर रहूँगा और रात को किसी गाँव में। यों आसपास के गाँवों में नया विचार फैलाने में सुविधा होगी, लेकिन ईश्वर की इच्छा कुछ और ही थी। मेरी कमर का दर्द इतना बढ़ गया कि रात में गाँव में रहने का विचार पूरा न हो सका।

केन्द्र बनाते समय यह प्रश्न उठा था कि ग्राम-सम्पर्क कैसे हो? हमारे साथी कहते थे कि यदि हम गाँव की सेवा नहीं करते हैं, तो यहाँ रहने से क्या लाभ है? मैं उन्हें समझाता था कि जब तक आसन नहीं जमा लोगे, तब तक गाँव में कुछ कर नहीं सकोगे। इसलिए शुरू में ग्राम-सम्पर्क का कुछ काम नहीं हो सका। आसपास के जो लोग मिलने आते थे, उन्हें मैं अपना विचार और योजना बताता था। पड़े रहने के कारण मैं कहीं जा नहीं सकता था। इसलिए बहुत जगहों के कार्यकर्ता मुझसे मिलने आते थे। वे बैठे-बैठे पत्थर तोड़ने की क्रिया देखकर परेशान होते थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि इस तरह से कुछ जमीन और तालाब बनाने से क्या परिणाम निकलनेवाला है। मैं उनसे धैर्य रखने की बात करता था।

पत्थर तोड़ने की क्रिया

बाहर से भी बहुत से लोग आते थे। वे कहते थे कि बिहार में आपको अच्छी जमीन मिल सकती है। वहाँ बैठेंगे, तो शीघ्र ही स्वावलम्बी

हो सकते हैं। मैंने कहा कि समस्या अच्छी जमीन की नहीं है, कंकड़-पत्थर की है। यदि देश की समस्या हल करनी है, तो कंकड़-पत्थर की समस्या हल करनी होगी। पर वह किस तरह हल होगी, मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा विश्वास है कि उसकी कोशिश में ही हल निकलेगा। कहते हैं कि आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है। हम देश की आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, तो दिशा सूझेगी ही।

इन तमाम विचारों के कारण घर के और बाहर के और सभी मित्रों के निरुत्साह के बावजूद मैं खादीग्राम में ही डटा रहा और निरन्तर इस इलाके की भूमि-समस्या के चिन्तन में लगा रहा। ● ● ●

खादीग्राम में ग्राम-सम्पर्क

श्रमभारती, खादीग्राम
८-७-'५८

यद्यपि मैं कमर की दर्द से पीड़ित था, फिर भी लोगों ने मुझे बिल्कुल छुट्टी नहीं दी। आसपास के इलाके में भी मैं कभी-कभी जाता था। बाहर बैठकों में भी कभी-कभी जाना पड़ता था। धीरे-धीरे मुझे इस इलाके की जानकारी होने लगी। जैसे-जैसे मेरी जानकारी बढ़ी, यहाँ की परिस्थिति मुझे अजीब मालूम पड़ने लगी। इस इलाके में जमींदारी-अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। लोग भयभीत थे, डर से कोई बात ही नहीं करता था।

जमींदारों का अत्याचार

मैं पहले-पहल जब यहाँ आया था और स्टेशन से जमुई के लिए बस पर बैठा, तो मुझे एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना देखने को मिली। बस थोड़ी दूर जाकर रुकी। सामने की बेंच बिल्कुल भरी हुई थी, पीछे भी सवारियाँ भरी थीं। सड़क पर दो-तीन सवारियाँ खड़ी थीं। कण्डक्टर ने तीन-चार सवारियों से उतरने के लिए कहा, पर वे उतरना नहीं चाहती थीं, यह देखकर चढ़नेवाले सवारियों ने उन्हें डाँटा। उस डाँट का प्रतिवाद किये बिना ही वे लोग उतर गये। मैं इधर नया आया था, इसलिए कुछ बात समझ में नहीं आयी, इसलिए मैं चुप रहा। बाद को पता चला कि नयी सवारियाँ यहाँ के एक जमींदार के घर की थीं।

हम जब खादीग्राम में बैठे, तो हम लोग भी इनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके। यहाँ पर हमारा बैठना यहाँ के बाबुओं को बहुत नागवार लगा। वे नहीं चाहते थे कि हम लोग यहाँ जम पायें। इसलिए वे नाना प्रकार से हमारी मुखालफत करने लगे। उनकी मुखालफत व्यक्तिगत रूप में मुझसे

नहीं थी, बल्कि मेरे विचार से थी। वे साफ-साफ कहते थे कि धीरेन भाई तो अच्छे आदमी हैं, उनसे हमारा कोई विरोध नहीं है। लेकिन गांधीवाद की वे जो परिभाषा करते हैं, अगर वही गांधीवाद है, तो हम लोगों का अस्तित्व ही खतरे में है। वे यह बात भी भलीभाँति समझते थे कि अभी तो ये कुछ करते नहीं हैं, लेकिन इनका असर अगर फैल गया, तो उनका एकच्छत्र अत्याचार नहीं चलेगा।

दिक्कत इसलिए और भी थी कि वे कांग्रेस-जन थे। और उनके कारण जिले की कांग्रेस मेरे और खादीग्राम के सख्त खिलाफ हो गयी। इसलिए यहाँ के कांग्रेस-जनों से हमें कोई सहायता तो मिली नहीं, उलटे निरंतर विरोध मिलता रहा। बिहार के दूसरे जिलों के कांग्रेस-जन आकर मुझसे मिलते थे और कहते थे: "आप भी ऐसी जगह आकर बैठे! हमारे जिले में आते, तो हम सब कितनी मदद करते!" मैं मुस्कराता था, कहता था कि अपनी थोडी सी मदद यहाँ ही भेज दीजिये। यहाँ के साथियों को समझाइये कि मैं कोई खतरनाक आदमी नहीं हूँ।

कांग्रेस के विरोध के कारण दिक्कत अवश्य थी, लेकिन इससे हमारा कुछ लाभ ही हुआ। जन-मानस में खादीग्राम का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम हुआ। कुछ ही दिनों में लोग हमारे प्रति आकृष्ट होने लगे, लेकिन डर के कारण वे मदद नहीं कर सकते थे। स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में हम ऐसी परिस्थिति से गुजर चुके थे, इसलिए हमें इन बातों की चिन्ता नहीं थी और हम निश्चिन्तता से अपने काम में लगे रहे।

काशी के क्वीन्स कॉलेज के प्राध्यापक भाई राममूर्ति सिंह का जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। उन्होंने छोड़ने का निर्णय तो कर लिया था, लेकिन उन्हें जल्दी छुट्टी नहीं मिली। मैंने उन्हें तुरन्त इस्तीफा देने के लिए मना किया था। देश में क्रान्ति का कोई वातावरण नहीं था। कौन जाने, आगे की परिस्थिति कैसी हो। यदि किसी प्रकार से असमाधान हो, तो फिर वापस वहाँ स्थान मिलेगा। तीस साल के सार्वजनिक जीवन में मैंने

ग्राम-सम्पर्क का श्रीगणेश

ऐसे सैकड़ों नौजवानों को देखा, जो बड़ी गम्भीरता से आन्दोलन की सेवा करने के लिए नौकरी छोड़कर आये, पर आन्दोलन की परिस्थिति या कार्यक्रम से उन्हें समाधान नहीं मिला और इससे उनके जीवन में निराशा आ गयी। इस अनुभव के कारण मैंने उन्हें सलाह दी कि वे पहले एक साल की छुट्टी लेकर आयें और सालभर रहकर देख लें। फिर इस्तीफा दें। विभाग के लोग उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे, इसलिए छुट्टी जल्दी नहीं मिली। गर्मी की छुट्टी होते ही वे खादीग्राम आ गये। छुट्टीभर रहकर बनारस चले गये। फिर अक्तूबर में लौट आये।

भाई राममूर्ति के लौटते ही ग्राम-सम्पर्क का काम शुरू करने की बात सोची। अक्तूबर का महीना था, चरखा-जयन्ती के अवसर पर २ अक्तूबर से एक पखवारे के लिए राममूर्ति भाई के नेतृत्व में अपने साथियों को पदयात्रा पर भेज दिया। इस पदयात्रा से इस बात का पूरा पता चला कि यहाँ के लोग कितने अधिक पीड़ित हैं और वे कितना ज्यादा डरते हैं। वे हमसे प्रेम तो करते थे, लेकिन डर के मारे पास नहीं आते थे कि कहीं कोई देख न ले! वे हमें घर पर ठहराने में भी डरते थे। इस अनुभव ने हमारे साथियों को बहुत लाभ पहुँचाया। प्रतिकूल परिस्थिति में धैर्य के साथ कैसे सेवा करनी चाहिए, इसका बोध दिलाया। रवीन्द्र भाई तो कभी-कभी धैर्य खो देते थे। वे मुझसे आकर झगड़ते और कहते थे कि इस अत्याचार का निवारण होना चाहिए। वे पूछते थे कि इस गरीब जनता के लिए हमारे पास क्या कार्यक्रम है? मैं उन्हें धैर्य धारण करने के लिए कहता था और समझाता था कि विनोबा का भूदान किस प्रकार इस समस्या का हल करनेवाला है। पर मेरी दलीलों से साथियों को समाधान हो रहा है, ऐसा लगता नहीं था। लेकिन मेरे प्रति उनकी श्रद्धा थी, इसलिए वे अपना धैर्य बनाये रखते थे।

इस प्रकार ग्राम-सम्पर्क की शुरुआत हो गयी। इसके बाद से हम लोगों ने यह निश्चय किया कि सप्ताह में छह दिन संस्था-निर्माण का काम करेंगे और एक दिन गाँव में रहकर ग्राम-सम्पर्क

सप्ताह में एक दिन गाँव में करेंगे। तदनुसार यहाँ के साथी शुक्रवार को काम बन्द कर गाँव में चले जाते थे और शनिवार को लौट आते थे। वे जब हमसे कार्यक्रम माँगते थे, तो मैं उनसे कहता था कि कार्यक्रम अपने-आप निकलेगा। अभी आप सिर्फ गप चलाइये।

इस तरह छः दिन संस्था-निर्माण और एक दिन जन-सम्पर्क का कार्यक्रम चलाते हुए मार्च १९५३ का चांडिल का सर्वोदय-सम्मेलन आ गया और हम लोग सम्मेलन में पहुँचे। ● ● ●

चरखा-संघ का विलीनीकरण : १८ :

श्रमभारती, खादीग्राम
९-७-'५८

१९४८ में सर्व-सेवा-संघ बना। उसका स्वरूप गांधीजी द्वारा प्रदर्शित सभी अखिल भारतीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों के संघ का था। यद्यपि सर्व-सेवा-संघ बना, वह प्रभावकारी संघ नहीं बना, केवल एक समिति के रूप में ही रह गया। विभिन्न संस्थाएँ अपनी-अपनी दिशा में काम करती रहीं। उनकी दिशा भिन्न रही और सर्व-सेवा-संघ के जरिये पारस्परिक सम्पर्क भी नहीं रहा। फलस्वरूप जिस उद्देश्य से सर्व-सेवा-संघ की कल्पना की गयी थी, वह सफल नहीं हो सका।

विनोबाजी इस स्थिति को देख रहे थे। सर्व-सेवा-संघ की हालत से वे चिन्तित रहते थे। आखिर उन्होंने यह सुझाव दिया कि जुड़ी हुई संस्थाएँ अलग न रहकर सर्व-सेवा-संघ में विलीन हो जायँ और सब मिलकर एक संस्था बन जायँ, ताकि सब एकरस होकर समग्रता का दर्शन तथा प्रदर्शन कर सकें। सबसे पहले विनोबाजी का सुझाव गो-सेवा-संघ ने मान लिया और वह अपने प्रस्ताव द्वारा संघ में मिल गया। फिर कुमारप्पाजी ग्रामोद्योग-संघ को सर्व-सेवा-संघ में विलीन करने का प्रस्ताव लाये।

निष्क्रिय विलीनीकरण

गो-सेवा-संघ के विलीन हुए कुछ महीने बीत गये थे, लेकिन उसका काम करने का ढंग ऐसा नहीं था कि ऐसा लगे कि सर्व-सेवा-संघ से एकाकार हो गया है। सर्व-सेवा-संघ और गो-सेवा-संघ दोनों अलग-अलग ही दीखते थे, प्रस्ताव में भले ही दोनों एक हो गये थे। मुझे यह चीज कुछ अच्छी नहीं लगी। मुझे डर था कि यदि यही ढंग जारी रहा,

तो ग्रामोद्योग-संघ विलीन हो जायगा, लेकिन वह भी उसी तरह से अपना अस्तित्व बनाये रखेगा। तो जिस तरह से जुड़ाव समिति के रूप में सर्व-सेवा-संघ का उद्देश्य विफल हो रहा था, उसी तरह इस प्रकार के विलीनीकरण से कुछ निष्पत्ति नहीं निकलेगी। अतः ग्रामोद्योग-संघ की बैठक में मैंने विलीनीकरण के खिलाफ राय दी। मेरी इस राय से साथियों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि १९४५ में जब से गांधीजी ने नव-संस्करण की बात उठायी और चरखा-संघ द्वारा समग्र सेवा की चर्चा हो रही थी, उसी समय से मैं यह राय प्रकट करता रहा था कि सब संस्थाओं को एक में लाकर समग्र सेवा संघ बने। लेकिन गो-सेवा-संघ के ढंग को देखकर मैंने समझा कि विलीनीकरण की प्रक्रिया अस्वाभाविक होगी। लेकिन श्रद्धेय कुमारप्पाजी तथा अन्य साथियों के आग्रह से ग्रामोद्योग-संघ सर्व-सेवा-संघ में विलीन हो गया।

विलीनीकरण के बाद ग्रामोद्योग-संघ की भी वही स्थिति रही, जो गो-सेवा-संघ की थी। वह भी पूर्ववत् अलग से और अपने ढंग से चलता रहा। कागज पर गो-सेवा-विभाग और ग्रामोद्योग-विभाग लिखा जाता था, लेकिन ऊपर से नीचे तक के कार्यकर्ता गो-सेवा संघ और ग्रामोद्योग-संघ ही कहा करते थे। सर्व-सेवा-संघ पूर्ववत् समिति जैसा ही बना रहा। विलीनीकरण के बाद श्री कुमारप्पाजी वर्धा के निकट सेल्डो नामक गाँव में समतुलित कृषि के प्रयोग करने चले गये और श्री जी० रामचन्द्रन् ने वर्धा में ग्रामोद्योग-विभाग के मन्त्री के रूप में मगनवाड़ी का काम संभाला। उन दिनों एक बार मैंने रामचन्द्रन्‌जी से पूछा कि उनकी राय में विलीनीकरण से क्या फर्क पड़ा, तो उन्होंने मुस्कराकर कहा : "We have changed the letter-head only." (हम लोगों ने केवल पत्र-व्यवहार में संस्था का नाम बदला है।)

सर्वोदय का द्वितीय सम्मेलन उड़ीसा के अंगुल में होने का निश्चय हुआ। विनोबाजी के नेतृत्व में गो-सेवा-संघ तथा ग्रामोद्योग-संघ के सर्व-सेवा-संघ में विलीन होने की चर्चा फैली हुई थी। चरखा-संघ के

मित्रों के सामने भी यह सवाल उपस्थित हुआ। जाजूजी, कृष्णदास भाई तथा अन्य मित्रों के मन में आया कि चरखा-संघ का भी विलीनीकरण होना चाहिए। वे सोचने लगे कि अंगुल-सम्मेलन में चरखा-संघ के विलीनीकरण की घोषणा हो।

मेरा विरोध

मैं उन दिनों बीमार होकर उरुली कांचन में इलाज करा रहा था, इसलिए मित्रों की चर्चा मे शामिल नहीं रह सका था। इसलिए मुझसे चर्चा करने के लिए कृष्णदास भाई, टेलेजी, दादाभाई नाईक तथा खादी विद्यालय के आचार्य ल० रा० पण्डितजी उरुली कांचन पहुँचे और उन्होंने विलीनीकरण का प्रस्ताव रखा। मैंने उनसे कहा कि अभी चरखा-सघ के विलीनीकरण से कुछ निष्पत्ति नहीं निकलनेवाली है। चरखा-संघ विलीन हो जायगा, साइन बोर्ड बदल जायगा; लेकिन हम सब अलग ही अलग सोचते और काम करते रहेंगे। सामूहिक चिन्तन, सामूहिक कार्यक्रम तथा सबको सँभालने योग्य नेतृत्व के बिना विलीनीकरण से अलग-अलग जो काम हो रहा है, वह भी नहीं हो सकेगा। विनोबा के सिवा दूसरा कोई सम्मिलित कार्यक्रम का नेतृत्व नहीं ले सकता है। देश में सामूहिक कार्यक्रम की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ती है। गांधीजी के नव-संस्करण में बताये हुए कार्यक्रम भी नहीं चल सके। इन तमाम कारणों से मैं चरखा-संघ के विलीनीकरण की सम्मति नहीं दे सका। मित्रों ने काफी देर तक चर्चा की, लेकिन मुझे विलीनीकरण के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिल रही थी।

ये लोग चर्चा करके चले गये। चलने से पहले कृष्णदास भाई ने कहा : "आप इस बार के सम्मेलन में उपस्थित नहीं रह सकेंगे, लेकिन सम्मेलन के अवसर पर जो खादी-सम्मेलन होगा, उसके लिए अपना वक्तव्य लिख दीजिये।" वक्तव्य लेने के लिए वे एक दिन रुक गये और मैंने अंगुल-सम्मेलन के लिए अपना वक्तव्य भेज दिया। सभी को उसका

पता है। चरखा-संघ ने उस वक्तव्य को 'चरखा-आंदोलन की दृष्टि और योजना' के नाम से प्रकाशित भी किया था।

उरुली कांचन में कुछ स्वास्थ्यलाभ कर मैं वर्धा पहुँचा। जब मैं मगनवाड़ी के मित्रों से मिलने गया, तो मिलते ही भाई रामचन्द्रन्‌जी ने मुझसे कहा: "You alone will be held responsible for the failure of Sarva Seva Sangh." (सर्व-सेवा-संघ की असफलता के लिए केवल आप ही जिम्मेदार ठहराये जायँगे।) मैंने उन्हें समझाया कि मेरे मन में कैसे विचार चल रहे हैं। उन्होंने कहा कि "कोई बड़ा नेतृत्व नहीं है, तो क्या काम नहीं चलेगा! आप ही नेतृत्व लीजिये और सब मिलकर सोचें।" सामूहिक कार्यक्रम के बारे में उन्होंने कहा कि "सामूहिक कार्यक्रम रहता नहीं है, बनाया जाता है।" मैंने उनसे कहा कि "उसे बनाया नहीं जाता, उसके लिए सबके मन में स्वाभाविक प्रेरणा होनी चाहिए। और प्रेरणा परिस्थिति तथा नेतृत्व से मिलती है। वह गोष्ठी करके पैदा नहीं की जाती।" इस प्रकार उनसे काफी देर तक चर्चा हुई, लेकिन मैं उनके असन्तोष का निराकरण नहीं कर सका।

श्रद्धेय कुमारप्पाजी को विलीनीकरण के विचार पर आस्था थी, उसके लिए वे व्याकुल थे। विलीनीकरण की प्रक्रिया में चरखा-संघ के शामिल न होने से उनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कई बार अपना दुःख प्रकट किया, लेकिन उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती थी, इसलिए मैं उसे मान नहीं सका। बाद को वे तालीमी संघ में विलीनीकरण का प्रस्ताव लाये, लेकिन वहाँ किसीको मान्य न होने से तालीमी संघ भी विलीन नहीं हुआ।

इस तरह सर्व-सेवा-संघ तथा जुड़ी हुई संस्थाओं का काम पूर्ववत् चलता रहा तथा साथ-साथ विलीनीकरण की भी चर्चा चलती रही। ऐसी ही परिस्थिति में विनोबाजी ने तेलंगाना में भूदान-आंदोलन का बिगुल बजा दिया।

विनोबाजी की पदयात्रा से देश में एक नयी जाग्रति हुई तथा एक

विनोबा का भूदान-आन्दोलन

नये आंदोलन का जन्म हुआ। पर यह आन्दोलन विनोबा का अपना था और उन लोगों का था, जिन्हें उनसे प्रेरणा मिलती थी। यह अवश्य है कि संस्थाएँ मदद करती थीं। उत्तर प्रदेश की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय वहाँ के गांधी आश्रम को था। लेकिन आंदोलन किसी संस्था का नहीं था। किसी संस्था ने उसे चलाने की जिम्मेवारी भी नहीं ली थी, फिर भी वह दिन-दिन व्यापक बनता गया।

सर्व-सेवा-संघ ने जिम्मेदारी ली

ऐसी परिस्थिति में सेवापुरी में सर्वोदय-सम्मेलन हुआ। लगभग दस हजार व्यक्ति उसमें शामिल हुए। देश के बड़े-बड़े नेताओं तथा राज्याधिकारियों ने साधारण जन-समुदाय के बीच बैठकर चर्चा की। इन सब कारणों से भूदान-आंदोलन ने सारे देश की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर ली। सरकार तथा जनता, दोनों पर इस सम्मेलन का गहरा असर पड़ा। लोग यह महसूस करने लगे कि यह एक बड़ा आंदोलन होने जा रहा है।

संस्थाएँ इस आन्दोलन की ओर तेजी से खिच रही थीं। सर्व-सेवा-संघ भी इस प्रक्रिया से बाहर नहीं रह सका, बल्कि वह तो सबसे ज्यादा इस ओर झुका। गांधीजी के विचारों के अनुसार संगठित सर्वोदय-समाज की संस्था के रूप में इसका संगठन हुआ था। इसलिए आंदोलन की जिम्मेदारी सहज ही इसके ऊपर आ गयी और सर्व-सेवा-संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा इस जिम्मेदारी को सँभाल लिया।

उन दिनों श्री शंकरराव देव संघ के मंत्री थे। उन्होंने सालभर अथक परिश्रम कर, देशभर दौरा करके हर प्रदेश में भूदान का काम चलाने के लिए ऐसी समिति बनायी, जिसमें विभिन्न पक्षों के लोग सदस्यता के नाते एक साथ मिलकर चर्चा तथा चिन्तन करते थे। पक्षगत प्रतिद्वन्द्विता के बीच यह एक बहुत बड़ी बात थी। जनता महसूस करने लगी कि यह आन्दोलन रेगिस्तान में एक नखलिस्तान है।

सेवापुरी-सम्मेलन के अवसर पर जब अखिल भारतीय सर्व-सेवा-संघ ने आंदोलन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली, तो पहले प्रस्ताव से ही उसने एक बहुत बड़ा संकल्प कर डाला कि अगले दो साल में २५ लाख एकड़ जमीन भूदान में लेनी है। इस प्रस्ताव ने सारे देश की दिलचस्पी बढ़ा दी। यह जानकर कि सर्व-सेवा-संघ ने २५ लाख एकड़ जमीन प्राप्त करने का संकल्प किया है, लोग आश्चर्यचकित हो गये, क्योंकि उन दिनों २५ लाख एकड़ जमीन प्राप्त करने की बात करनेवाला गगनविहारी ही माना जाता था। इस आकर्षण के कारण सर्व-सेवा-संघ को हर प्रान्त में हर पक्ष का सहयोग मिला।

२५ लाख एकड़ भूदान का निश्चय

सेवापुरी-सम्मेलन ने सर्वोदय-विचार-क्रांति में एक अन्य निश्चित कदम उठाया। अपने प्रस्ताव में उसने कहा कि चूँकि सच्चा लोकतंत्र विकेन्द्रित अर्थनीति तथा राजनीति से ही सम्भव है, इसलिए संघ ने अपने सदस्यों और जनता का आह्वान किया कि वे कम-से-कम अन्न-वस्त्र की सामग्री के लिए केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार करें। पिछले तीन सालों से जिस बात के लिए मैं निरन्तर प्रचार करता रहा, उसे सर्व-सेवा-संघ के प्रस्ताव में स्वीकृत कर लिया, यह देखकर मुझे कितना आनन्द हुआ, इसका अन्दाज तुम्हें आसानी से हो सकेगा।

केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार

सेवापुरी-सम्मेलन के फलस्वरूप देश में वैचारिक आंदोलन का जो नेतृत्व निर्माण हुआ, उससे मुझे अत्यन्त संतोष हुआ। जिन अभावों के कारण मैंने मित्रों के आग्रह के खिलाफ चरखा-संघ को सर्व-सेवा संघ में विलीन नहीं होने दिया, उन अभावों का निराकरण हो गया। बापू के विचार के अनुसार जो रचनात्मक कार्यक्रम चलता था, उसका नेतृत्व विनोबा ने आंदोलन के जरिये अपने हाथ में ले लिया। देश का आकर्षण उस नेतृत्व पर केन्द्रित हुआ। एक संस्था की हैसियत से सर्व-सेवा-संघ ने भी विनोबा के मार्ग-दर्शन में अपने कन्धों पर नेतृत्व उठा लिया। अतः

सहज ही मेरे मन में आया कि अब समय आ गया है, जब चरखा-संघ सर्व-सेवा-संघ में विलीन होना चाहिए। एक नेता तथा संस्था के नीचे बापू के सारे रचनात्मक कामों का संचालन हो, ताकि इसमें से कुछ वास्तविक शक्ति का निर्माण हो सके।

कमर का तीव्र दर्द लेकर मैं खादीग्राम वापस आकर खाट पर लेट गया। मित्रों ने मान लिया कि अब मैंने बाकी जिन्दगीभर के लिए खाट पकड़ ली, क्योंकि देश के तमाम डॉक्टर मित्रों ने सभी आधुनिक औजारों से परीक्षा कर और सारे ज्ञान-विज्ञान का इस्तेमाल कर यह फैसला दे दिया था कि रीढ़ की हड्डी बढ़ने के कारण यह रोग इलाज के बाहर हो गया है। यह कभी ठीक होगा नहीं। दो, सवा दो साल खाट पर पड़े रहकर किस तरह मैं स्वस्थ हुआ, यह बात सबको मालूम है। अतः इसका वर्णन करना व्यर्थ है।

चरखा-संघ का प्रश्न

खादीग्राम में पड़े-पड़े चरखा-संघ के विलीनीकरण के प्रश्न पर मैं सोचता रहा। संघ के जो मित्र मुझसे मिलने आते थे, उनसे चर्चा भी करता रहा। अन्त में एक बार जब भाई राधाकृष्ण बजाज मुझसे मिलने आये, तो मैंने उन्हें अपना निर्णय सुना दिया और कहा कि चरखा-संघ के सब मित्र तैयार हों, तो अगले सम्मेलन के अवसर पर ही चरखा-संघ विलीन हो जाय, ऐसी मेरी इच्छा है। भाई राधाकृष्ण बजाज ने कहा कि "आप ही विरोध में थे और आपकी ही ओर से प्रस्ताव हुआ, तो चरखा-संघ के लोग सहमत हो जायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।" फिर क्या था, राधाकृष्ण बजाजजी ने विनोबा से लेकर देशभर के सभी मित्रों के कानों में मेरे ये विचार डाल दिये।

मार्च '५३ में चांडिल में सम्मेलन हुआ। वहाँ पर मैंने चरखा-संघ के मित्रों के सामने अपना प्रस्ताव रखा। दो दिन तक खूब चर्चा चली। आखिर उसमें सबकी सहमति रही। चर्चा के दौरान मैंने अब तक के विलीनी-करण से संघ का जो स्वरूप चल रहा था, उस पर मैंने अपने विचार प्रकट

हुआ। प्रसन्नता की बात है कि यह सर्वसम्मति सम्पूर्ण थी, क्योंकि उस बैठक में चरखा-संघ के सारे सदस्य उपस्थित थे।

जाजूजी की इच्छा थी कि विलीनीकरण के सम्बन्ध में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें लिखित बयान के रूप में प्रस्ताव के साथ पेश करूँ।

विलीनीकरण स्वीकृत

तदनुसार मैंने भाई कृष्णदास की मदद से एक बयान तैयार करके प्रस्ताव में संलग्न कर दिया। वह बयान सर्व-सेवा संघ में भेज दिया गया।

मित्रों ने मेरे बयान के उस हिस्से पर कुछ आपत्ति की, जिसमें मैंने विलीन संस्थाओं के कोष को मिला देने की बात कही थी और ग्रामोद्योग, गो-सेवा, खादी आदि को न रखने का सुझाव रखा था। उन्होंने प्रश्न किया कि भिन्न-भिन्न रुचि और प्रकृति का क्या होगा? मैंने कहा कि सर्व-सेवा-संघ की सारी प्रवृत्ति समग्र सेवा की होगी। विभिन्न केन्द्रों में संचालक की रुचि और झुकाव के अनुसार विभिन्न मदों पर जोर अवश्य रहेगा, लेकिन केन्द्र की प्रवृत्ति समग्र सेवा की ही रहेगी। उदाहरणार्थ, जहाँ भाई राधाकृष्णजी बैठेंगे, निःसन्देह वहाँ गो-सेवा पर जोर रहेगा और जहाँ मैं बैठूँगा, वहाँ नयी तालीम पर।

दो दिन चर्चा होने के बाद सर्व-सेवा-संघ ने मेरे वक्तव्य के साथ विलीनीकरण के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया। ○ ○ ○

मुँगेर में भूदान-प्रचार

: १९ :

श्रमभारती, खादीग्राम
११-७-'५८]

चौमासा बिताने के लिए विनोबा बनारस ठहरे हुए थे। आंदोलन के भविष्य के बारे मे सारे कार्यकर्ता वहीं जुटते थे तथा अनेक प्रकार की चर्चा होती थी। मैं कमर के दर्द के कारण वहाँ नहीं जा सकता था। इसलिए करण भाई खादीग्राम आकर चर्चाओं का सार मुझे सुनाते थे। उसी चर्चा के दौरान में उन्होंने मुझसे कहा कि आंदोलन के व्यापक प्रसार के लिए खर्च की आवश्यकता है और खुशी की बात है कि गांधी-निधि उस जिम्मेदारी को उठाने के लिए तैयार है।

यह बात मुझे कुछ अटपटी-सी लगी। गांधी-निधि के खर्च से आंदोलन चलेगा, तो यह चरखा-संघ जैसी सर्व-सेवा-संघ की एक प्रवृत्ति हो जायगी। जन-आन्दोलन, जन-क्रान्ति आदि जो गांधी-निधि की भाषा प्रयोग में आती है, वह व्यर्थ सिद्ध होगी।

मदद

करण भाई से मैंने कहा कि ऐसा करना बिलकुल गलत होगा। क्रांति इस तरह नहीं हुआ करती। मैंने आजादी की लड़ाई के दिनों की मिसाल पेश की और कहा कि "उत्तर प्रदेश में आंदोलन का विशिष्ट प्रसार हुआ और वह तब हुआ, जब सभी सार्वजनिक कार्यकर्ता किसी न किसी दल की ओर से आम चुनाव में मशगूल थे। इसे किस केन्द्रीय कोष ने चलाया ?"

करण भाई मुझसे सहमत नहीं हो सके। उन्होंने कहा : "आपको मालूम नहीं है कि उत्तर प्रदेश में यात्रा के लिए धन बटोरने में कितनी तकलीफें उठानी पड़ी हैं, सो मैं ही जानता हूँ।" मैंने कहा कि "यह ठीक है कि उसमें तरद्दुद उठाना पड़ा, लेकिन आंदोलन केवल चला ही नहीं,

यह भी गया कि आज गांधी-निधि, सरकार तथा दूसरी सारी संस्थाएँ इस ओर झुक रही हैं। कोई भी क्रांति बिना तरद्दुद के तो चल ही नहीं सकती है। यही तरद्दुद आंदोलनों को जन-हृदय में प्रवेश कराता है। जब आंदोलन साधारण जनता के लिए अज्ञात था, तब तो तुम लोगों ने उसे जनता के आधार पर चलाया और अब जब उसने जन-मानस को इस प्रकार से आकर्षित कर लिया है, तब जनता के भरोसे उसे चलाने से हिम्मत हारते हो, यह कैसी बात है!"

करण भाई का मेरा साथ तब से है, जब १९३५ में मैं रणीवाँ गया था। तब से आज तक वे मेरे अनुज जैसे ही रहे हैं, लेकिन उन्होंने बिना समझे कभी कोई चीज मानी नहीं। आदेश पर वे

निर्णय का विरोध समर्पण-बुद्धि से काम कर लेते हैं, लेकिन मतभेदों को प्रकट किये बिना मानते नहीं। मौका आने पर वे मुझसे गर्मागर्म बहस करते हैं। इस बार भी वे गर्म हुए और बोले कि "आप सिर्फ सिद्धान्त की ही बात करते हैं और यह नहीं देखते कि सम्भव क्या है!" मैंने कहा : "कुछ भी कहो, यह निर्णय आन्दोलन के लिए हानिकारक होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।"

उत्तर प्रदेश से निकलकर विनोबाजी सीधे बिहार आनेवाले थे। बिहार के मित्रों ने चार लाख एकड़ जमीन एकत्र करने का संकल्प किया। विनोबाजी उतने में ही बिहार आने के लिए राजी हो गये। ज्यों-ज्यों बिहार आने का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों बिहार के मित्रों की बेचैनी बढ़ती गयी। नया काम था। क्या कांग्रेस-जन, क्या रचनात्मक कार्यकर्ता, सभी लोग स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जन-सम्पर्क से दूर हो गये थे। इसलिए उनके सामने प्रश्न था कि काम कैसे चलेगा, खर्च कहाँ से आयेगा आदि। ऐसे अवसर पर उन्हें यह ठीक लगा कि गांधी-निधि खर्च का बोझ उठाये।

लक्ष्मीबाबू प्रायः मुझसे मिलते रहते थे। उन्होंने भी गांधी-निधि की चर्चा की। मैंने उनसे भी वही कहा, जो करण भाई से कहा था।

उन्होंने कहा कि "आपका सिद्धान्त बिलकुल सही है, लेकिन जनता में घुसने के लिए शुरू में कुछ सहारा ऊपर से लेना होगा।" मैंने कहा : "फिर आप फँस जायेंगे। कार्यकर्ताओं की हिम्मत टूटेगी और नये कार्यकर्ता विशेष त्यागवृत्ति लेकर आन्दोलन में प्रवेश नहीं करेंगे।" करण भाई ने जो जवाब दिया था, वही दूसरी भाषा तथा दूसरे शब्दों में लक्ष्मीबाबू ने दिया। अन्त में यह मामला विनोबाजी के पास गया और उन्होंने गांधी-निधि की मदद के प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे दी।

विनोबा की स्वीकृति

विनोबाजी की स्वीकृति के बावजूद यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। लेकिन आन्दोलन विनोबाजी ने चलाया है, वे द्रष्टा पुरुष हैं, हो सकता है, इसमें उन्होंने कुछ देखा हो—यह सब सोचकर मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। लेकिन मेरे मन में समाधान नहीं हुआ।

बाद में एक बार सघन क्षेत्र जाने को मिला था, वहाँ के खर्च का ढंग तथा काम के तौर-तरीके देखकर गांधी-निधि से मदद लेने के बारे में मेरा विचार और दृढ़ हुआ। लेकिन इतने बड़े तपस्वी के नेतृत्व में आन्दोलन चल रहा था, इसलिए उसकी मुझे विशेष चिन्ता नहीं हुई।

इन बातों के बावजूद बिहार में आन्दोलन जोर पर था। लोगों में बड़ा उत्साह था। जयप्रकाश बाबू इसमें पूरा समय दे रहे थे, इसलिए नये नौजवान इसमें आ रहे थे। दूसरे साल चाण्डिल-सम्मेलन की हवा देखकर ऐसा लगता था, मानो हम १९३० के ही आन्दोलन में चल रहे हों। इसी तरह जोश के साथ आन्दोलन बढ़ता रहा। आन्दोलन की इस बाढ़ में मेरी चिन्ता गांधी-निधि की सहायता के पहलू पर से हट गयी। उस समय मैं खाट पर पड़ा था, इसलिए कर भी क्या सकता था ? चरखा-संघ को सर्व-सेवा-संघ में विलीन करने के बाद अध्यक्ष पद से मुक्ति पाने से मुझ पर कोई विशिष्ट जिम्मेदारी भी नहीं रही थी। मैं खादीग्राम की योजना में मशगूल हो गया।

आन्दोलन में तेजी

मुँगेर जिले के कांग्रेस-जन खादीग्राम में मेरे बैठने के खिलाफ थे, इसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। लेकिन यह मुखालफत कितनी गहरी थी, यह बात बाद में मालूम पड़ी। विनोबा ने जब पहली बार बिहारभर के कांग्रेस-जनों को आमन्त्रित किया था, तो इस जिले से कोई नहीं गया था। बाद में पटना की बैठक में वे गये तो अवश्य, लेकिन भूदान समिति आदि बनाने से उन्होंने इनकार कर दिया।

मुँगेर जिले के काम की जिम्मेदारी

उनका कहना था कि कांग्रेस ही एकमात्र ऐसी संस्था है, जो कुछ कर सकेगी। समिति आदि बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन तब से लेकर चाण्डिल-सम्मेलन तक कोई काम नहीं हुआ। इस कारण विनोबाजी चिन्तित थे। अकस्मात् उनका पत्र आया कि मुँगेर के लिए मुझे चिन्ता करनी है। आदेश हुआ और मैंने जिम्मेदारी महसूस की। अजीब स्थिति थी। इधर मेरी कमर में दर्द, उधर साथियों का इस जिले में किसीसे कोई परिचय नहीं!

छात्रों का आवाहन

चाण्डिल-सम्मेलन में जयप्रकाश बाबू ने अपील की कि विद्यार्थी एक साल अपनी पढ़ाई छोड़कर भूदान में काम करें। साधारण स्कूल-कॉलेजों से तो बहुत कम छात्र आये, लेकिन तालीमी संघ में जो लोग ग्राम-निर्माण, नयी तालीम का शिक्षण ले रहे थे, उनमें से बारह-तेरह भाई-बहन इसके लिए आगे बढ़े। अण्णासाहब ने उन्हें एक माह की ट्रेनिंग के बाद काम पर लगाने के लिए मेरे पास भेज दिया। उनसे बात करने से पता चला कि मेरे मार्ग-दर्शन में इसी जिले में काम करने की उनकी तैयारी है।

इन बारह-तेरह नौजवानों को मैंने विभिन्न थानों में भेज दिया। उनसे मैंने कहा कि तुम वहाँ के लोगों से परिचय बढ़ाओ, उन्हें मित्र बनाओ और अपने विचार का प्रचार करो। एक महीने के प्रशिक्षण-काल के

दौरान में मैं उनका रोज दो-तीन घंटे का वर्ग लेता था। चार घंटा श्रम करवाता था। इसलिए एक माह की अवधि में ही उन्हें पर्याप्त वैचारिक पूँजी मिल गयी थी। उन्होंने भी जिले के काम में इस पूँजी का अच्छी तरह इस्तेमाल किया और थोड़े दिनों में अपना अच्छा असर बना लिया। समाजवादी या साम्यवादी विचारवाले लोगों के साथ चर्चा करके वे अपने विचार का प्रतिपादन भी कर लेते थे। इन जवानों के घूमने से खादीग्राम का स्वतंत्र परिचय हुआ। साथ-साथ इधर आकर्षण भी बढ़ा। ये विद्यार्थी सर्वोदय के विचार जिस ढंग से पेश करते थे, उसका परिचय जनता को नहीं था। बापू के विचार के पीछे एक सुव्यवस्थित समाज-क्रान्ति की विचारधारा है, इसका बोध अच्छे नेताओं को भी नहीं था। वे गांधीवाद का मतलब इतना ही मानते थे कि मनुष्य झूठ न बोले, नैतिक चरित्र ठीक रखे और जीवन में आध्यात्मिक विकास हो, भले ही आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नों पर वह रूढ़ विचारों को ही मानता रहे। अतः यहाँ के जवानों ने जब गांधीजी के विचारों का स्पष्टीकरण करना शुरू किया, तो उन्हें एक नयी रोशनी मिली और साथ-साथ नयी आशा भी बँधी।

युवकों का प्रशंसनीय कार्य

यह सब होता रहा, लेकिन जिले के काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए मुझे कोई ऐसा सहायक चाहिए था, जिसका जिले के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से परिचय हो। मैंने भाई रामविलास शर्मा को माँगा और लक्ष्मीबाबू ने उन्हें मुँगेर जिले की जिम्मेदारी देकर भेज दिया। भाई रामविलास शर्मा ने जिलेभर का दौरा करके सभी पक्ष के लोगों से सम्पर्क किया। यद्यपि कांग्रेस के उच्चाधिकारी खिलाफ थे, फिर भी थाने के बहुत से कार्यकर्ताओं ने मदद करने का वचन दिया। समाजवादी दल के भी अधिकांश कार्यकर्ताओं ने मदद देने की बात कही। शर्माजी ने सगर घूमकर ऐसा महसूस किया कि जिलेभर के कार्यकर्ताओं का एक

रामविलास शर्मा का दौरा

शिविर मेरे सामने खादीग्राम में हो, जिससे भूदान की वैचारिक भूमिका लोगों की समझ में आ जाय। तदनुसार मई-जून में लगभग पचास कार्यकर्ताओं का शिविर खादीग्राम में बुलाया। शिविर में कांग्रेस-जन थे, प्रजा समाजवादी दल के कार्यकर्ता थे और कुछ ऐसे भी थे, जो किसी दल में नहीं थे; लेकिन सर्वोदय-विचार से प्रभावित थे। शिविर में जितने लोग आये थे, उनकी माँग थी कि मैं एक बार जिले का दौरा करूँ। कम-से-कम प्रत्येक थाने में एक सार्वजनिक सभा करके मैं भूदान-क्रांति का विचार समझाऊँ। उनका कहना था कि भूदान एक सामाजिक क्रांति है, इसकी धारणा जब उन्हें ही नहीं है, तो जनता को कहाँ से होगी। वे मानते थे कि एक संत आ रहा है, वह जमीन माँगता है, तो प्राचीन परम्परा के अनुसार उन्हें कुछ दान देना ही है। इतना ही भूदान का अर्थ है। उनमें से केवल दो-चार ही ऐसे थे, जिन्हें क्रान्ति का कुछ बोध था।

लेटे-लेटे दौरा

मैं उस समय कमर के दर्द से पड़ा हुआ था। यात्रा कर नहीं सकता था, लेकिन उन्होंने कहा कि वे मुझे लेटाकर ले जाने की व्यवस्था करेंगे। भाई रामविलास ने भी जोर लगाया और मैं राजी हो गया। तदनुसार जिले में एक महीने का दौरा किया। भाई रामविलास खुद पहले जाकर कार्यक्रम बनवाते थे और मैं पीछे आता था। मित्रों ने मुझे कभी मोटर पर लिटाकर, कभी बैलगाड़ी पर चारपाई बाँधकर और कभी पालकी से—इस प्रकार एक माह की यात्रा पूरी कर ली। लेटकर चलना, लेटकर लोगों से चर्चा करना और सार्वजनिक सभाओं में लेटकर ही भाषण करना—यह भी एक नया अनुभव था। तुम लोग होतीं, तो बड़ा मजा आता।

मेरी यात्रा का कार्यक्रम जिलेभर में फैला। समूचे बिहार का दौरा मैं पहले कर चुका था। प्रदेश के नौजवान तथा वहाँ की जनता मुझे पहचानती थी। मैं अत्यन्त क्रान्तिकारी विचारक के नाम से परिचित हो गया था। इसलिए कम प्रचार होने पर भी यात्रा के बारे में लोग खूब

जिले में जोरदार प्रचार

जान गये थे। जिले के कांग्रेस अधिकारियों को यह नागवार मालूम हुआ। उन्होंने थाने के सभी कार्यकर्ताओं को मना कर दिया कि वे इस यात्रा में सहयोग न करें। इस मनाही की बात भी जिलेभर में फैल गयी। उससे लोगों का आकर्षण और अधिक बढ़ा। हर सभा में तीन हजार से सात हजार तक की भीड़ होती थी। बहुत से थानों के कांग्रेस-जन मनाही के बावजूद मेरा स्वागत करते थे और सार्वजनिक सभा की व्यवस्था करते थे। इस कारण वे अपने अधिकारियों के कोपभाजन बनते थे, लेकिन उनका दिल आन्दोलन के अनुकूल था, इसलिए वे सहयोग करते थे।

मेरी यात्रा से जिले में एक हवा बनी, खादीग्राम की शोहरत हुई और जनता में वैचारिक प्रचार हुआ। भूदान-क्रान्ति के बारे में मुँगेर जिले की जनता की काफी स्पष्ट धारणा बनी। शायद उस समय इस जिले में जितनी व्यापक वैचारिक स्पष्टता थी, उतनी बहुत कम स्थानों में थी।

इस प्रकार जिले में प्रचार करने के सिलसिले में सारे जिले से खादीग्राम का सम्पर्क हो गया। तबसे विभिन्न थानों से सार्वजनिक कार्यकर्ता बीच-बीच में खादीग्राम आने लगे और हम लोगों से चर्चा करने लगे। हम भी उनकी चर्चा में काफी दिलचस्पी लेते थे और उनसे सम्पर्क बढ़ाते थे। इस तरह चांडिल-सम्मेलन से सन् '५४ के गया-सम्मेलन तक का समय खादीग्राम ने मुँगेर जिले में भू-क्रान्ति के विचार फैलाने में ही बिताया।

● ● ●

जीवनदानियों का शिविर

श्रमभारती, खादीग्राम
२६-८-'५८

गया-सम्मेलन के अवसर तक देश में भूदान-आन्दोलन के प्रति काफी विश्वास फैल गया था। दो साल पहले सेवापुरी में सर्व-सेवा-संघ ने २५ लाख एकड़ भूमि एकत्र करने का जो संकल्प किया था, वह पूरा हो चुका था। इस संकल्प ने देश के सभी पक्ष के लोगों की दृष्टि आकृष्ट की। सम्मेलन में राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन, पंडित जवाहरलालजी तथा अन्य बड़े कांग्रेस-नेता उपस्थित हुए थे। आचार्य कृपालानी तथा अन्य दलों के चोटी के नेता भी पधारे थे। यह घटना अपने-आपमें ही बहुत बड़ा महत्त्व रखती थी। इसी सम्मेलन के अवसर पर जयप्रकाश बाबू ने राजनीति से तटस्थ रहकर क्रान्ति के लिए अपने जीवन-दान की घोषणा की। इस घोषणा ने सारे सम्मेलन में बिजली-सी दौड़ा दी, खास करके तब, जब जयप्रकाशजी की अपील के फलस्वरूप पहला दान स्वयं विनोबा का आया। मैंने भी अत्यन्त घबराहट के साथ अपना जीवन अर्पित किया। इस जीवन-दान के आह्वान पर सम्मेलन के अवसर पर ही सैकड़ों नौजवानों ने अपने जीवन की आहुति दी। यह घटना इस सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।

उन्हीं दिनों महाराष्ट्र में संयुक्त महाराष्ट्र का आन्दोलन चल रहा था। सीमा कमीशन के सामने केस रखने की तैयारी हो रही थी। श्री शंकररावजी देव उस समय आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। इसलिए उन्होंने सर्व-सेवा-संघ के मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया। शंकररावजी के मन्त्री पद स्वीकार करने के पहले विनोबाजी चाहते थे कि मैं सर्व-सेवा-संघ के मन्त्री का काम करूँ। उन्होंने इसके लिए मुझे समझाया भी, लेकिन उस समय मैं चरखा-संघ के अध्यक्ष की जिम्मेदारी लिये हुआ था।

तुम जानती हो कि मैं एक साथ दो बड़ी जिम्मेदारियाँ नहीं चला सकता। विना एकाग्र चिन्तन के मैंकोई काम नहीं कर सर्व-सेवा-संघ की सकता। मैंने विनोबाजी से कहा था कि चरखा-संघ अध्यक्षता स्वीकार की जिम्मेदारी से मुक्त होकर मैं यह भार ले सकता हूँ। लेकिन चरखा-संघ के मित्रों ने मुझे मुक्त नहीं किया था। जब वहाँ से मुक्ति मिली, तो इसके लिए लोग मुझ पर फिर जोर डालने लगे। लेकिन इस बार मेरी दूसरी मजबूरी थी। बीमार हालत में मैं इतनी बड़ी जिम्मेदारी नहीं ले सकता था, लेकिन साथी जोर दे रहे थे। आखिर में जाजूजी ने ताईद की। उन्होंने कहा कि इनका कहना सही है, किसी समर्थ व्यक्ति को ही यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए। हाँ, अगर आप इन्हें कुछ काम देना ही चाहते हैं, तो अध्यक्ष का काम दीजिये, जिससे रोजमर्रा की व्यवस्था की चिन्ता न करनी पड़े। इस पर सब लोग राजी हुए। फलतः अण्णासाहब को मन्त्री पद का भार सौंपा गया और मुझे अध्यक्ष का। मैंने भी सोचा कि अध्यक्ष का विशेष काम नहीं है, खादीग्राम में पड़े रहने से भी चल जायगा, इसलिए उसे स्वीकार कर लिया।

गया-सम्मेलन के बाद अकेले बिहार में ही ५००-६०० नौजवानों ने जीवन-दान-पत्र भरकर भेजे। जयप्रकाशजी ने जीवनदानियों से सम्पर्क साधने के लिए मुझ पर ही बोझ डाला था। जहाँ तक होता था, मैं पत्रों द्वारा सम्पर्क स्थापित करता था। जगह-जगह कुछ मित्रों को भी मैंने जिम्मेदारी दे दी थी कि वे अपने प्रदेश में सम्पर्क साधें।

बिहार में जीवनदानियों की संख्या सबसे अधिक थी। विनोबाजी उन दिनों बिहार में ही पदयात्रा कर रहे थे, इसलिए यह सोचा गया कि मुजफ्फरपुर में बिहार के जीवनदानियों का शिविर विनोबाजी के समक्ष किया जाय।

मुजफ्फरपुर पहुँचा। करीब ५०० जीवनदानियों का जमाव था। देश के विभिन्न स्थानों से सर्वोदय-नेता लोग भी एकत्रित हुए थे,

क्योंकि इसी अवसर पर सर्व-सेवा-संघ की बैठक भी बुलायी गयी थी। वातावरण में काफी चहल-पहल थी, उत्साह भी खूब था। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने वहाँ पहुँचते ही शिविरार्थियों से गप-शप शुरू कर दी। मुझे ऐसा लगा कि अधिकांश जीवनदानियों ने बिना समझे ही जीवन-दान-पत्र भरा है। शाहाबाद जिले से तो मानो पलटन ही भरती हुई थी। सबसे अधिक संख्या वहीं की थी। वहाँ की भूदान समिति ने जीवनदानी का बिल्ला लगाया था। शायद यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि शाहाबाद जिला विशेष रूप से पलटन भरती का ही जिला है। इसलिए चाहे जिस चीज की भरती की सूचना निकले, भरतीवालों की कमी नहीं रहती। मैंने देखा कि केवल बिना समझे हुए ही भरती नहीं हुए थे, बल्कि काफी लोग उलटा मतलब समझकर भरती हुए थे। स्वराज्य होने पर भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अपने को जन-कल्याण सरकार घोषित किया। स्वभावतः बापू की प्रेरणा से बनी रचनात्मक संस्थाएं सरकार के लिए कल्याण-कार्य का जरिया बन गयी थीं। फल-स्वरूप सरकारी मदद से इन संस्थाओं का कलेवर काफी बढ़ गया। खादी-कार्य के लिए जिस प्रांत में ४००-५०० कार्यकर्ता थे, उस प्रांत में आज २५००-३००० कार्यकर्ता हो गये थे। इसलिए रचनात्मक संस्थाओं में खूब भरती होती थी। शिक्षित मध्यम-वर्ग की बेकारी भी बहुत थी। इसलिए बहुत लोगों ने ऐसा माना कि जीवनदान कर देने से इस प्रकार का कोई काम अवश्य ही मिल जायगा। गांधी-निधि की सहायता से भूदान समितियाँ भी जेब-खर्च के नाम से १०), १५), २५), ३०) मासिक तो दे ही देती थीं। बिहार के देहाती क्षेत्रों के मध्यमवर्गीय नवयुवकों की बेकारी की स्थिति ऐसी थी कि ये दस, बीस रुपये भी उनके लिए कम आकर्षण नहीं था। मैंने देखा कि पाँच सौ के इस झुंड में ऐसे लोग भी थे, जो वैचारिक भावना से प्रेरित होकर जीवन में कुछ त्याग करने की तैयारी से आये थे। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो स्वतंत्रता के आंदोलन के समय से

देहातों में सार्वजनिक काम करते थे, लेकिन वर्तमान पक्षगत राजनीति में चुनाव के अलावा कोई सक्रिय कार्यक्रम न रहने के कारण सार्वजनिक सेवा का कोई अवसर न रहने पर एक प्रकार से निष्क्रिय हो गये थे। उन्हें जीवनदान के आह्वान से प्रेरणा मिली थी। ऐसे कुछ लोग भी इसमें शामिल थे। कुल मिलाकर मुझ पर यह असर पड़ा कि काफी गहराई से अध्ययन करके अपने क्रांति-कार्य के लिए योग्य सेवक चुनने की आवश्यकता है। अपने पर इसकी जिम्मेदारी होने के कारण मुझे इसकी चिंता भी हुई।

दूसरे दिन सुबह विनोबाजी मुजफ्फरपुर पहुँचे। मैंने उनसे मिलकर कहा कि इतने कार्यकर्ताओं में से योग्य सेवक चुनने की जरूरत है।

परीक्षा का प्रश्न

लेकिन विनोबाजी ने तुरन्त कहा: "तो क्या हम परीक्षा लेने बैठेंगे! परीक्षा लेनेवाले हम होते कौन हैं! वह तो भगवान् ही लेगा।" वहाँपर अपने होनहार जवान साथी भाई नारायण देसाई भी मौजूद थे। मेरी बातों से वे नाराज होकर कहने लगे: "यह आप लोगों का अहंकार ही है। जो लोग श्रद्धा से आये हैं, उनसे काम लीजिये, चुनने की जरूरत क्या!" यद्यपि मेरी समझ में यह बात नहीं आयी, फिर भी निश्चिन्तता आयी; क्योंकि अब तक चुनाव की जिम्मेदारी के बोझ से मैं दबा जा रहा था, अब उससे मुक्त हो गया। उसी समय से विनोबाजी के इस विचार पर चिंतन चलता रहा। लेकिन काफी सोचने के बावजूद यह बात मेरी समझ में नहीं आयी।

थोड़ी देर के बाद सम्मेलन का उद्घाटन विनोबाजी ने किया।

सभा परलोक में होगी!

उद्घाटन भाषण में उन्होंने मुझसे हुई चर्चा का जिक्र किया। उन्होंने कहा कि "धीरेन भाई ने ऐसा सवाल उठाया था, लेकिन हम किसी की परीक्षा नहीं लेंगे।" जीवनदान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा: "कोई जीवनदानी है कि नहीं, यह तो मरने के बाद ही पता

चलेगा। अतः जीवनदान के संदर्भ में किसीके बारे में कहना होगा, तो मृत्यु के बाद कौन जीवनदानी थे, इतना ही कहना होगा।" साथ ही साथ उन्होंने एक मजेदार बात और कही : "जीवनदानियों की सभा इस लोक में नहीं हो सकती। वह सभा परलोक मे होगी।" यह सब सुन-सुनकर मुझे बड़ा मजा आता था और मैं मुस्कराता था। सोचता था कि विनोबाजी ने मसला आसानी से हल कर दिया, क्योंकि जो सच्चे जीवनदानी नहीं होंगे, वे परलोक में पहुँच ही नहीं सकेंगे। वे तो प्रेत-लोक में ही घूमते रहेंगे। फिर उस सभा में कौन सच्चा जीवनदानी है, कौन नहीं, इसका चुनाव करने की झंझट नहीं रही।

उद्घाटन-भाषण के बाद विनोबाजी अपने कमरे में चले गये। सम्मेलन-संचालन का भार मुझ पर ही आ पड़ा। दूसरा भाषण मुझे ही करना पड़ा। मैंने कहा : "आप लोगों ने मन्त्र सुन लिया, अब तन्त्र की बात मुझसे सुनिये। मन्त्रवाला मन्त्र देकर गया, तो तन्त्रवाला तन्त्र की ही बात न कहेगा? बिना मन्त्र के तन्त्र चल ही नहीं सकता। अगर चला भी, तो वह शुष्क मन्त्र बन जायगा।" इतनी भूमिका के बाद मैंने कहा कि "यद्यपि यह सही है कि हममें से किसीको जीवनदानियों की परीक्षा लेने का अधिकार नहीं है, क्योंकि हम सब कमजोर इंसान हैं, फिर भी यदि कोई जीवनदानी मेरे कन्धे पर बैठने के लिए कहेगा, तो मैं उसे अवश्य तौलूँगा। उसका गुरुत्व देखने के लिए नहीं, बल्कि अपने कन्धे की समर्थता देखने के लिए।" फिर कुछ विस्तार से मैंने अपना यह आशय समझाया भी।

मन्त्र और तन्त्र

सभा के बाद शिविरार्थियों के बीच मेरे भाषण की जोरदार चर्चा छिड़ी। कुछ लोग काफी असन्तुष्ट होकर कहते थे कि विनोबाजी एक बात कहते हैं, धीरेनभाई दूसरी बात। कुछ लोग तो यहाँ तक कह रहे थे कि काम न देने का यह एक बहाना मात्र है।

मुजफ्फरपुर का वातावरण तथा चर्चा का स्तर देखकर मुझे फिर एक बार १९५२ में करण भाई तथा लक्ष्मीबाबू के साथ हुई चर्चा याद

आयी। मुझे ऐसा लगा कि अगर गांधी-निधि का आधार न लेकर हम छोटे रूप में ही रहते और जनता के प्रत्यक्ष आधार पर अपना काम चलाते, तो जीवनदान का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

मैं अपनी ओर भी देख रहा था। सर्व-सेवा-संघ की ओर मेरी दृष्टि जाती थी। सोचता था कि क्या हम सर्व-सेवा-संघवाले विनोबा की क्रान्ति के सफल वाहक हो सकते हैं? विचार क्रान्तिकारी, संस्कार पुराने! विचार और संस्कार के संघर्ष में अधिकांश बार संस्कार ही विजयी होता है, यह तुम जानती ही हो। सोचता था कि हममें से कितने लोग ऐसे हैं, जिनकी विचार-निष्ठा पुराने संस्कार को पराजित कर सकती है। इस प्रकार के स्फुट विचार मेरे मन को आलोड़ित करते रहे।

शाम को प्रार्थना के बाद हमेशा की तरह विनोबा ही बोलनेवाले थे। विनोबाजी ने उस दिन कहा कि "आज कोई दूसरा बोले, मैं आखिर में कुछ कह दूँगा।" मित्रों ने मुझे ही पकड़ा। मैंने अपने भाषण में वे ही बातें कहीं, जिनसे मैं दो दिन तक आलोडित रहा था। मैंने कहा कि "इस क्रान्ति के संदर्भ में हमारी वही जमात है, जो स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय 'माडरेटों' के नाम से थी। आज हमारा विचार वर्तमान अर्थनीति, राजनीति तथा समाजनीति को समाप्त करने का है, लेकिन हमारा संस्कार तथा आचार वर्तमान नीतियों के अनुसार सत्ताओं की सेवा करने का है। 'माडरेट' लोग इतिहास की एक आवश्यक कड़ी थे, लेकिन वे आजादी नहीं हासिल कर सकते थे। उसी तरह हम लोग क्रान्ति के इतिहास की एक आवश्यक कड़ी अवश्य हैं, लेकिन हम क्रान्ति हासिल नहीं कर सकेंगे। नौजवानों को चाहिए कि वे आगे बढ़ें और क्रान्ति का झंडा हमारे हाथ से लेकर तीव्र गति से आगे बढ़ें।" मैं समझता था कि विनोबाजी उस दिन ऐसा प्रवचन करेंगे, जिससे लोगों को गहरी प्रेरणा मिलेगी। लेकिन उस दिन उन्होंने कुछ नहीं कहा। उपस्थित जनता को प्रणाम करके वे चल दिये।

नये विचार, पुराने संस्कार

उस बार सर्व-सेवा-संघ की बैठक में आंदोलन के भावी स्वरूप के बारे में गहराई से चर्चा हुई तथा कार्यकर्ता थोड़ी सी प्रेरणा लेकर गये। आंदोलन की प्रगति के बारे में अपनी कहानी फिलहाल यहीं समाप्त करता हूँ। अगले पत्र में खादीग्राम पहुँचने के बाद क्या-क्या अनुभव हुआ, उसका विवरण लिखने की कोशिश करूँगा। ० ० ०

श्रम-साधना का श्रीगणेश

: २१ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२७-८-'५८

खादीग्राम आने की प्रेरणा तथा जमाने की प्रक्रिया पर पिछले पत्रों में कुछ लिख चुका हूँ। किस प्रतिकूल परिस्थिति में मित्रों की मनाही के बावजूद मैं यहाँ आकर बैठा, यह तुम्हें बता चुका हूँ। लेकिन जहाँ प्रतिकूलता थी, वहाँ एक बहुत बड़ी अनुकूलता भी थी और वह यह कि प्रदेश के सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओं का सहयोग तथा उनकी शुभ कामना मेरे साथ थी। लक्ष्मीबाबू, ध्वजाबाबू, रामदेव बाबू आदि मित्रों ने इस केन्द्र को जमाना अपना काम समझ लिया था। वस्तुतः लक्ष्मीबाबू के कारण ही मैं इस स्थान पर बैठा था।

पत्थर फोड़ने का काम

इस तरह अनुकूलता-प्रतिकूलता के बीच हम दो-तीन साथी इस घोर जंगली और पथरीले प्रदेश में आकर बस गये। शुरू में जब आये, तो एक-डेढ़ माह तक कमर की बीमारी नहीं हुई थी, उस समय में दिनभर इस जमीन की परिक्रमा किया करता था। चारों ओर जंगल तथा पहाड़ों के प्राकृतिक सौंदर्य से मैं प्रभावित रहता था। दो-तीन एकड़ जमीन (जहाँ पर पहले बिहार चरखा-संघ ने खेती की थी) के अलावा सारा स्थान ऊँचा-नीचा और कंकड़-पत्थर से भरा हुआ था। सदियों से पहाड़ों का पानी बहते रहने के कारण जमीन पर मिट्टी नहीं दिखाई देती थी। कहीं-कहीं एक-आध जगह मिट्टी का अंश था, लेकिन हर साल बरसाती कटाव के कारण उस पर घास भी नहीं उगती थी। इस प्रकार ऊबड़-खाबड़ पथरीली जमीन पर एक बड़ी शिक्षण-संस्था कायम करने के लिए निरन्तर चिंतन करते रहना पड़ता था। कृषिमूलक केन्द्र बनाना है, तो

इस स्थान को खेती लायक करने के लिए महान् पराक्रम करना होगा, यह निश्चय था। इसलिए हमने अपने साथियों से कहा कि अभी एक ही काम है—गैंता, कुदाल से पत्थर फोड़ना।

कृषि के लिए पहली आवश्यकता पानी की होती है। खाद के बिना जोताई बढ़ाकर, हरी खाद उगाकर अनेक प्रकार से खेती का काम किया जा सकता है; लेकिन पानी बिना खेती का काम नहीं हो सकता है—यह देश के बूढ़े-बच्चे सभी जानते हैं। दुर्भाग्य से खादीग्राम में इस पानी का ही अभाव था। जमीन पर बिहार चरखा-संघ ने एक छोटा-सा कुँआ खोदा था। किसी तरह पानी पीने का तथा नहाने का काम चलता था। अप्रैल के मध्य भाग में वह भी सूख गया। खेती करने की बात तो दरकिनार, पीने का पानी सड़क पार छह फर्लांग दूरी पर से लाना पड़ता था और वहीं जाकर नहाना भी पड़ता था।

अखिल भारत चरखा-संघ के अध्यक्ष कृषिमूलक ग्रामसेवक विद्यालय के संगठन के लिए मुंगेर में बैठ गये हैं, यह चर्चा बिहारभर में फैल गयी। ध्वजाभाई एक दिन प्रदेश के कृषि तथा सिंचाई-विभाग के अफसरों को लेकर खादीग्राम आये। मैं उस समय बीमार पड़ा रहता था, इसलिए ध्वजाभाई ने उन्हें पहले तो पूरा अहाता दिखाया, फिर वे उन्हें मेरे पास लाये। मैं जब उन्हें योजना समझा रहा था, तो वे मुस्करा रहे थे। बाद को बोले : "आपको यह क्या सूझा है कि जान-बूझकर प्रकृति के साथ विफल संघर्ष करने के लिए यहाँ आकर बैठे हैं ?"

मैंने हँसकर कहा : "संघर्ष अवश्य है, लेकिन आप जैसे विशेषज्ञ भी अगर इसे 'विफल संघर्ष' कहते हैं, तो आधुनिक विज्ञान की क्या दुर्दशा होगी ! अगर इजराइल की मरुभूमि हरी-भरी हो सकती है, तो क्या आपका विज्ञान इस पत्थर पर हरियाली नहीं उगा सकता है ?" मैंने उनसे कहा कि "उर्वरा भूमि पर किसान जाता ही है, हम भी उसी तरह उर्वरा भूमि लेकर बैठ जायँ, तो उससे भारत की भूमि-समस्या हल नहीं होगी।" इस प्रकार काफी देर चर्चा हुई, जिसके बीच मैंने यह भी

कहा कि "हम लोग क्रान्तिकारी भी हैं। हमें संघर्ष में ही मजा आता है। अहिंसक क्रान्तिकारी के नाते हम जाति, दल, राष्ट्र या उसी प्रकार आदमियों के गिरोह के संघर्ष नहीं करते हैं, तो प्रकृति देवी के साथ ही संघर्ष करने की बात सूझ रही है।" "ठीक है, संघर्ष कीजिये !" कहकर हँसते हुए वे विदा हुए।

हम लोग इसी संघर्ष में लग गये। सबसे पहले पानी की ही चिन्ता सवार हुई। अपनी जमीन के उत्तरी छोर पर पानी का एक पुराना सोता था, ऐसा लोग बताते थे। लोग कहते हैं, पुराने जमाने में जंगल के राही उसी सोते पर सत्तू खाते थे। लेकिन काफी अरसे से वह बन्द हो गया। स्थानीय लोगों की राय थी कि वहीं पर एक कुँआ बनाया जाय। अतः १६ फुट के व्यास का एक कुँआ खोदने में हाथ लगा दिया।

पानी की चिन्ता

कुँआ खोदने का काम भी मानो युद्ध की एक तैयारी था। वह स्थान भालू तथा लकड़बग्घे का था; कभी-कभी चीता भी अतिथि रूप से उस पहाड़ी पर आया करता था। खूब तड़के काम शुरू करने के लिए भाला आदि लेकर, मचान बाँधकर हम लोग वहाँ रहते थे।

तीन साल लगातार अनावृष्टि के कारण उन दिनों इस इलाके में घोर अकाल चल रहा था। हमने जब कुँआ खोदने का काम शुरू किया, तो आसपास के लोगों को इससे राहत मिलने लगी। नजदीक के गाँव में कुँआ न रहने के कारण गाँववालों को भी उसमें बड़ी दिलचस्पी हुई और लोग उत्साहपूर्वक कुँआ खोदने लगे। मोरूम की जमीन, एक कण से दूसरे कण का कोई लगाव नहीं, बीच-बीच में दरार फटती जाती थी; फिर भी हम लोग कुँआ खोदते जाते थे। चारों तरफ के लोग देखने आते थे, कुछ लोगों को आश्चर्य होता था और कुछ को परेशानी। परेशानी इसलिए कि लोग घबराते थे कि कोई न कोई इसमें दबकर मरेगा। आसपास के संथाल लोग इसलिए भी डरते थे कि जंगल के तथा लापर देवताओं पर

कुँआ खोदने का संघर्ष

पूजा चढ़ाये बिना हम लोगों ने कुँआ खोदना शुरू कर दिया है। अन्त में सबका भय सही निकला। एक दिन रात को कुँआ एक तरफ से धँसकर गिर गया। रात को गिरा इसलिए कोई दबा नहीं।

हम लोग कुँए को फिर खोदने लगे। सख्त मोरूम था, गैंता धँसता नहीं था, चट्टान होती, तो छेनी से भी काटा जाता; लेकिन हिम्मत बिना हारे हमारे साथियों तथा पास के लल्मटिया गाँव के मजदूर उसे काटते ही चले। एक ओर गैंता और मोरूम की टक्कर से आग का निकलना और दूसरी ओर से कुँए के धँसे हुए किनारे के बीच लोग काम करते रहे। मन में सोचा, चलो, यह भी एक संघर्ष है। तीन बार कुँए का किनारा कटकर गिरा, तीन बार सफाई हुई। अन्त में तो सारा कुँआ ही बीच में धँसकर बैठ गया। खटिया पर लिटाकर लोग मुझे वहाँ ले गये। कुँआ धँसने की खबर घंटेभर में बिजली की तरह चारों ओर फैल गयी और लोग देखने आने लगे। मैं पहुँचा, तो लोग कहने लगे कि अब इसे छोड़ ही दीजिये, लेकिन हमने तो पीछे हटना सीखा नहीं था। मैंने कहा कि उसी पर कुँआ बाँधा जाय तथा पटी हुई मिट्टी खोदकर उसी पर गलाया जाय। वही किया गया और कुँआ तैयार हो गया।

कुँआ बनने की घटना ने खादीग्राम का नाम जितना प्रचारित किया, उतना शायद चौगुना खर्च करके भी हम नहीं कर पाते। लोगों ने देख लिया कि ये लोग हिम्मतवाले हैं और इस बात ने यहाँ की अत्याचार-पीड़ित जनता को बड़ी तसल्ली दी। लोग हमारे प्रति आकर्षित हुए और हमसे चर्चा करने के लिए आने लगे। यों हमें बैठे-बैठे सर्वोदय-विचार-प्रचार तथा अपनी योजना को समझाने का मौका मिला। इस प्रकार खादीग्राम में सालभर तक एकाग्रता के साथ कुँआ बनाने, पत्थर खोदकर जमीन निकालने, एक बाँध बाँधने और तालाब खोदने में लगे रहे। हमारे साथी श्रम-साधना का प्रयास करते रहे।

सन् १९४५ में जब मैं जेल से लौटकर आया, तो मैंने 'हुजूर-मजूर' का दर्शन समझाना शुरू किया था। अकबरपुर आश्रम की जिम्मेदारी

लेकर मैंने पढ़े-लिखे नौजवानों को कुन्दी के काम में भरती किया। उन्हें आधे समय कुन्दी का काम दिया और आधे समय हिसाब का। दुर्भाग्य से वहाँ पर साथियों का सहयोग न मिलने के कारण यह प्रयास सफल नहीं हो सका था। चरखा-संघ में भी शरीर-श्रम के अभ्यास की कोशिश की थी, लेकिन वहाँ भी लोगों ने साथ नहीं दिया। यहाँ आकर नये सिरे से काम शुरू करने के कारण मैंने शुरू से ही यह शर्त रख दी थी। चूँकि हम ऐसा एक वर्गहीन समाज कायम करना चाहते हैं, जिसमें न आज का हुजूर रखना है और न आज का मजूर। शिक्षित तथा वैज्ञानिक श्रमजीवी मानव बनाना है। इसलिए मैंने साथियों से कहा कि "आप लोग आधे समय उत्पादक श्रम करें तथा आधे समय व्यवस्था तथा अध्ययन आदि का काम करें।" इस नियम से मैंने बहनों तथा बच्चों को भी छुट्टी नहीं दी। सौभाग्य से जो दो-चार साथी आये थे, उन सबने अत्यन्त निष्ठापूर्वक मेरे इस विचार में साथ दिया। चार ही घंटे नहीं, शुरू में तो वे छह से लेकर आठ घंटे तक काम करने लगे।

श्रम-साधना का प्रयास

यह तो तुम्हें मालूम ही है कि यह जमीन दस साल पहले बिहार चरखा-संघ ने ली थी और उस समय चरखा-संघ तथा कांग्रेस वस्तुतः एक ही थे। इसलिए आसपास की जनता इस स्थान को कांग्रेस का कहती थी और हम लोग भी 'कांग्रेसी' के नाम से परिचित हुए। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद कांग्रेस किस ओर जा रही थी, यह सबको स्पष्ट हो चुका था, उसकी शिकायत भी होने लगी थी। ऐसे समय में नूमर में कांग्रेस के अच्छे पढ़े-लिखे लोग गैंता और कुदाल लेकर प्रतिदिन चार-छह घंटे पत्थर खोदते हैं, यह देखकर लोग हैरान होते थे और दूर-दूर से देखने आते थे। इस श्रम-कार्य ने हमें इस इलाके में खूब लोकप्रिय बना दिया। फिर जब कांग्रेसवाले हमारा विरोध करने लगे, तो लोगों के मन में संदेह होने लगा कि ये

गांधी के असली चेला

कांग्रेस-जन हैं या कोई दूसरे लोग। इस शंका ने उन्हें गांधीवाद के सही विचार की ओर आकर्षित किया। उनमें से बहुत-से लोग कहने लगे कि ये कांग्रेस से भिन्न कोई दूसरे लोग हैं। ये कौन लोग हैं, यह तो वे नहीं समझते थे, लेकिन इतना वे समझते थे कि ये न तो कांग्रेसी हैं, न समाजवादी। सार्वजनिक क्षेत्र में इन दो प्रकार के अलावा तीसरा प्रकार भी है, इसकी जानकारी उनको नहीं थी, क्योंकि वे कांग्रेस को ही एक मात्र गांधीवादी संस्था के नाम से जानते थे। सर्वोदय का नाम तब तक उन्होंने सुना ही नहीं था। कुछ दिन में वे कहने लगे कि ये लोग गांधीजी के असली चेला हैं। यों हम लोग 'असली चेला' के नाम से मशहूर हुए।

मैं बीमार पड़ा रहता था, इसलिए मेरे मित्र बीच-बीच मेरे पास आते रहते थे। ये सब लोग मुझसे पूछते थे कि इस प्रकार पत्थर खोदने से क्या निष्पत्ति निकलेगी। वे यह भी पूछते थे कि गाँव का हम क्या काम करते हैं? मैं उनसे कहता था कि "यहाँ गाँव का काम करने की पूर्व तैयारी हो रही है।" लेकिन मेरी यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी।

मैंने केन्द्र का नाम 'समग्र ग्राम-सेवा विद्यालय' रखा था। यह नाम भी मित्रों को खटकता था। वे पूछते थे कि विद्यालय के विद्यार्थी कहाँ हैं? जवाब में मैं कहता था कि विद्यार्थी हम लोग हैं और शिक्षक हमारा उद्योग, प्रकृति और सामाजिक परिस्थिति है। किसी-किसीको मैं यह भी जवाब देता था कि मैं शिक्षक और ये नौजवान विद्यार्थी हैं। लेकिन इससे मित्रों को समाधान नहीं होता था। अण्णासाहब के सिवा चरखा-संघ के बाकी साथी भी परेशान होते थे।

समग्र ग्राम-सेवा विद्यालय

एक ओर तो श्रम का अभ्यास चलता था, दूसरी ओर अपने साथियों से मैं निरन्तर वर्ग-परिवर्तन के विचारों की चर्चा किया करता था। हुजूर को मजूर बनना है, यह दृष्टि उन्हें अच्छी तरह से मिल गयी थी। लेकिन यहाँ का ढाँचा वही था, जो चरखा-संघ का था। लोगों को वेतन मिलता था और वे वेतन के आधार पर अपना गुजारा करते थे। एक-

दो साथी ऐसा भी महसूस करते थे कि हम जिन विचारों का प्रतिपादन करते हैं, उसके साथ वैतनिक पद्धति विशेष मेल नहीं खाती थी। लेकिन कोई समाधानकारक विकल्प सूझता नहीं था। एक-दो भाई वेतन छोड़कर मेस में भोजन और परिवारों में जितने लोग हैं, उनके हिसाब से कुछ फुटकर खर्च ले लेते थे। लेकिन इन तरीकों में से वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं निकलती थी। वर्ग-परिवर्तन तो स्वावलम्बन की बुनियाद पर ही हो सकता है। साल-डेढ़ साल की जो साधना थी, वह केवल श्रम की साधना थी। उसमें स्वावलम्बन की साधना का कुछ अंश नहीं था। स्वावलम्बन के बिना भी साम्य की साधना की जा सकती है। उस समय उसके प्रति भी हमारी कोई संयोजित चेष्टा नहीं थी। यह स्पष्ट है कि स्वावलम्बन तथा साम्य के बिना श्रम-साधना प्राणवान् नहीं हो सकती।

मजूर बनने का प्रयोग

यह कैसे होगा, इसकी चिन्ता निरन्तर बनी रहती थी। एक दिन हमारे एक साथी भगवती भाई मेरे पास आये। वे कहने लगे : "आप हमेशा कहते हैं कि 'हुजूर' को 'मजूर' बनना चाहिए और अब उस दिशा में श्रम भी कराते हैं, लेकिन हम जो श्रम करते हैं, वह एक रूटीन (दैनिक कार्यक्रम) है। इससे हमको मजदूर-वर्ग के जीवन का अनुभव नहीं होता। उसका अनुभव लेने के लिए हमें कोई कदम उठाना चाहिए।" मैंने उनसे कहा कि "यही चिन्ता तो मुझे भी रहती है, लेकिन कौनसा कदम उठायें, यह समझ में नहीं आता। मैं तो खुद एक तरह से पंगु ही हो गया हूँ, इसलिए कुछ करके देखने की भी गुंजाइश नहीं है। कदम भी ऐसा ही होना चाहिए, जिस पर तुम लोग चल सको; क्योंकि कोरा आदर्श मूर्तिमान् नहीं होता। आदर्श निराकार होता है। वह साकार व्यक्तियों के मारफत ही मूर्तिमान् होता है। और चूँकि वह मनुष्य के मारफत मूर्तिमान् होता है, इसलिए वह उस मनुष्य की मर्यादा के अनुसार मर्यादित भी हो जाता है। शुद्ध रूप क्या होगा, यह तो मैं

बताता ही रहता हूँ, लेकिन उसका मर्यादित रूप यानी साकार रूप क्या होगा, वही तो समझ में नहीं आता।"

भगवती भाई ने कहा : "मैंने इसका प्रयोग करने के लिए सोचा है। आप पुरुष मजदूरों को सवा रुपया रोज देते हैं और मजदूरिनों को बारह आना। तो मैं और रामदुलारी मजदूरों के साथ काम करेंगे और मजदूर जैसी मजदूरी लेंगे, ऐसा निर्णय किया है।" भाई भगवती के इस प्रस्ताव से मानो मुझे एक नया रास्ता मिल गया। मैंने उन्हें अपनी शुभकामना के साथ प्रयोग करने की इजाजत दे दी। मन में जरूर ऐसा लगा कि इससे काम चलेगा नहीं, लेकिन उसमें से कोई रास्ता निकलेगा, ऐसा मानकर मैंने उन्हें प्रोत्साहित किया।

पाँच-छह रोज दोनों पति-पत्नी ने अत्यन्त उत्साह से काम किया। उन दिनों मैं अत्यन्त एकाग्रता के साथ उनके कार्य का निरीक्षण किया करता था। पाँच छह रोज के बाद मैंने भगवती भाई को बुलाकर कहा कि "तुमने हिम्मत जरूर की और सौभाग्य से दुलारी ने तुम्हारा पूरा साथ दिया। लेकिन तुम्हें एकदम अन्तिम प्रयोग नहीं करना चाहिए। फिर मेरी कल्पना का श्रमजीवी समाज आज के श्रमजीवी समाज जैसा नहीं है। आज का श्रमजीवी तो मानव के स्तर पर ही नहीं है। उसे उठाना है। उसका बौद्धिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास करना है। उसे पूरे दिन शरीर-श्रम नहीं करना है। जब वर्गहीन समाज स्थापित होगा, तो वर्गहीन मनुष्य श्रमजीवी अवश्य बनेगा। लेकिन साथ-साथ उसका बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर बहुत ऊँचा रहेगा। यही कारण है कि मैंने यहाँ के कार्यक्रम में चार घंटा शरीर-श्रम तथा चार घंटा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यक्रम रखा है। तुम्हें भी वही करना होगा। तुम चार घंटे शरीर-श्रम करो और चार घंटे पहले की तरह शिक्षण का काम करो। दुलारी भी वैसा ही करे। अन्तर इतना ही रहे कि बौद्धिक और शरीर-श्रम का मूल्य एक ही रहे। इसकी स्थापना करो। अर्थात् दोनों प्रकार के काम की

मजदूरी में सवा रुपया और बारह आना के हिसाब से लो।" भगवती भाई इसे समझ गये और ऐसा ही करने लगे।

भगवती भाई के इस कदम से खादीग्राम-परिवार में नयी चर्चा का स्रोत खुला। सब लोग इस पहलू पर गम्भीरता से विचार करते थे तथा रात को आपस में चर्चा करते थे। मैं भी उन दिनों श्रम और साम्य के पहलू पर खूब विचार करता था। अब तक हमने श्रम की जो साधना की, उसमें श्रम और स्वावलम्बन नहीं था। अब मेरे मन में यह विचार आया कि उसमें एक चरण और जोड़ना चाहिए। मैंने सोचा कि श्रम के साथ स्वावलम्बन भले ही न जुड़े, साम्य जोड़ने की तो अवश्य ही कोशिश करनी चाहिए। स्वावलम्बन के लिए उस समय सोचना भी सम्भव नहीं था, क्योंकि उसका मूलाधार जमीन ही नहीं थी, पानी तो था ही नहीं। चार घंटे पत्थर खोदने से स्वावलम्बन क्या होता ? इसलिए मैं स्वावलम्बन की चिन्ता ही नहीं करता था।

साम्ययोग पर विचार

साथियों में इस सम्बन्ध में जोरदार चर्चा चलती रहती थी। मैं भी कभी-कभी उनके बीच जाकर बैठ जाता था और चर्चा में शामिल हो जाता था। मैंने देखा कि दो-एक साथी भगवती भाई का अनुसरण करने की बात गम्भीरतापूर्वक सोच रहे हैं। मैंने उनसे कहा कि आपकी साधना का ढंग ऐसा होना चाहिए, जिसमें आप सब लोग शामिल हो सकें, क्योंकि ऐसा हुए बिना हमारी साधना समाज-परिवर्तन का साधन नहीं बन सकती।

अतः हमारे साथी साम्ययोग की साधना के लिए मध्यम मार्ग ढूँढ़ने लगे। इसी बीच मुँगेर जिले में विनोबाजी की पद-यात्रा शुरू हुई। उन्होंने खादीग्राम में चार दिन का पड़ाव डाला और सभी प्रादेशिक भूदान समितियों के कार्यकर्ताओं का सम्मेलन बुलाया। उसी सम्मेलन के बीच मैंने विनोबाजी से इस प्रश्न पर चर्चा करने के लिए अलग से कुछ समय माँगा। तुम लोगों को

विनोबा से चर्चा

मालूम ही है कि विनोबाजी ने पवनार में काफी दिन तक साम्ययोग की साधना की थी। इसलिए उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी था। मेरी उनसे आध घंटे तक चर्चा चली। सारे विचारों से सहमति जानकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई। मैंने सोचा कि मैं तो साथियों के साथ निरन्तर चर्चा करता ही रहता हूँ, लेकिन वे प्रत्यक्ष विनोबाजी से चर्चा करें, तो ज्यादा अच्छा होगा, इसलिए मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे खादीग्राम-परिवार को भी कुछ समय दें। उन्होंने उसे स्वीकार किया और दूसरे दिन सभी साथियों ने उनसे मिलकर चर्चा की। सभी को इस चर्चा से बड़ी प्रेरणा मिली। विनोबा ने कहा कि "अभ्यास मुख्य वस्तु नहीं, विचार मुख्य वस्तु है। अगर लोगों में विचार पक्का है, तो वह किसी न किसी तरह से अभ्यास द्वारा शक्ति बना ही लेता है।" स्वयं किस प्रकार साधना की है, उसका हवाला देते हुए उन्होंने बताया कि मनुष्य किस प्रकार थोड़े-थोड़े अभ्यास द्वारा कहाँ तक पहुँच सकता है।

विनोबाजी के चले जाने पर खादीग्राम-परिवार में साम्ययोग-चर्चा ने खूब जोर पकड़ा। अनेक प्रकार के विकल्प सोचे गये। आखिर में मैंने साथियों को सलाह दी कि शुरू में वे दो चीजें करें। पहली तो यह कि सबकी मजदूरी समान रहे और दूसरी यह कि शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम का मूल्य समान हो। फिर प्रश्न उठा कि मजदूरी किस आधार पर तय की जाय। काफी चर्चा के बाद यह तय हुआ कि हिन्दुस्तान में खेतिहर मजदूरों की जो सबसे ज्यादा मजदूरी है, वह मजदूरी हम लोग लें। आँकड़ों को देखने से मालूम हुआ कि पुरुषों के लिए दो रुपया और स्त्रियों के लिए डेढ़ रुपया रोज सर्वोच्च मजदूरी है। हम लोगों ने भी क्रमशः चार आना तथा तीन आना घंटा मजदूरी निश्चित की। फिर सवाल आया कि जिन मजदूरों से हम काम लेते हैं, उनकी मजदूरी क्या हो? साथ ही जो स्थानीय लोग दफ्तर और शिक्षण में काम करते हैं, उनकी मजदूरी क्या हो? चर्चा होकर यह तय हुआ कि शरीर-श्रम और दूसरे तरह के श्रम में कोई अन्तर न रहे। स्थानीय मजदूर जो अपने घर से

रोज आकर काम करते हैं और जो घर से दूर खादीग्राम में आकर बसते हैं, उनमें कुछ फर्क किया गया। दूरवालों को दो रुपया और डेढ़ रुपया तथा स्थानीय लोगों को डेढ़ रुपया तथा एक रुपया निर्धारित किया गया। यह दर स्थायी काम करनेवालों की थी, अस्थायी रूप में किसीसे काम लेने पर स्थानीय रिवाज के अनुसार मजदूरी देने का निश्चय हुआ।

महिलाओं का आत्मसम्मान बढ़ा

इस प्रकार साम्ययोग के प्रथम चरण का श्रीगणेश हुआ और लोग उसीमें अपना निर्वाह करने की कोशिश करने लगे। इस व्यवस्था से एक विशेष लाभ यह हुआ कि परिवार की स्त्रियों में आत्मसम्मान का भाव जगा। काम तो वे पहले भी करती थीं, लेकिन अब उन्हें अपने काम में उत्साह होने लगा। नियमित रूप से काम पर आने, पूरे समय काम में रहने, व्यवस्था तथा शिक्षण के काम के लिए अपने को तैयार रखने आदि में वे अधिक-से-अधिक दिलचस्पी लेने लगीं।

साम्ययोग की पद्धति में नये कार्यकर्ताओं के लिए कुछ काम रखा गया था। शुरू में उन्हें प्रशिक्षण-वर्ग में, उसके बाद उम्मीदवार-वर्ग में और अन्त में स्वतंत्र जिम्मेदारी उठा लेने पर कार्यकर्ता-वर्ग में शामिल करते थे। इसके लिए क्रमशः दो आना, तीन आना, चार आना मजदूरी निश्चित की गयी थी। आरोग्य के लिए कुछ कार्यकर्ता अपनी मजदूरी में से कटाते थे और कुछ अंश संस्था देती थी। इस तरह आरोग्य सामूहिक था।

बालवाड़ी और छात्रावास

शुरू-शुरू में बच्चे परिवार के साथ रहते थे। माता-पिता दोनों का आठ घंटा सार्वजनिक काम करना और माताओं में पुराने रूढ़िगत विचारों का होना बच्चों के विकास के लिए बाधक होता था, इसलिए सब लोगों ने यह तय किया कि आठ साल के बच्चों के लिए छात्रावास बनाया जाय और उस छात्रावास में विशेष रूप से ध्यान देने के लिए अलग से कार्यकर्ता हो। इस प्रकार एक बालवाड़ी और दो छात्रावास,—एक लड़कों के

लिए, दूसरा लड़कियों के लिए—बनाया गया। जल्दी ही गोद के बच्चों की समस्या आयी। उसकी जिम्मेदारी भाई राममूर्ति सिंह की पत्नी ने ली। गोद के बच्चों के लिए एक शिशु-विहार खोला गया। पास के गाँव की एक संथाल लड़की, जिसका स्वभाव अत्यन्त मधुर था, पार्वती बहन की सहायता में दी गयी। इस तरह अपने बच्चों की समस्या को लेकर बाकायदा बुनियादी विद्यालय खोला गया। १९५२ में भी यह समस्या आयी थी, लेकिन एक साल तक अपनी ही कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए उन्हें तुम्हारे पास सेवाग्राम भेज दिया गया था।

बच्चों की व्यवस्था से खादीग्राम में एक नयी प्रवृत्ति बढी और वह थी नयी तालीम की प्रवृत्ति। धीरे-धीरे लोग खर्च देकर बच्चे भी भेजने लगे। १९५५ से उसने पूरी बुनियादी शाला का रूप ले लिया।

१९५४ में जब से मैं सर्व-सेवा-संघ का अध्यक्ष बना और देश में जीवनदान का सिलसिला चला, तब से खादीग्राम इस आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के शिक्षण का एक मुख्य केन्द्र बन गया।

खादीग्राम का आकर्षण

सारे देश की दृष्टि को उसने आकर्षित किया। वैसे तो खादीग्राम की ओर जनता का आकर्षण १९५३ के सितम्बर से, जब विनोबा के सामने विभिन्न प्रदेशों के कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हुआ था, तभी से हो गया था। लेकिन एक शिक्षण-केन्द्र के रूप में इसका आकर्षण सन् १९५४ के अन्त से ही हुआ।

● ● ●

वेदखली का आन्दोलन

श्रमभारती, खादीग्राम
३०-८-'५८

सन् '५४ तक खादीग्राम ने एक शिक्षण-संस्था का रूप ले लिया। यह सब कैसे हुआ और उसका स्वरूप कैसा था, इसका विवरण मैं दे चुका हूँ। इसी बीच भाई राममूर्ति सिंह स्थायी रूप से खादीग्राम आ गये। उनके आने से साथियों में काफी उत्साह आया और नयी दिशा में चिन्तन चलने लगा। अब मुझे लगा कि आसपास के गाँवों के साथ गहरा सम्पर्क करने का समय आ गया है। इस इलाके में विनोबाजी की पद-यात्रा के दिनों में हम लोगों ने जमीन माँगने का जो प्रयास किया था, उसके कारण आसपास में काफी दूर तक हमारा सम्पर्क हो गया था। इस सम्पर्क को बनाये रखने की बात हमने सोची। शुक्रवार को गाँव में जाकर रात में टिकने का सिलसिला कुछ ढीला हो गया था, उसे नियमित किया गया और एक-दो भाइयों के जिम्मे केवल ग्राम-सम्पर्क का ही काम रख दिया गया।

इस सम्पर्क से इधर के देहातों की असली परिस्थिति मालूम हुई। जमींदारों के अत्याचार का हाल तो पहले ही मालूम हो चुका था, अब यह भी मालूम हुआ कि यहाँ गरीबी की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय है। इलाके में पानी के खजाने का कोई सिलसिला न होने से बरसात के भरोसे खेती होती थी। लगातार दो साल तक अनावृष्टि के कारण लोग अत्यन्त परेशान थे। पिछड़ा हुए इलाका होने के कारण जंगल से लकड़ी काटने के अलावा दूसरा कोई धंधा नहीं था। एक गाँव को छोड़कर और कहीं चरखा नहीं चलता था। जंगल की लकड़ी काटने और पत्तल बनाने के काम में यहाँ की स्त्रियाँ लगी रहती थीं। उन्हें इसकी आदत पड़ गयी थी,

इसलिए नये सिरे से चरखा सीखने का धैर्य उनमें नहीं था; क्योंकि सीखने के लिए बैठना सम्भव नहीं था। इसलिए किस मार्ग से उनकी मदद की जा सकेगी, यही हम लोगों के लिए चिन्ता का विषय बन गया था।

पानी की समस्या

बहुत सोच-विचार के बाद यह बात ध्यान में आयी कि इस इलाके की आर्थिक स्थिति तब तक नहीं सुधरेगी, जब तक पानी की उपयुक्त व्यवस्था नहीं होगी। आर्थिक स्थिति बिना सुधारे सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं चल सकता। पहले सरकारी विकास-योजना से मदद लेने की कोशिश की गयी, नीचे के स्तर के कर्मचारियों से लेकर पटना तक दौड़-धूप करने से भी कोई नतीजा नहीं निकला। सरकार तथा कांग्रेस की मुखालफत के कारण गाँवों में मदद देने में स्थानीय कर्मचारी हिचकते थे। कदाचित् कोई हिम्मती कर्मचारी मदद कर भी देता था, तो उसकी फजीहत हो जाती थी। इन तमाम कारणों से विकास-योजना के सहारे कुछ करने की गुंजाइश नहीं थी। सरकारी असहयोग ने शायद हमारे काम में मदद पहुँचायी। कौन जाने इसके पीछे भगवान् का हाथ रहा हो? हमने स्वतंत्र जन-शक्ति को संगठित करने की बात सोची।

पानी-सम्मेलन

हमने सोची तो बुनियादी बात और सर्वोदय-विचार के अनुसार ही; लेकिन थोड़े दिन की जिन्दगी में अपने में इतनी शक्ति नहीं थी कि सारी जनता को संगठित कर लेते। स्वराज्य के बाद देश के नेताओं ने भी जनता में पुरुषार्थ जाग्रत करने की कोई कोशिश नहीं की। बल्कि सब मिलाकर 'सरकार माई-बाप' के विचार को दृढ़ करते रहे। ऐसी परिस्थिति में हमारे जैसे छोटे मनुष्य का एक छोटा-सा गिरोह कर ही क्या सकता था? फिर भी नतीजा निकले या न निकले, पुरुषार्थ करना चाहिए, इस विचार से गाँव-गाँव में अपने भरोसे बाँध बाँधने के विचार-प्रचार में हम लग गये। दिसम्बर १९५४ में आचार्य कृपालानीजी के सभापतित्व में खादीग्राम का वार्षिकोत्सव किया गया। उस समारोह का विशेष कार्यक्रम था—इस

इलाके के लोगों का पानी-सम्मेलन। जनता अपनी श्रम-शक्ति द्वारा पानी की व्यवस्था कैसे करे, इस बात का विचार इस सम्मेलन मे किया गया।

स्वराज्य-आन्दोलन से लेकर अब तक नाना प्रकार के सम्मेलन हुए हैं, लेकिन पानी-सम्मेलन का कभी किसीने नाम नहीं सुना था। इसलिए आसपास की जनता को इस नये किस्म के सम्मेलन के प्रति बड़ी उत्सुकता पैदा हुई। दो साल के सूखा के कारण जनता में हाहाकार था, इसलिए पानी-सम्मेलन के प्रति और अधिक आकर्षण हुआ। फलस्वरूप सम्मेलन में अपार भीड़ हुई। इस जंगली प्रदेश में भी पन्द्रह हजार लोगों ने भाग लिया। सम्मेलन की सफलता से हम लोगों को बड़ा उत्साह मिला।

बाँध बाँधने का कार्यक्रम

हम देहातों में बाँध बाँधने का कार्यक्रम शुरू करने की कोशिश करने लगे। जनता में पुरुषार्थ कतई नहीं रह गया था। इसलिए उस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिल रही थी। प्रायः लोगों को यही आशा थी कि कोशिश करके सरकार से पानी का इन्तजाम करा देंगे। आखिर में खादीग्राम से सटे ललमटिया गाँव के लोग तैयार हुए कि सप्ताह में आधा दिन श्रम करके बाँध बाँधेंगे। आश्रम से एक कार्यकर्ता वहाँ चला जाता था और श्रम किया जाता था। इस तरह बरसात से पहले ही उन्होंने थोड़ा सा पानी जमा करने के लिए बाँध बना ही लिया। ललमटिया के बाँध की सफलता से मुझे काफी प्रोत्साहन मिला। सोचा कि इस तरह से देखादेखी आन्दोलन बढ़ेगा। लेकिन मैंने यह भी सोचा कि ऐसी अत्यन्त अभावग्रस्त जनता द्वारा कितना काम होगा। सरकार इन लोगों से टैक्स लेती है, तो इनके स्वतंत्र पुरुषार्थ के साथ-साथ सरकारी मदद भी होनी चाहिए।

देश के नेता जनता से अपील करते हैं कि सरकारी योजना में वह सहयोग करे। लोकशाही की भाषा में यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। काम सरकार का, सहयोग जनता का, क्या यह लोकशाही की भाषा है!

काम जनता का, मदद सरकार करे—यह बात समझ में आती है। इसलिए मैंने सोचा कि जब हमने जनता के भीतर अल्पमात्रा में ही सही, यह होश पैदा कर दिया है, अब सरकार से यह कहने का समय आ गया है कि वह जनता के इस पुरुषार्थ में साथ दे और सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था करे। यह सोचकर मैं पटना चला गया और उस समय के कृषिमंत्री अनुग्रह बाबू से मिला। अनुग्रह बाबू अर्थमंत्री भी थे और बिहार के चोटी के नेता भी थे। उनसे मिलने से काम बनेगा, ऐसा मैंने सोचा।

मालूम हुआ कि अनुग्रह बाबू बीमार हैं और इन दिनों वे किसीसे मिलते नहीं हैं। वे रचनात्मक कार्य में दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति थे, कुछ दिन के लिए बिहार चरखा-संघ के मन्त्री भी रह चुके थे। वे रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं में बड़ी दिलचस्पी भी रखते थे। अतः उन्हें जब यह मालूम हुआ कि मैं मिलना चाहता हूँ, तो उन्होंने मुझे बुला भेजा। जब मैं उनसे मिलने गया, तो देखा कि वे खाट पर पड़े हुए हैं। अत्यन्त प्रेम से वे मिले और उन्होंने खादीग्राम के कार्यक्रम के बारे में ब्योरे से सारी बातें पूछीं। मैंने मुस्कराते हुए उनसे कहा कि "आप लोग सरकारी योजना में जनता का सहयोग माँगते हैं और मैं जनता की योजना में आपका सहयोग माँगने आया हूँ।" उन्होंने भी विनोद-पूर्वक उत्तर दिया : "चूँकि हम सरकार के आदमी हैं और आप जनता के आदमी हैं।" मैंने कहा कि "सरकार के आदमी तो जनता के ही आदमी न होते हैं।" खैर, मैंने उन्हें बताया कि क्या-क्या सरकारी मदद मिल सकती है। उन्होंने हर प्रकार से मदद देने का वचन दिया और कहा कि "अच्छा होने पर मैं खुद इस इलाके में आने की कोशिश करूँगा।"

अनुग्रह बाबू से चर्चा

बातचीत के दौरान में उन्होंने ऐसी बात कही, जो लोकतन्त्र के सन्दर्भ में अत्यन्त खतरनाक थी। उन्होंने कहा : "देखिये धीरेन भाई, राजनीति ऐसी चीज है, जो देश में रचनात्मक काम नहीं होने देती है। मैं एक पार्टी का हूँ, दूसरा दूसरी पार्टी का है। हम दूसरी पार्टी के रचनात्मक

काम में मदद नहीं देते हैं। केवल अलग-अलग पार्टी है ऐसा नहीं, एक ही पार्टी में कई ग्रुप (group) हैं। कांग्रेस में मेरे नाम से एक पार्टी चलती है, तो दूसरे के नाम से दूसरी पार्टी चलती है। जिले के स्तर पर भी पार्टी-भेद चलता है। इस प्रकार पार्टी-दर-पार्टी की समस्या हम लोगों के दिमाग को इस तरह उलझाये रहती है कि हम सही मदद नहीं कर पाते।"

पार्टीबन्दी का अभिशाप

मैंने जब कहा कि "हम लोग तो किसी पार्टी में नहीं हैं", तो उन्होंने कहा कि "इससे क्या ! आप हमारी पार्टी में तो नहीं हैं—इतना काफी है।" मैंने देखा कि यह बात कहते समय वे अत्यन्त दुःखी थे। दुःख की बात भी थी, लेकिन पार्टी के अन्दर होने के कारण वे भी अत्यन्त मजबूर थे।

वस्तुतः मनुष्य व्यक्तिगत रूप से चाहे जैसा हो, अधिकांश समय वह परिस्थिति के घेरे में पड़ जाता है। आज देश में रचनात्मक कार्यकर्ता भी काफी हैं, चोटी के नेताओं में देश को ऊपर उठाने की उमंग भी काफी है, धन भी बहुत खर्च हो रहा है, लेकिन राष्ट्र-विकास की गाड़ी आगे क्यों नहीं बढ़ रही है, इसकी सूचना अनुग्रह बाबू की इन बातों में मिलती है। आज विनोबाजी पक्षहीन राजनीति की जो बात कर रहे हैं, अनुग्रह बाबू की उक्ति भी उसीकी पुष्टि करती है। हो सकता है कि पक्षगत राजनीति ने एक समय इंग्लैण्ड तथा दूसरे देशों को आगे बढ़ाया हो, लेकिन हर रस्म-रिवाज की तरह सामाजिक तथा राजनैतिक पद्धति की भी काल-मर्यादा होती है। देश, काल और पात्र-भेद से रस्म-रिवाज-भेद की आवश्यकता हो जाती है। इसलिए हर चिन्ताशील व्यक्ति को इस बात पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि आधुनिक युग में और भारतीय परिस्थिति में दलगत राजनीति से लाभ है या हानि !

अनुग्रह बाबू के आश्वासन से हम लोग खूब प्रोत्साहित हुए और अपने काम में और जोर से लग गये। लखमटिया के बाँध बँध जाने से

इस इलाके के लोगों को भी प्रेरणा मिली, लेकिन शुरू-शुरू में दूसरी जगह पर निश्चित कार्यक्रम नहीं बन सका।

बेदखली की समस्या

इसी बीच जनसेवा का एक नया अवसर मिला। खादीग्राम के पास में ही पेंगही नाम का एक छोटा-सा गाँव है। एक दिन उस गाँव से कुछ मुसहर खादीग्राम में दौड़े हुए आये और कहने लगे कि मल्लेपुर के बाबू हमें बेदखल कर रहे हैं। हमने अपने साथियों को उस गाँव में तहकीकात करने के लिए भेज दिया और कहा कि देखो, वे लोग बेदखल न हों, क्योंकि बिहार के कानून से कोई भी मालिक बटाईदार को बेदखल नहीं कर सकता। मालिक फसल रोक रहा था। हमने सलाह दी कि वे अपने खेत में फसल काटें और मालिक का हिस्सा अपने मालिक के यहाँ पहुँचा दें। यह सब शुरू हुआ ही था कि हम लोग पुरी के सर्वोदय-सम्मेलन के लिए रवाना हो गये।

मेरी गैरहाजिरी में इस मामले ने जोर पकड़ा। जमीन मालिक, पुलिस, अधिकारी, सार्वजनिक नेता—सब गरीब मुसहरों के खिलाफ हो गये। उसी ढंग से सारा मामला बनाया जाने लगा। गिरफ्तारियाँ शुरू यहाँ तक कि ऐसे कागजात बनाने की कोशिश होने लगी कि हम लोग—खादीग्रामवाले—इस इलाके में अशान्ति और विद्रोह फैलाने में लगे हुए हैं। यह सब होता-रहा, लेकिन हम लोगों ने इन मजदूरों को डटे रहने की ही सलाह दी। पर मामला ऐसा बनाया गया कि उस जमीन पर मुसहर कभी बटाई करते ही नहीं थे और इन लोगों ने खादीग्रामवालों की प्रेरणा से जबरदस्ती मालिक की फसल काट ली। फौजदारी मुकदमा चलाकर हमारे एक साथी तथा ग्यारह मुसहरों को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। भाई रवीन्द्र ने पुरी-सम्मेलन के पते पर तार द्वारा यह सब सूचित किया और राममूर्ति भाई ने पूरे मामले की रिपोर्ट लिखकर वहाँ भेज दी।

विनोबाजी की उपस्थिति में सर्व-सेवा-संघ के सभी कार्यकर्ता मौजूद

थे। बेदखली के प्रश्न पर सर्व-सेवा-संघ की क्या नीति हो और इस मामले में हम क्या नीति बरतें, इस मामले पर चर्चा होती रही। विनोबाजी ने बिहार के दौरे के अवसर पर इस प्रश्न पर काफी कहा था।

संघ का प्रस्ताव

इस सम्बन्ध में सर्व-सेवा-संघ की कोई अधिकृत नीति हो, ऐसा कार्यकर्ताओं ने महसूस किया। तदनुसार चर्चा होकर सर्व-सेवा-संघ ने मार्च १९५५ में पुरी में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया :

"बेदखली के विरोध में काम करते हुए खादीग्राम के कई कार्यकर्ताओं पर पुलिस की ओर से केस दाखिल किये गये हैं। ऐसे मामलों के बारे में हमारी नीति क्या हो? क्या हम बचाव की पैरवी (डिफेन्स) करें या जैसे स्वराज्य-आन्दोलन में करते थे वैसा केवल घटना का सही स्टेटमेण्ट (बयान) देकर समाधान मानें। इस बारे में भिन्न-भिन्न पहलुओं से चर्चा हुई, आखिर में आम राय रही कि :

आज कोर्ट के बहिष्कार का आन्दोलन हमें नहीं करना है, न तो लम्बी-चौड़ी कानूनी कार्रवाई में फँसना है। हरएक केस के बारे में उसके स्वरूप (Merit) को देखकर निर्णय लेना होगा।"

नेहरूजी का वक्तव्य

मैंने इस मामले को ढेबर भाई तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं तथा जवाहरलालजी तक पहुँचा दिया। पंडित जवाहरलालजी ने बेदखली के खिलाफ कड़ा वक्तव्य दिया। फलस्वरूप हम लोगों ने इस इलाके में बेदखली के खिलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया।

विनोबाजी की राय

पेंगड़ी के मामले में जो गिरफ्तारी हुई, उस विषय में विनोबा के सामने कार्यकर्ताओं ने चर्चा की। कार्यकर्ताओं ने और स्वयं विनोबाजी ने यही राय दी कि मुकदमा लड़ा न जाय, बयान देकर सब जेल चले जायँ। विनोबाजी ने कहा कि मुकदमा लड़ने में कार्यकर्ता कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकेगा, उसमें

फँस जायगा। केवल एक ही कार्यकर्ता नहीं फँसेगा, हम सब लोग फँस जायेंगे।

मुझे यह नीति सही मालूम हुई। हमारा उद्देश्य नैतिक स्तर पर समाज को खड़ा करना है, दण्ड-शक्ति के आधार पर नहीं। हमने अच्छी तरह से तहकीकात करके क्या न्याय है, यह समझ लिया है और उस हिसाब से सलाह भी दी है। सरकारी अधिकारी मानते हैं कि हमने ज्यादती की है, तो वे हमें सजा दें। इसके बिना समाज में नैतिक शक्ति जाग्रत नहीं हो सकती है। लोग यह दलील दे सकते हैं कि "ठीक है, आपने पूरी तहकीकात करके निश्चित राय कायम की है, लेकिन आप अपनी सफाई नहीं देंगे, तो अधिकारी को मालूम कैसे होगा कि आप न्यायपक्ष में हैं।" यह ठीक है कि जब उनके पास मुकदमा जाता है, तो उनको असलियत मालूम नहीं होती, लेकिन जैसे हमारे पास जाँच करके समझ लेने का जरिया है, वैसे ही सरकार के पास भी होना चाहिए। वह समझ ले और उसके अनुसार फैसला करे। मेरा अनुभव यह है कि मौके पर पहुँचने से मामले की जानकारी अवश्य हो जाती है। दलील तो हर चीज की होती है। मुझे जँच गया कि विनोबाजी की सलाह व्यावहारिक दृष्टि से तो ठीक ही है, लेकिन नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक है।

हम लोग पुरी से लौट आये, लेकिन पुरी से हमारी हिदायत पहुँचने से पहले ही यहाँ के साथी जमानत पर छूट चुके थे। अगर सफाई नहीं देनी है, तो जमानत पर भी नहीं छूटना चाहिए।

जमानत पर रिहाई फिर भी हम लोगों ने यही तय किया कि गाँव के मुसहर चाहें तो उनके लिए वकील किया जाय और मुकदमा लड़ा जाय, पर अपने कार्यकर्ता बयान देकर जेल चले जायँ।

पुरी-सम्मेलन से लौटकर पटना में जयप्रकाश बाबू, बैजनाथ बाबू आदि नेताओं ने यह तय किया कि इस वक्त पैंगही के मामले में सफाई

दी जाय। उनका खयाल था कि आन्दोलन की आज की स्थिति में सफाई न देकर सबका जेल चला जाना राष्ट्रीय सरकार को परेशानी में डालना होगा। खादीग्राम के साथी को यह निर्णय पसंद नहीं आया, लेकिन अनुशासन के नाते वे इसे मान गये और मुँगेर में ये वकीलों से बुद्धि-दान माँगने गये। जिले के अत्यन्त प्रभावशाली वकील श्री अखिलेश्वर बाबू ने इस मामले को हाथ में लिया।

सफाई देने का विचार

मुकदमा चलने लगा। जैसा हर मुकदमे का हाल होता है, वैसा ही इसका भी होने लगा। अधिकारी तारीख पर तारीख डालने लगे। इस प्रक्रिया में जमींदार के मुकाबले में गरीब मजदूर मजदूरी छोड़कर कचहरी दौड़ते-दौड़ते थक जाते हैं और आखिर में हारकर जमींदार की बात मान लेते हैं। लेकिन यहाँ ऐसा नहीं हुआ। इन मुसहरों में आपसी संगठन बन गया था। वे सब सप्ताह में एक दिन की मजदूरी जमा करते थे और मुकदमा लड़ते थे।

अंग्रेजी शासन-काल में फैजाबाद जिले में हम लोगों ने किस तरह बेदखली का मामला उठाया था, उसका विवरण आगरा जेल से लिखकर तुम्हें भेजा था। स्वतन्त्रता-संग्राम में लगे हुए कांग्रेस-जनों को मालूम है कि उस समय पुलिस और जमींदार किस प्रकार मिले रहते थे और किस प्रकार हाकिम जमींदार से सहानुभूति रखते थे। लेकिन गरीबों के हक में उन दिनों दो बड़ी परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। एक तो यह कि उन दिनों कांग्रेस जैसी शक्तिशाली संस्था इन गरीबों के साथ थी और दूसरी यह कि अगर वकील किसी तरह से मौके पर मजिस्ट्रेट की जाँच मंजूर करा लेते थे, तो न्याय की पूरी सम्भावना हो जाती थी।

स्थिति में परिवर्तन

दुर्भाग्य से स्वराज्य हो जाने पर ये अनुकूलताएँ नहीं रह गयीं। आज गरीबों के प्रति होनेवाले अन्याय का प्रतिकार करनेवाली कोई शक्तिशाली संस्था देश में मौजूद नहीं है। कांग्रेस अब राष्ट्रीय संस्था न रहकर

शासनारूढ़ दल बन गयी है। विरोधी पार्टियाँ एकाग्रता से ऐसे कामों में न लगकर चुनाव की आवश्यकता के अनुसार बहुधन्धी हो गयी हैं। मजिस्ट्रेट की जाँच भी पहले जैसी नहीं होती है। मौके पर जाकर जो रिपोर्ट देते हैं, वह प्रतिकूल ही हो जाती है। यहाँ तक कि स्थायी घर की जगह पर लिख देते हैं कि यहाँ कोई घर-द्वार नहीं था इत्यादि। इन तमाम कारणों से स्वराज्य प्राप्ति के बाद गरीब जनता अधिक निर्दलित, शोषित तथा भयभीत हो गयी है। गांधीजी ने अपने आन्दोलन के मारफत देश की जनता में जो निर्भयता निर्माण की थी, वह स्वराज्य-प्राप्ति के साथ काफूर हो गयी। बल्कि आम तौर से आज गरीब जनता उन दिनों से अधिक भयभीत दिखाई पड़ती है। पेंगही के मामले तथा उसके फैसलों को देखकर मेरे दिल में यह भावना पैदा हुई कि आज की शासन-पद्धति में गरीबों को न्याय मिलना असम्भव है। केवल पेंगही का मामला नहीं, खादीग्राम के बगल में लमेद गाँव में भी एक मामले की वही दुर्दशा हुई, जो पेंगही के मामले की हुई।

बेदखली के प्रश्न को लेकर उन दिनों मैं बिहार में कई जिलों में गया। सर्व-सेवा-संघ के प्रस्ताव को देशभर की भूदान समितियों को भेजकर उनसे कहा कि वे अपने इलाके में बेदखली निवारण की कोशिश करें। प्रायः सभी जगह से वही अनुभव आने लगा, जो हमें यहाँ हुआ।

गरीबों की कम्बल-परेड

इन तमाम अनुभवों के फलस्वरूप मैं सोचता रहा कि हम जब शासन-मुक्त समाज की बात करते हैं, तब लोग घबरा जाते हैं कि इससे गरीब पिस जायेंगे। यह बिल्कुल उलटी बात है। इस प्रकार संगठित सैन्य और पुलिस-बल से बाँधकर गरीबों को पीसने के बजाय अगर गरीबों को स्वतन्त्र रूप से मुकाबला करने के लिए छोड़ दिया जाय, तो वे अधिक मुकाबला कर सकते हैं। रह-रहकर गांधीजी की पुरानी बात मुझे याद आने लगी। गांधीजी ने जब अंग्रेजों को भारत छोड़ने की बात कही, तो अच्छे-अच्छे अंग्रेज पूछते थे कि अंग्रेज भारत को किसके हाथ में

छोड़कर जायँगे ? क्या भारत में ऐसी कोई संगठित शक्ति है, जिसके हाथ में अंग्रेज देश की बागडोर छोड़ सकते हैं ? जवाब में बापू कहते थे कि अगर कोई योग्य व्यक्ति या संस्था नहीं मिलती है, तो बेहतर यही है कि वे अराजकता के हाथ में छोड़ जायँ, क्योंकि संगठित लूट असंगठित लूट से अधिक भयानक होती है। शासन-व्यवस्था की ओर से इस प्रकार खुले-आम अन्याय तथा निर्दलन को देखकर मेरे मन में यही विचार उठता रहता है कि आज की परिस्थिति से अराजकता की परिस्थिति बुरी नहीं; क्योंकि अराजकता की स्थिति में कम-से-कम जगह-जगह जनता संगठित होकर अन्यायी तथा अत्याचारी का मुकाबला तो कर सकती है। हम लोग जब जेल में थे, तो वहाँ एक शब्द प्रचलित था, वह था 'कम्बल-परेड'। कैदी को कई कम्बलों के अन्दर लपेटकर पीटा जाता था, ताकि चिल्लाये, तो किसीको पता न चले और बाद में गवाही के लिए शरीर पर कोई दाग न रहे। आज की परिस्थिति मानो गरीब जनता की 'कम्बल-परेड' की परिस्थिति है। अन्याय-अत्याचार से पीड़ित जनता की कहीं सुनवाई नहीं है। पता नहीं, भगवान् के दरबार में सुनवाई है या नहीं।

लेकिन हम कर ही क्या सकते थे ! समाज और संसार उसी वर्ग के हाथ में है, जो आज शोषण तथा निर्दलन में लगे हुए हैं। उत्पादक श्रमिक-वर्ग को कौन पूछता है ? जिस वर्ग के लोग अन्याय तथा अत्याचार करते हैं, उसीके भाई-बन्धु जनता के प्रतिनिधि होते हैं, पुलिस और मजिस्ट्रेट होते हैं। एक जिले के जो मजिस्ट्रेट हैं, वे किसी दूसरे जिले के जमींदार हैं और अपनी जमीन से लोगों को बेदखल करते हैं, फिर वे दूसरे स्थान के मजिस्ट्रेट की हैसियत से किस तरह बेदखली के खिलाफ फैसला दे सकते हैं ! उनके अन्दर में निहित स्वार्थ उनसे कहेगा कि "अरे, अगर बेदखली प्रथा समाप्त होगी, तो तू कहाँ रहेगा !"

बेदखली और अधिकारी

इसी तरह जनता के प्रतिनिधि शासकदल भी उसी वर्ग के हैं। वे

भी क्या करें ? परिस्थिति की मजबूरी उनके लिए भी है। कभी-कभी मेरे मन में यह भी शंका उठती है कि क्या हम जन-सेवक कहलानेवाले भी इस अन्याय का प्रतिकार करने के लायक हैं। आखिर हम भी तो उसी वर्ग के हैं। हमारे सामने भी जब सम्पत्ति-विसर्जन और श्रम-आधारित जीवन की बात आती है, तो हम भी घबरा जाते हैं और बगलें झाँकने लगते हैं।

अतएव जो लोग शासन-मुक्त तथा शोषण-मुक्त समाज की दिशा में सोचते हैं, उन्हें अत्यन्त गम्भीर विचार करना होगा। उन्हें अपने को तौलकर देखना होगा कि क्या वे इस क्रांति के वाहन बनने की पात्रता रखते हैं ? क्या वे उत्पादक-वर्ग में अपने को विलीन करने का हौसला रखते हैं ? क्या वे 'करो या मरो' का मंत्र जपते हुए वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया में अपने को डालने को प्रस्तुत हैं ? अगर नहीं, तो क्या वे भी जन-सेवक के रूप में शोषण-चक्र की एक कड़ी मात्र नहीं हैं ? मैं जब इन बातों को सोचता हूँ, तो कभी-कभी दिक् हारा हो जाता हूँ और मेरे भीतर निराशा उत्पन्न हो जाती है। लेकिन मानव की मानवता पर आस्था के कारण जल्दी ही निश्चिन्त हो जाता हूँ। सोचता हूँ कि ऐसी परिस्थिति है, तभी तो गांधी का जन्म हुआ। इसलिए हम सबको इन बातों से परेशान न होकर परिस्थिति की जड़ काटने में एकाग्र होना चाहिए।

बेगही के बेदखली के प्रश्न को लेकर हमने जो आन्दोलन किया, उसका असर अच्छा हुआ। यद्यपि पहले बताये हुए कारणों से हम असफल रहे, फिर भी इस इलाके में बेदखली का जोर कम हो गया। अधिकारी-वर्ग जमींदारों का साथ देता था, इसलिए 'गरीब मजदूर' कानून से हार जरूर जाता था; लेकिन हमारे आन्दोलन के कारण जमीनवालों को कानून का सहारा लेकर मुकदमा जीतने में कम परेशानी और खर्च नहीं उठाना पड़ता था। उन दिनों बिहारके बहुत से जिले में

आन्दोलन का असर

भूदान-कार्यकर्ताओं द्वारा बेदखली के खिलाफ आन्दोलन चलाया गया। यद्यपि सभी जगह करीब-करीब वैसा ही अनुभव आया, जैसा हमें यहाँ आया था, फिर भी बेदखली के खिलाफ जन-जाग्रति हुई। एक बार मुजफ्फरपुर में कार्यकर्ताओं की बैठक में मेरी उपस्थिति में बेदखली की चर्चा चली। कार्यकर्ताओं ने कहा कि एक-दो मामलों में हम सफल होते हैं, लेकिन अधिकांश में हम असफल होते हैं। मैंने पूछा कि बेदखली के कितने प्रतिशत मामले आप लोग अपने हाथ में ले पाते हैं ? तो लोगों ने अन्दाज किया कि हजार में एक भी नहीं।

मैंने कहा कि "पुराने जमाने से किसानों का परम्परा से यह हक है कि वे जब चाहे जमीन दें और जब चाहे वापस ले लें, तो क्या आपके आन्दोलन के फलस्वरूप बटाईदारों में यह चेतना नहीं आयी है कि यद्यपि मजबूरी के कारण वे बेदखली को रोक नहीं सकते हैं, फिर भी यह अन्याय है ?" तो उन्होंने कहा : "हाँ, जनता में यह बोध निश्चित रूप से आ रहा है।" मैंने कहा : "फिर आप चिन्ता न करें। आप काम जारी रखें। अगर आप अपनी जनता में यह बोध पैदा कर दें कि बेदखल करना अन्याय है, तो आपका काम हो गया। यह अन्याय-बोध ही इस प्रथा का अन्त कर देगा। तिलक महाराज स्वराज्य हासिल करके मरे थे क्या ? उन्होंने भारतीय जनता के दिल में 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है', यह बोध पैदा कर दिया था। इस बोध ने ही देश को आजाद किया है।

जनता की दिलचस्पी

खादीग्राम ने इस प्रश्न को उठाया, इसलिए मुँगेर जिले की गरीब जनता इस केन्द्र के प्रति आकर्षित हुई। समाजवादी तथा साम्यवादी लोग भी प्रभावित हुए। तब से सभी पक्षों के लोग हमसे सहयोग करने लगे। जिले में तथा आसपास के गाँवों में सम्पर्क करने के लिए यह घटना बहुत महत्त्व की साबित हुई।

आसपास के हर तबके के लोग हमारे पास आने लगे। वे अपनी

समस्याएँ हमारे सामने रखते थे और हम लोग उनके गाँवों में जाकर उन्हें समझाने की कोशिश करते थे। साल-डेढ़ साल से हम लोग हर शुक्रवार को गाँव में जाते थे, लेकिन वहाँ गपशप के अलावा दूसरा कोई कार्यक्रम नहीं रहता था। लेकिन अब हम कुछ निश्चित कार्यक्रम लेकर वहाँ जाने लगे। इससे ग्रामीण जनता को हमसे दिलचस्पी पैदा हुई। साथ ही साथ हमारी घनिष्ठता भी बढ़ी।

यों १९५५ से खादीग्राम के जीवन का दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ। पहला अध्याय भीतरी संगठन तथा अपने पारिवारिक जीवन में श्रम और साम्य की साधना का था, दूसरा अध्याय जन-सम्पर्क-साधना का हुआ। इसका अनुभव फिर कभी लिखूँगा। ◉ ◉ ◉

क्रान्ति और श्रम-साधना : २३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२-१-'५८

सन् १९५४ में बीमारी की हालत में ही मुझे सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष-पद की जिम्मेवारी लेनी पड़ी। मई में जिम्मेवारी लेते ही जीवन-दान का सिलसिला शुरू हुआ। उसी साल जुलाई में मुजफ्फरपुर में शिविर हुआ इसी अवसर पर बिहार और उत्तर प्रदेश का 'भूदान-यज्ञ' साप्ताहिक मिलकर एक हो गया और वह सर्व-सेवा-संघ के मुखपत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। लिखने-पढ़ने से मेरा सदा से असहयोग रहा है, यह तुम जानती ही हो, फिर भी अपने परिवार में इतने विद्वानों के होते हुए भी मुझे ही उसका सम्पादक बनना पड़ा। दादा धर्माधिकारी ने यह पत्र चलाने की जिम्मेदारी ली, लेकिन सम्पादक बनने को वे तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा : "धीरेन्द्र भाई का नाम और मेरा काम।"

उड़ीसा की यात्रा

जुलाई में मुजफ्फरपुर के शिविर के अवसर पर सर्व-सेवा-संघ की बैठक होने के कारण सभी प्रदेशों के भूदान-कार्यकर्ता वहाँ आये थे। लोग चाहते थे कि अध्यक्ष की हैसियत से मैं विभिन्न प्रदेशों का दौरा करूँ, पर कमर के दर्द के कारण मैं मजबूर था। जून में बंगाल के शिविर में मैं गया था। पहले भी बीच-बीच में बाहर जाता था। लोग मुझे पालकी पर लेटाकर ले जाया करते थे। इसलिए कतई इनकार करना सम्भव नहीं था। बिहार के बाद विनोबाजी उड़ीसा जानेवाले थे।

उड़ीसा में उड़ीसा के साथी विनोबाजी की पूर्वतैयारी में लगे थे। उड़ीसा के वयोवृद्ध नेता श्री गोपबन्धु चौधरी ने मुझसे कहा : "आपको उड़ीसा की यात्रा करनी ही होगी। दर्द की चिन्ता न करें। ऐसे ढंग

से यात्रा होगी कि आपको यही लगेगा कि घर पर ही लेटे हुए हैं।" गोपबाबू के आदेश को अस्वीकार करना सम्भव नहीं था। मैं यात्रा के लिए तैयार हो गया। उस दौरे में मैंने शासन-मुक्त समाज का विचार तथा नयी तालीम के ग्रामीकरण की प्रक्रिया विस्तार से समझायी। इससे उड़ीसा का सारा बौद्धिक वर्ग अत्यन्त प्रभावित हुआ। विश्वविद्यालय के लोग कहते थे कि "हमें इसका अन्दाज ही नहीं था कि इसके पीछे इतनी फिलासफी है।" मैं उनसे कहा करता था : "आप लोग पण्डित लोग हैं, इसीलिए आप प्राचीन ग्रन्थों से बाहर नहीं निकलते। आधुनिक विचारों का भी कुछ अध्ययन किया कीजिये।"

उड़ीसा की यात्रा से कार्यकर्ताओं को भी पर्याप्त प्रेरणा मिली। मैंने देखा कि इस प्रदेश में जितने निष्ठावान् कार्यकर्ता हैं, उतने भारत के किसी भी प्रदेश में नहीं हैं। लेकिन उनका बौद्धिक स्तर ऊँचा नहीं था। अध्ययन का अभ्यास था ही नहीं। शायद चिन्तन भी नहीं करते थे। विभिन्न कॉलेजों के अध्यापक तो शिकायत ही करते थे कि "यहाँ के भूदानवाले तो हमें अछूत ही मानते हैं।" मैंने गोपबाबू, मालती देवी आदि उड़ीसा के नेताओं से इस बात की चर्चा की। उन्होंने कहा कि "हमारे यहाँ ऐसा कोई कार्यकर्ता नहीं है, जो इनसे सम्पर्क कर सके।" मेरा कहना था कि "आज की दुनिया विचार-मथन की दुनिया है। अगर हमारे कार्यकर्ता बौद्धिक स्तर पर अपने विचार का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे, तो सर्वोदय-क्रान्ति आगे नहीं बढ़ेगी।" काफी चर्चा के बाद यह तय हुआ कि मैं खादीग्राम से किसी कार्यकर्ता को भेज दूँ, जो बौद्धिक वर्ग से सम्पर्क करे। उड़ीसा के साथियों ने यह वादा किया कि वे दो-चार नौजवानों को उनके साथ कर देंगे, ताकि छह माह के बाद भी यह काम जारी रहे। खादीग्राम लौटकर मैंने भाई शैलेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय को इस कार्य के लिए उड़ीसा भेज दिया।

उड़ीसा की यात्रा के बाद जब मैं खादीग्राम लौटा, तो मेरी कमर का दर्द करीब-करीब ठीक हो गया। उसका तात्कालिक कारण यही

क्रान्ति और श्रम-साधना : २३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२-९-'५८

सन् १९५४ में बीमारी की हालत में ही मुझे सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष-पद की जिम्मेवारी लेनी पड़ी। मई में जिम्मेवारी लेते ही जीवन-दान का सिलसिला शुरू हुआ। उसी साल जुलाई में मुजफ्फरपुर में शिविर हुआ इसी अवसर पर बिहार और उत्तर प्रदेश का 'भूदान-यज्ञ' साप्ताहिक मिलकर एक हो गया और वह सर्व-सेवा-संघ के मुखपत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। लिखने-पढ़ने से मेरा सदा से असहयोग रहा है, यह तुम जानती ही हो, फिर भी अपने परिवार में इतने विद्वानों के होते हुए भी मुझे ही उसका सम्पादक बनना पड़ा। दादा धर्माधिकारी ने यह पत्र चलाने की जिम्मेदारी ली, लेकिन सम्पादक बनने को वे तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा : "धीरेन्द्र भाई का नाम और मेरा काम।"

जुलाई में मुजफ्फरपुर के शिविर के अवसर पर सर्व-सेवा-संघ की बैठक होने के कारण सभी प्रदेशों के भूदान-कार्यकर्ता वहाँ आये थे।

उड़ीसा की यात्रा

लोग चाहते थे कि अध्यक्ष की हैसियत से मैं विभिन्न प्रदेशों का दौरा करूँ, पर कमर के दर्द के कारण मैं मजबूर था। जून में बंगाल के शिविर में मैं गया था। पहले भी बीच-बीच में बाहर जाता था। लोग मुझे पालकी पर लेटाकर ले जाया करते थे। इसलिए कतई इनकार करना सम्भव नहीं था। बिहार के बाद विनोबाजी उड़ीसा जानेवाले थे।

उड़ीसा में उड़ीसा के साथी विनोबाजी की पूर्वतैयारी में लगे थे। उड़ीसा के वयोवृद्ध नेता श्री गोपबन्धु चौधरी ने मुझसे कहा : "आपको उड़ीसा की यात्रा करनी ही होगी। दर्द की चिन्ता न करें। ऐसे ढंग

से यात्रा होगी कि आपको यही लगेगा कि घर पर ही लेटे हुए हैं।" गोपबाबू के आदेश को अस्वीकार करना सम्भव नहीं था। मैं यात्रा के लिए तैयार हो गया। उस दौरे में मैंने शासन-मुक्त समाज का विचार तथा नयी तालीम के ग्रामीकरण की प्रक्रिया विस्तार से समझायी। इससे उड़ीसा का सारा बौद्धिक वर्ग अत्यन्त प्रभावित हुआ। विश्वविद्यालय के लोग कहते थे कि "हमें इसका अन्दाज ही नहीं था कि इसके पीछे इतनी फिलासफी है।" मैं उनसे कहा करता था : "आप लोग पण्डित लोग हैं, इसीलिए आप प्राचीन ग्रन्थों से बाहर नहीं निकलते। आधुनिक विचारों का भी कुछ अध्ययन किया कीजिये।"

उड़ीसा की यात्रा से कार्यकर्ताओं को भी पर्याप्त प्रेरणा मिली। मैंने देखा कि इस प्रदेश में जितने निष्ठावान् कार्यकर्ता हैं, उतने भारत के किसी भी प्रदेश में नहीं हैं। लेकिन उनका बौद्धिक स्तर ऊँचा नहीं था। अध्ययन का अभ्यास था ही नहीं। शायद चिन्तन भी नहीं करते थे। विभिन्न कॉलेजों के अध्यापक तो शिकायत ही करते थे कि "यहाँ के भूदानवाले तो हमे अछूत ही मानते हैं।" मैंने गोपबाबू, मालती देवी आदि उड़ीसा के नेताओं से इस बात की चर्चा की। उन्होंने कहा कि "हमारे यहाँ ऐसा कोई कार्यकर्ता नहीं है, जो इनसे सम्पर्क कर सके।" मेरा कहना था कि "आज की दुनिया विचार-मंथन की दुनिया है। अगर हमारे कार्यकर्ता बौद्धिक स्तर पर अपने विचार का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे, तो सर्वोदय-क्रान्ति आगे नहीं बढ़ेगी।" काफी चर्चा के बाद यह तय हुआ कि मैं खादीग्राम से किसी कार्यकर्ता को भेज दूँ, जो बौद्धिक वर्ग से सम्पर्क करे। उड़ीसा के साथियों ने यह वादा किया कि वे दो-चार नौजवानों को उनके साथ कर देंगे, ताकि छह माह के बाद भी यह काम जारी रहे। खादीग्राम लौटकर मैंने भाई शैलेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय को इस कार्य के लिए उड़ीसा भेज दिया।

उड़ीसा की यात्रा के बाद जब मैं खादीग्राम लौटा, तो मेरी कमर का दर्द करीब-करीब ठीक हो गया। उसका तात्कालिक कारण यही

समझा गया कि होमियोपैथी इलाज से ठीक हुआ। लेकिन मैं मानता हूँ कि भगवान् ने ही उसे ठीक किया। जिस समय खादीग्राम के साथी मेरा इलाज और मालिश आदि करते थे, तो मैं उनसे कहा करता था कि तुम लोग मेहरबानी करके मेरा इलाज मत करो। ईश्वर की इच्छा है कि मैं चारपाई पर पड़ा रहूँ, तो पड़ा हूँ। जिस दिन उसे मुझसे कुछ दूसरा काम लेना होगा, तो वह मेरी कमर ठीक कर देगा। मैं उनसे कहता था कि लोग कहते हैं कि भगवान् 'मूकं करोति वाचालं पंगुं लघयते गिरिम्।' वे मूक को वाचाल बनाते हैं और पंगु से पहाड़ पार कराते हैं। विनोद में मैं कहा करता था कि ईश्वर एक विषय में तो पास हो चुके हैं, देखना है दूसरे विषय में पास होते हैं या नहीं? एक विषय के बारे में इसलिए कहता था कि बचपन से मैं वाचाल नहीं था। स्कूल-कॉलेज में कभी किसी वाद-विवाद में भाग नहीं लेता था। घर पर भी मैं बहुत कम बोलता था। और असहयोग-आन्दोलन में शामिल होकर बोलना तो दूर रहा, बहुत कम मौकों पर जुलूस या सार्वजनिक सभा में शामिल होता था। १६ साल मूक ग्राम-सेवा करने के बाद १९३७-३८ में मैं सभाओं में भाषण करने लगा। जो लोग मेरे भाषण सुनते, वे आश्चर्य में पड़ जाते थे कि मैंने बोलना कब से शुरू कर दिया।

कमर का दर्द मिटा

१९४९ में जब पहले-पहल बिहार के कांग्रेस-शिविर में मैंने भाषण किया, तो ध्वजाभाई, रामदेव भाई, लक्ष्मीबाबू आदि मेरे पुराने मित्र आश्चर्य में पड़ गये। कहने लगे : "धीरेन्द्र, तुम कब से लेक्चर देने लगे?" मेरे भाई साहब रिटायर होकर कुछ दिन सेवापुरी आकर रहे थे। वे मेरे साथियों से कहा करते थे कि "अरे, इसके पेट पर गोली मारने पर भी मुँह से बोली नहीं निकलती थी। आज यह सारे हिन्दुस्तान में घूम-घूमकर लेक्चर देता फिरता है। यह भी एक अजीब तमाशा है।" इन्हीं कारणों से मैं मानता था कि अगर मेरे जैसे 'मूक' को वह अपना काम लेने के लिए 'वाचाल' बना सकता है, तो उसे जब आवश्यकता महसूस

होगी, तो मेरी कमर भी ठीक कर देगा। हुआ भी वही, उड़ीसा से लौटने के दो-तीन माह बाद ही मैं खादीग्राम के पास की पहाड़ी पर चढ़कर उतर आया।

आज भी मेरा विश्वास है कि जीवन की जितनी घटनाएँ घटी हैं, वे सब ईश्वरीय योजनाएँ ही हैं। सेवाग्राम से खादीग्राम आना, खादीग्राम आते ही कमर का दर्द होना—आदि सब उसीका विधान था। नहीं तो उस समय के आन्दोलन के प्रवाह में मुझे कौन बैठने देता ! न बैठता, तो शायद खादीग्राम न बन पाता। फिर जब खादीग्राम जम गया और मुझे अखिल भारतीय जिम्मेदारी उठानी पड़ी, तो एकाएक कमर ठीक हो गयी। निःसंदेह इस समय ईश्वर मुझे देशभर में घुमाकर विचार-प्रचार कराना चाहता था।

अगस्त १९५४ से अगस्त '५५ तक मैं लगातार सारे देश में प्रवास करता रहा। उस समय मैं जो कुछ बोलता था, प्रश्नों के जो उत्तर देता था, वह सब 'भूदान-यज्ञ' में प्रकाशित होता था। तुमने देखा होगा कि दौरे के सिलसिले में मैं श्रम-आधारित जीवन पर अधिक जोर देने लगा था। नयी तालीम के महत्त्व पर भी काफी जोर देता था। नयी तालीम के लिए गया-सम्मेलन के पहले से ही बोलने और लिखने लगा था, क्योंकि मैं देखता था कि बिना नयी तालीम के यह आन्दोलन हवा में रह जायगा। मैं कहा करता था कि जिस तरह आजादी की लड़ाई के दिनों में कांग्रेस द्वारा सत्याग्रह, पिकेटिंग आदि के साथ-साथ खादी-ग्रामोद्योग आदि का विधायक कार्य चलता था और वे कार्यक्रम एक-दूसरे के सहारे से ही चलते थे, उसी तरह आज की क्रान्ति के संदर्भ में साहित्य-प्रचार, शिविर, सम्मेलन, पदयात्रा आदि के जरिये आन्दोलन के साथ-साथ नयी तालीम का विधायक काम क्रान्ति-प्रक्रिया के अभिन्न अंग के रूप में चलना चाहिए। मैं कहता था कि ये दोनों कार्यक्रम भी एक-दूसरे के सहारे ही चलेंगे। एक के बिना दूसरा पंगु रहेगा। क्रान्ति के संदर्भ में

श्रम-आधारित जीवन पर जोर

क्रान्ति तथा नयी तालीम के कार्यक्रम को मैं देवता और वाहन की तुलना देता था। कहता था कि क्रान्तिदेवी नयी तालीम की पीठ पर ही बैठकर आगे चल सकती है और क्रान्तिदेवी को पीठ पर बैठाये बिना नयी तालीम की शालाएँ प्राणहीन जड़ पदार्थ जैसी ही रहेंगी। उन दिनों के मेरे लेख और भाषण इसी आशय के हुआ करते थे। मेरे इन विचारों को सर्व-सेवा-संघ ने पुस्तिका के रूप में छपवाया भी था।

सम्मेलन में जब विनोबाजी ने तालीमी संघ को भी सर्व-सेवा-संघ में विलीन होने की सलाह दी, तो मुझे बड़ी खुशी हुई; क्योंकि मुझे इसकी आशा बनी कि अब सर्व-सेवा-संघ की योजना में आन्दोलन तथा नयी तालीम का काम उसी तरह से अभिन्न रूप से चलेगा, जिसकी कल्पना मैं करता था। दुर्भाग्य से तालीमी संघ सर्व-सेवा-संघ में विलीन नहीं हो सका। इस कारण आन्दोलन और नयी तालीम का काम पूर्ववत् अलग-अलग चलता रहा। मैं मानता हूँ कि इससे आन्दोलन के संघटन और विकास में हानि हुई है। जब तक ये दोनों साथ नहीं चलेंगे, तब तक आन्दोलन को बल नहीं मिलेगा। बल्कि ग्रामदान के संदर्भ में नयी तालीम के कार्यक्रम को ग्राम-स्वराज्य की बुनियाद मानना चाहिए। वस्तुतः पोषण, शिक्षण तथा रक्षण ही ग्राम-स्वराज्य की बुनियाद है। बिना शिक्षण के पोषण का कार्यक्रम आगे नहीं बढ़ सकता; क्योंकि उत्पादन की क्रिया वैज्ञानिक न होने पर आज की परिस्थिति में लोग पेट भी ठीक से नहीं भर सकेंगे। दूसरे अंगों का पोषण तो दूर की बात है। स्पष्ट है कि ग्राम-स्वराज्य में रक्षण अहिंसात्मक रक्षण होगा। अहिंसात्मक रक्षण की संभावना सांस्कृतिक विकास की परिणति में ही है। यह तो सभी समझ सकते हैं कि सांस्कृतिक विकास भी मूलतः शिक्षण-प्रक्रिया ही है। हमारे आन्दोलन का ध्येय ग्राम-स्वराज्य है, तो उसका माध्यम नयी तालीम ही हो सकती है।

नयी तालीम के अलावा कार्यकर्ता के श्रमजीवी बनने पर मैं अत्यधिक जोर देता था और प्रत्येक शिविर, सम्मेलन तथा बैठक में इसे दोहराता

था, क्योंकि मेरी धारणा है कि भू-क्रान्ति के सन्देशवाहक यदि श्रमजीवी बनने की कोशिश में श्रम-आधारित जीवन नहीं बनायेंगे, तो वे क्रान्ति के वाहक की हैसियत में पगु हो जायेंगे। मेरे ऐसे भाषणों से कितने ही प्रान्तों के कार्यकर्ताओं मे खलबली मच जाती थी। कुछ कार्यकर्ता तो इस कारण मुझसे अप्रसन्न भी रहते थे।

इसी साल दिसम्बर या जनवरी में मेरा उत्तर प्रदेश का कार्यक्रम बना। उत्तर प्रदेश के लोग मुझे अपने प्रदेश का बताते हैं। यहाँ मैंने अपनी जिन्दगी के सबसे बेहतरीन ३० साल बिताये हैं और विधायक कार्य से जनता की सेवा की है। उसी प्रान्त ने मुझे अनुभव देकर व्यापक काम करने के योग्य बनाया है। अतः उस प्रदेश के भाई मुझ पर अपना विशेष अधिकार मानते हैं। मैं भी वहाँ के कार्यकर्ताओं पर अपना विशेष अधिकार मानता हूँ। इसलिए वहाँ के दौरे में मैं अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपने विचार प्रकट करने लगा।

कार्यकर्ताओं के शिविर

मेरे दौरे का लाभ लेकर करण भाई ने उत्तर प्रदेश के तमाम कार्य-कर्ताओं तथा मित्रों के दो शिविर रखे। उत्तर प्रदेश बहुत बड़ा प्रदेश होने के कारण पश्चिमी तथा पूर्वी हिस्से के लिए दो सम्मेलन रखने पड़े। पश्चिमी सम्मेलन आगरा में रखा गया और पूर्वी सम्मेलन फतेहपुर में। दोनों सम्मेलनों में दादा धर्माधिकारी और बहन विमला भी शामिल हुईं।

सम्मेलन में और तमाम विचारों के अलावा कार्यकर्ताओं से श्रम-आधारित जीवन के बारे में आग्रहपूर्वक कहा। उनसे स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि कार्यकर्ता अपने जीवन में वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया को शुरू नहीं करते हैं, तो वे इस क्रांति का संदेश लेकर जनता में जाने की पात्रता ही खो देते हैं। मैंने उनसे सीधा सवाल किया : "आप अभी नारा लगा रहे थे 'जमीन किसकी ? जो जोते उसकी !' तो अगर यह नारा सफल हो जाय, तो आपकी क्या दशा होगी ?" मैं उनसे कहता था कि

"आप देहातों में जाकर ,२५-३० या ४० बीघेवाले जमींदार या किसान से कहते हैं कि आपको जमीन रखने का हक नहीं है। जितनी जमीन आप खुद अपने हाथ से और अपने परिवार की मदद से जोत सकते हैं, उतनी अपने पास रखिये, बाकी जमीन भूमिहीनों को बाँट दीजिये।" अर्थात् आप अपने ही जैसे मध्यम-वर्ग के एक व्यक्ति से कहते हैं कि वे सपरिवार शरीर-श्रम से अपना गुजारा करें। मजदूर खटाकर मुनाफा लेकर उस पर गुजारा न करें। मैं आपसे पूछता हूँ कि "मान लीजिये, वह व्यक्ति आपको चुनौती दे कि अच्छी बात है, आप मेरी जगह पर आइये और बताइये कि शरीर श्रम से उतनी ही जमीन जोतकर कैसे गुजारा किया जाता है? अपने गुजारे का जरिया आप मुझे दे दीजिये, तो आपमें से कितने नौजवान ऐसे हैं, जो इस चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं?"

इस प्रकार दोनों शिविरों में मैंने बड़े आग्रह तथा कड़ाई के साथ यह यह बात रखी कि क्रांति जिस स्तर पर पहुँच चुकी है, उस स्तर पर कार्यकर्ता यदि श्रम-आधारित जीवन अपनाने का काम न करें, तो इसकी आगे की प्रगति असम्भव है। जब लोग यह सवाल करते थे कि सदियों की आदत तथा संस्कार एक दिन में कैसे बदल सकता है? तो मैं कहता था कि यह सही है कि एक दिन में नहीं बदला जा सकता, लेकिन जो जहाँ है, वहाँ से चलना तो शुरू कर सकता है। चलना शुरू करने के बाद यह भी हो सकता है कि तेज रफ्तार के कारण दिल्लीवाला कानपुरवाले से पहले पहुँच जाय, लेकिन चाहे जो पहले पहुँचे, सबको चलकर ही पहुँचना होगा। 'कलकत्ता चलो', 'कलकत्ता चलो' का नारा लगाने से कोई नहीं पहुँचेगा, उसी तरह अगर वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया में सबको उत्पादक श्रमिक बनना है, तो श्रमजीवी बनने की साधना में सबको लगना ही होगा। कोई आगे रहेगा, तो कोई पीछे; लेकिन सबको एक ही पथ का पथिक बनना पड़ेगा।

मेरे भाषणों से कार्यकर्ताओं में बड़ी खलबली मची। उनमें असंतोष

भी पैदा हुआ। दादा धर्माधिकारी, विमला बहन तथा करण भाई तक को बेचैनी हुई। दादा एक दार्शनिक विचारक हैं। वे तुरन्त विचार की तह तक पहुँच गये और निश्चिन्त हुए। लेकिन बहन विमला तथा करण भाई को उस दिन बेचैनी के कारण नींद नहीं आयी। करण भाई तो तड़के ३-३॥ बजे ही मेरे पास पहुँचे। कहने लगे : "आपके भाषणों ने हमें परेशानी में डाल दिया है। कार्यकर्ताओं के बारे में आपका जो विचार है, उसे देखते हुए हम सबको कोई अधिकार नहीं है कि हम इस आन्दोलन में रहें। अगर आप लोग इस ढंग से भाषण करेंगे, तो देश में कार्यकर्ता नहीं मिलेंगे। फिर यह क्रांति कहाँ रहेगी ?"

साथियों द्वारा विरोध

उन्होंने जयप्रकाश बाबू की बातों का भी हवाला दिया और कहा कि "श्रम जीवन का आपका यह आग्रह जयप्रकाश बाबू को भी पसंद नहीं है। वे भी कहते हैं कि 'धीरेन भाई अगर ऐसा आग्रह रखेंगे, तो अच्छे कार्यकर्ता आन्दोलन में नहीं आयेंगे'।"

हमेशा की तरह करण भाई उस दिन भी मुझसे खूब उलझे। उनकी बातों में व्याकुलता थी। कहने लगे : "इस विचार से देश में क्रान्ति नहीं होगी। आप या आप जैसे इने-गिने आदमी कहीं बैठकर कुछ साथियों के साथ श्रम-साधना कर टॉल्स्टॉय फार्म जैसा कुछ केन्द्र भले ही बना लें, लेकिन इससे समाज-क्रांति नहीं होगी।" मैंने पूछा : "क्या तुम मानते हो कि टॉल्स्टॉय फार्म ने क्रांति नहीं की ? टॉल्स्टॉय फार्म ने तो गांधी पैदा किया और आज जो हम क्रांति की बात करते हैं, उसकी गंगोत्री तो टॉल्स्टॉय जैसे लोगों की साधना ही थी न ?"

इस प्रकार काफी बहस हुई। अन्त में करण भाई ने कहा कि "आपकी दलील अकाट्य है, लेकिन मन को समाधान नहीं है। आपके ऐसे भाषणों से आन्दोलन को हानि पहुँचेगी।" मैंने उनसे कहा कि "अगर कार्यकर्ता इस दिशा में कदम उठा लें, तो क्रांति हजारगुनी गति से आगे बढ़ेगी। और अगर ऐसा नहीं हुआ, तो हमारी क्रांति निस्तेज हो

जायगी।" लेकिन आखिर तक वे कहते रहे कि "आपको ऐसा प्रचार बन्द करना चाहिए।"

सबेरा होते ही बहन विमला मेरे पास पहुँचीं। उन्होंने भी अपने स्वभावानुकूल मीठे शब्दों में अपनी परेशानी बतायी। उन्हें मैंने विस्तार से अपने विचार समझाये। विचार उनकी समझ में आ गया, लेकिन उसकी व्यावहारिकता पर वे शंका करती रहीं। उन्होंने पूछा : "तो क्या मैं दौरा बन्द करके कहीं बैठकर इस साधना में लगूँ?" मैंने कहा : "दौरा बन्द करने की आवश्यकता नहीं, लेकिन बीच-बीच में थोड़े-थोड़े दिनों के लिए किसी आश्रम में बैठकर श्रम का अभ्यास करना ही चाहिए।"

उस दिन सारे शिविर में इन्हीं बातों की चर्चा रही। मैंने दादा से पूछा : "आप विचारक हैं, बताइये इसमें कहाँ विचार-दोष है?" उन्होंने कहा : "आरम्भ में मुझे भी कुछ घबराहट थी, लेकिन मैंने विचार कर लिया और मैं मानता हूँ कि आपका विचार बिलकुल सही है। क्रांति का अगला कदम यही है, भले ही हम सब कार्यकर्ता इस कदम के लिए असमर्थ हो जायँ।"

जयप्रकाश बाबू जैसे अत्यन्त क्रान्तिकारी तथा विचारशील व्यक्ति के मतभेद और करण भाई जैसे अनन्य साथी के असन्तोष के बावजूद मैं जहाँ कहीं जाता था, अपने प्रवचन में इसी विचार पर जोर देता था, क्योंकि मैं उसी तरह निश्चयपूर्वक देख रहा था कि श्रम-साधना के बिना हमारी क्रान्ति एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती।

यह सब चर्चा चलती रही और मेरी यात्रा भी साथ साथ चलती रही। तीन-चार माह के बाद बंगाल के बाँकुड़ा में विनोबा-पड़ाव पर सर्व-सेवा-संघ की बैठक बुलायी गयी। विनोबाजी के पड़ाव पर सर्व-सेवा-संघ की बैठक होने पर देश के करीब सभी प्रमुख कार्यकर्ता मौजूद रहते हैं। वहाँ भी करण भाई ने और साथियों के साथ आग्रहपूर्वक कहा कि "आपको यह प्रचार बन्द करना चाहिए।" मैंने उन लोगों से कहा

विनोबा की अनुमति

कि "मैं इस चीज को स्पष्ट देख रहा हूँ, उसे न कहूँ, यह कैसे होगा ? फिर मानना न मानना आप लोगों के हाथ में है।" लेकिन वे कहने लगे कि "आपके इस प्रकार के भाषणों से आन्दोलन को हानि पहुँच रही है।" मैंने उनसे कहा कि "यह आन्दोलन विनोबाजी ने चलाया है, वे ही इसको आगे बढ़ा सकते हैं। हम सब उनके पीछे चलनेवाले हैं। अगर वे भी समझते हों कि इससे आन्दोलन को धक्का पहुँचेगा, तो मैं जरूर यह कहना बन्द कर दूँगा। लेकिन फिर मेरे पास दूसरा कुछ कहने के लिए रह ही नहीं जायगा। इसलिए वैसी हालत में मैं अपनी साधना में लग सकूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि इसीमें से क्रान्ति निकलेगी।"

आखिर करण भाई ने मुझे विनोबाजी के पास पेश कर दिया। अण्णासाहब को भी बुला लिया था। करण भाई ने अपनी तथा दूसरे साथियों की बात उनके सामने रखी। विनोबाजी मेरे विचारों से परिचित थे। उन्होंने मुझसे विशेष चर्चा नहीं की। अण्णासाहब की राय पूछी। अण्णासाहब ने मेरे ही पक्ष में कहा। उन्होंने तो यहाँ तक कहा : "धीरेन्द्र भाई का इस पहलू पर जोर देना आवश्यक है।" विनोबाजी ने 'हाँ' या 'ना' कोई राय नहीं दी। कहा कि "आप सर्व-सेवा-संघ के दफ्तर को इस जीवन पर ढालिये।" मैंने कहा : "हाँ, ऐसा तो करेंगे ही; लेकिन आप साफ-साफ बताइये कि मैं अपना विचार कहना जारी रखूँ या बन्द करूँ ?" विनोबाजी मुस्कराये और बोले : "आप जरूर कहिये। लेकिन ऐसे ढंग से कहिये, जिससे न कर सकनेवालों पर असर ठीक हो।" मैंने पूछा : "भाषा तो मेरी ही होगी न ?" तो विनोबाजी हँस पड़े।

इसी प्रकार से १९५५ के अगस्त तक मैंने श्रम के विचार को अत्यन्त आग्रहपूर्वक हर प्रांत के कार्यकर्ताओं के सामने रखा। राजस्थान और उड़ीसा के अलावा अन्य प्रदेशों में कार्यकर्ताओं में थोड़े समय के लिए बड़ी बेचैनी रही; लेकिन थोड़े ही दिनों में वे महसूस करने लगे कि इस क्रांति के लिए श्रम-आधारित जीवन का होना आवश्यक है। ० ० ०

तन्त्रमुक्ति और निधिमुक्ति : २४ :

श्रमभारती, खादीग्राम
५-९-'५८

सालभर देश के कोने-कोने की यात्रा करके मुझे एक नयी स्फूर्ति मिली। लम्बी बीमारी के कारण कहीं नहीं जा सका था। अढ़ाई वर्ष के बाद विभिन्न प्रदेशों के मित्रों से मिलकर बड़ी खुशी हुई। भूदान-आन्दोलन के कारण बहुत से नये मित्र मिले। वे सब 'सर्वोदय' और 'भूदान-यज्ञ' में मेरे विचारों को देखते रहते थे। यात्रा से वे मेरे और निकट आ गये थे। आन्दोलन की गतिविधि के बारे में सबसे चर्चा होती थी।

मित्रों से चर्चाएँ करके और स्थिति का अध्ययन करके मुझे ऐसा लगा कि अब समय आ गया है कि भूदान-आन्दोलन संस्थागत न रहकर जन-आन्दोलन का रूप ग्रहण करे। मैंने देखा कि प्रान्तों में भूदान समिति के द्वारा नियुक्त कार्यकर्ताओं के अलावा दूसरे लोग भूदान का कोई काम नहीं करते थे। केवल जहाँ विनोबाजी जाते थे, वहीं कुछ दूसरे लोगों में चहल-पहल होती थी। मैंने महसूस किया कि आम जनता की यही धारणा है कि भूदान का काम सर्व-सेवा-संघ का या भूदान समिति का काम है और जैसे चरखा-संघ द्वारा खादी का काम चलता था, वैसे ही सर्व-सेवा-संघ की प्रवृत्ति के रूप में यह काम चल रहा है।

मैंने महसूस किया कि इस तरह से आन्दोलन की प्रगति नहीं हो सकती। संचित निधि तथा तन्त्रबद्ध कार्यक्रम की एक निर्दिष्ट मर्यादा होती है। उस मर्यादा पर हम पहुँच गये हैं। अतएव आज यदि आन्दोलन को आगे बढ़ाना है, तो उसे तन्त्र तथा निधि के बाहर निकालना होगा। गांधी निधि के आधार पर आन्दोलन चलाने के बारे में भेद विचार हुए

मालूम ही है। इस मदद को मैंने स्वीकार किया था। इसलिए नहीं कि मुझे उससे समाधान था, बल्कि इसलिए कि द्रष्टा पुरुष विनोबा ने कहा था।

उत्तर प्रदेश और बिहार के दौरे के सिलसिले में यह विचार मुझे सूझा और मई मे बिहार में जिला समिति के संयोजक तथा मुख्य कार्यकर्ताओं की बैठक में मैंने पहले-पहल उसे व्यक्त किया। मैंने उस बैठक में कार्यकर्ताओं से अपील की कि वे तन्त्रमुक्त होकर जनता में घुसने की कोशिश करें। मेरे इस विचार पर काफी चर्चा हुई। साथियों को असम्भव-सा मालूम होने लगा। लेकिन काफी विचार-विनिमय के बाद उन्हें भी लगा कि मैं ठीक कह रहा हूँ। उस समय बिहार प्रान्तीय भूदान समिति के संयोजक लक्ष्मीबाबू थे। उन्होंने अपने-आपको तन्त्र-मुक्त करके सीधे जनता में प्रवेश करने की बात कही। मैंने साथियों से अपील की कि वे लक्ष्मीबाबू को छोड़ दें। क्योंकि मैं मानता था कि जब तक कुछ मुख्य कार्यकर्ता तन्त्रमुक्त तथा निधिमुक्त नहीं हो जायंगे, तब तक इस विचार को प्रेरणा नहीं मिलेगी। लेकिन बिहार के साथियों को लक्ष्मीबाबू को छोड़ना पसन्द नहीं था। वे कुछ धर्म-संकट में पड़ गये, क्योंकि मेरे विचार को वे पसन्द कर चुके थे। आखिर में उन्होंने यही तय किया कि विनोबाजी से पूछा जाय। वे जैसा कहें, वैसा किया जाय।

लक्ष्मीबाबू को छोड़ने की माँग

वे विनोबाजी से पूछने गये। विनोबाजी ने कहा कि लक्ष्मीबाबू तो स्वभाव से ही तन्त्रमुक्त हैं। उनके लिए तन्त्रमुक्ति की आवश्यकता नहीं है। वे वही काम करें, जो कर रहे हैं। बल्कि उन्होंने यह भी कहा कि लक्ष्मीबाबू को दफ्तर मे बैठ जाना चाहिए। बिहार के साथियों ने लौटकर मुझे विनोबाजी की सूचना बतायी। मुझे लगा कि अगर लक्ष्मी-बाबू को इजाजत मिल जाती, तो उनके नेतृत्व में काफी नौजवान निकल आते, जो जन-आधारित रहकर जनता को प्रेरणा दे सकते थे। वह प्रेरणा वास्तविक जन-शक्ति का विकास करती। लेकिन विनोबाजी ने जब ऐसा कहा, तो मुझे लगा कि उसमें कुछ तथ्य होगा।

यद्यपि लक्ष्मीबाबू को तन्त्रमुक्ति की इजाजत नहीं मिली और मैंने एक सिपाही के नाते विनोबाजी के पीछे चलने का निश्चय कर रखा था; फिर भी मेरे मन में वर्तमान परिस्थिति से समाधान नहीं था। मैं स्पष्ट देख रहा था कि केन्द्रित निधि आधारित तथा तन्त्रबद्ध आन्दोलन एक निश्चित चहारदीवारी के भीतर घिरता चला जा रहा है। अतएव मैंने अपने विचार का प्रचार करना शुरू कर दिया। बिहार के कार्यकर्ताओं की बैठक के बाद मैं जहाँ भी गया, वहाँ मैंने तन्त्र के बाहर निकलकर जनता में प्रवेश करने के लिए कार्यकर्ताओं का आवाहन किया। मेरा प्रवचन 'भूदान-यज्ञ' में छपता था, इसलिए वह आवाहन देशभर के कार्यकर्ताओं तक पहुँचता रहता था। बिहार के छपरा, सहरसा तथा पटना जिलों के कुछ नौजवान भूदान-यज्ञ से वेतन आदि लेना बन्द करके जन-आधारित होकर काम करने लगे। छपरा के कुछ नौजवान मुझसे मार्ग-दर्शन लेने के लिए छपरा से खादीग्राम की ओर पैदल चल पड़े। उत्तर प्रदेश के भी एकआध कार्यकर्ता निकले और कुछ निकलना चाहते थे। तन्त्रमुक्ति के विचार ने नौजवान कार्यकर्ताओं में थोड़ी-सी हलचल पैदा कर दी। वह थोड़ी जरूर थी, लेकिन कुछ गहरी थी।

तन्त्रमुक्ति का आवाहन

तन्त्रमुक्ति के विचार को व्यक्त करने के कारण कुछ साथियों को काफी परेशानी हुई। करण भाई तो बहुत नाराज हुए, जयप्रकाश बाबू ने भी असन्तोष प्रकट किया। वे कहने लगे कि "अगर आप लोग इस तरह विचार व्यक्त करते रहेंगे, तो कार्यकर्ता भटक जायेंगे और आन्दोलन बिखर जायगा।"

लेकिन मुझे साफ दिखता था कि चाहे कार्यकर्ता भटक जायँ और आन्दोलन बिखर जाय, परन्तु बिना तंत्रमुक्ति के शान्ति अवश्य ही दब जायगी। इसलिए मैंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक अपने विचार व्यक्त करना जारी रखा।

श्रम-आधारित जीवन पर जोर देने के कारण करण भाई आदि साथियों की नाराजी की बात तुम्हें मालूम ही है, लेकिन तन्त्रमुक्ति के प्रश्न पर जितनी ज्यादा नाराजी थी, उसके मुकाबले वह नगण्य थी। श्रम के विचार को तो लोग स्वीकार करते थे, परन्तु इसे कुछ अव्यावहारिक मानते। इसलिए मेरे आग्रह से वे कुछ परेशान होते थे। तन्त्रमुक्ति के विचार को लोग खतरनाक मानते थे। वे घबड़ाते थे कि इस विचार के कारण आन्दोलन तितर-बितर हो जायगा। इसलिए लोग मुझसे आकर लड़ते भी थे।

संघ की बैठक में चर्चा

आखिर वर्धा में सर्व-सेवा-संघ की बैठक में लोगों ने यह चर्चा छेड़ दी और कहा कि संघ को इसके बारे में नीति तय करनी चाहिए। संघ के सदस्यों में दो मत थे। भाई सिद्दराजजी आदि कहते थे कि किसी न किसीको तो आगे के कदम का जिक्र करना ही होगा। धीरेन्द्र भाई हमेशा क्रांति के अगले कदम की बात करते हैं। तो उनके लिए ऐसी बात करना स्वाभाविक है। लेकिन करण भाई आदि दूसरे मित्र इसका घोर विरोध करते थे। श्रद्धेय जाजूजी यह सारी चर्चा सुनते रहे। कहने लगे : "आखिर इससे आप लोगों का हर्ज क्या है? अगर कुछ कार्यकर्ता आपके तंत्र में न रहकर तथा आप पर खर्च का बोझ न डालकर स्वतंत्र रूप से आन्दोलन का काम करते हैं, तो उसमें नुकसान क्या है!" करण भाई ने कहा : "नुकसान यह है कि इससे कार्यकर्ताओं में अनुशासन भंग होता है।" निर्णय तो कुछ हुआ नहीं। लेकिन इस बहस में सुबह का करीब-करीब सारा समय चला गया। दोपहर के भोजन के बाद करण भाई ने मुझसे गरमागरम बहस की। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की, लेकिन समझा नहीं सका। अन्त में कहने लगे : "आप चाहे जो कहिये, लेकिन मेरी समझ में यह बात नहीं आती।"

बिहार के पाँच-सात कार्यकर्ता अत्यन्त निष्ठा के साथ तंत्रमुक्त तथा निधिमुक्त जीवन बिताते हुए काम करते रहे। नेताओं का उन्हें कोई

प्रोत्साहन नहीं था। वे अत्यन्त कष्ट स्वीकार करके भी जन-आधारित रहे। इतिहास उनका नाम नहीं जानेगा, लेकिन ऐसे नौजवान ही क्रांति की बुनियाद डालनेवाले होते हैं। इन निधिमुक्त कार्यकर्ताओं में पटना के दो भाई धैर्य के साथ डटे रहे। पटना में ८-१० नौजवान प्रान्तीय राजधानी नजदीक होने के कारण अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थिति में काम करते थे। यद्यपि वे भूदान-यज्ञ समिति भी चलाते थे, फिर भी वे मेरे विचार की ओर आकृष्ट थे। उन्होंने अपने जिले में मेरा कार्यक्रम रखा। उस बार मैं कार्यकर्ताओं की चर्चा में तथा आम जनता में क्रांति के स्वरूप तथा उसकी प्रक्रिया पर ही अधिक बोलता था। उस यात्रा में वहाँ के कार्यकर्ता तन्त्रमुक्ति के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करते थे। मैं अत्यन्त उत्साह के साथ उन्हें समझाता था। थोड़े ही दिनों में पटना के कार्यकर्ताओं ने केन्द्रित निधि से मुक्त होने का निर्णय किया। उन्होंने बिहार भूदान समिति के सामने अपना प्रस्ताव रखा। भूदान समिति के सदस्यों को यह बात जँची नहीं। उन्होंने उन्हें काफी समझाया। लेकिन जवानों की संकल्प-निष्ठा देखकर उनका उत्साह भंग करना ठीक नहीं समझा और उन्हें ऐसा करने की इजाजत दे दी।

कुछ कार्यकर्ताओं का साहस

दस-बारह जवानों की टोली पटना की बैठक से लौटकर सीधी मेरे पास आयी। मैंने उन्हें आगे के लिए सलाह दी और संचित निधि के बाहर जनता पर कैसे आधारित रहा जाय, इस पर चर्चा की। उन्होंने सम्पत्तिदान, अन्नदान आदि साधनों की योजना बनायी थी। मैंने उन्हें एक बात सुझायी और वह यह कि इस बार फसल कटने के समय तुम लोग दो-दो, तीन-तीन की टोली बनाकर श्रमदान माँगो। पदयात्रा करके 'कटनी पड़ाव' का संगठन करो। पदयात्रा के पड़ाव के लिए जैसी पूर्वतैयारी करते हो, वैसी ही इस पड़ाव की भी पूर्वतैयारी करो। तीन दिन का पड़ाव हो। पड़ाव के कुछ बड़े किसानों से तय कर लो कि

'कटनी पड़ाव' का सुझाव

वे तुम लोगों से अपनी फसल कटवाकर मजदूरी दें और तुम्हारे लिए श्रमदान भी दें। मैंने उनसे कहा कि इससे 'एक पंथ दो काज' होंगे। श्रम-आधारित जीवन का प्रचार होगा। आन्दोलन की वैचारिक भूमिका बढ़ेगी और साथ-साथ लोगों का तुम्हारे प्रति आकर्षण बढ़ेगा। जो कुछ अन्न मिलेगा, उसे बढ़ती ही मानो। यह योजना उन लोगों को अच्छी लगी और वे इस दिशा में सोचने लगे।

जब से मैं निधिमुक्ति और तंत्रमुक्ति की बात करने लगा था, तभी से कटनी की योजना को कार्यकर्ताओं के समक्ष एक मुख्य योजना के रूप में रखता था। कहीं-कहीं कार्यकर्ताओं ने इसकी सफल आजमाइश भी की। इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले में भाई पुजारी राय का प्रयोग तथा बनारस जिले के भाई सरजू शर्मा का प्रयोग उल्लेखनीय है। बिहार के मुँगेर तथा पटना जिले के कार्यकर्ताओं में काफी तैयारी थी। लेकिन लगातार बाढ और सूखा के कारण फसल की बरबादी के चलते वे इस दिशा में विशेष प्रयोग नहीं कर सके।

तंत्रमुक्ति का प्रस्ताव

ईश्वर अपनी सृष्टि को एक निश्चित दिशा तथा गति से ले जाता है। उसके लिए वह योजना भी बनाता है। हम लोगों के दिमाग में जो कुछ भी आता है, वह सब उसी योजना का अंग-मात्र है। नहीं तो एक ही समय मे बिना परस्पर चर्चा किये ही विभिन्न व्यक्तियों के मन में एक ही बात क्यों आती है। यद्यपि विनोबाजी ने लक्ष्मीबाबू को भूदान समिति से मुक्त करने से इनकार किया, फिर भी निस्सदेह वे उसी समय आन्दोलन के संदर्भ में तंत्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति की बात सोचते रहे होंगे।

सन् १९५६ में कांचीपुरम्-सम्मेलन के अवसर पर विनोबाजी ने साथियों से कहा कि "आप लोग आन्दोलन को जनता के हाथ में सौंप दें और इसे तंत्रमुक्त और निधिमुक्त कर दें।" उन्होंने कार्यकर्ताओं के समक्ष प्रस्ताव रखा : "अब आप लोग भूदान समितियों को तोड़ दें तथा गांधी-

निधि से मदद लेना बंद कर दें। वास्तविक क्रांति होगी या नहीं, इसकी चिन्ता किये बिना आप लोग क्रांति का एक नाटक ही कर डालिये।"

विनोबाजी के इस प्रस्ताव से मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई, लेकिन उस समय उस पर विशेष चर्चा नहीं हुई। उसी दिन दोपहर बाद कार्यकर्ताओं की बैठक में तन्त्रमुक्ति की चर्चा छिड़ी। मैं प्रस्ताव के पक्ष में तो था ही, लेकिन मैं स्वयं उसमें भाग न लेकर साथियों की प्रतिक्रिया का अध्ययन करता रहा। यद्यपि जयप्रकाश बाबू की शिकायत थी कि मैं तन्त्रमुक्ति के विचार का प्रचार करता हूँ, तथापि उस चर्चा में जयप्रकाश बाबू ही ऐसे व्यक्ति थे, जो उस प्रस्ताव के पक्ष में बोले। उन्होंने साथियों से अपील की कि वे इसका समर्थन करें। परन्तु दूसरे लोगों ने उसका समर्थन नहीं किया। फलतः विनोबाजी का प्रस्ताव वहीं रह गया।

विनोबाजी के प्रस्ताव से मुझे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सम्मेलन से लौटकर मैं अपने साथियों में और जोर के साथ इस विचार का प्रचार करने लगा। आखिर वह दिन आ ही गया, जब

पलनी का प्रस्ताव पलनी में सर्व सेवा संघ की प्रबन्ध समिति के सदस्यों तथा प्रांतों के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने तन्त्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति का प्रस्ताव स्वीकार किया। ईश्वर की लीला अनंत है। वह कब किससे किस रास्ते काम करा लेता है, समझ में नहीं आता।

बैठक समाप्त होने जा रही थी। आन्दोलन के स्वरूप तथा गतिविधि पर काफी चर्चाएँ हुईं। गांधी-निधि को भेजने के लिए बजट पर भी काफी विचार हुआ और आगे की योजनाओं पर विचार किया गया। आखिरी दिन ५ बजे बैठक समाप्त होने को थी। जयप्रकाश बाबू २ बजे अपना भाषण समाप्त करके चले गये। अन्त में विनोबाजी ने अत्यंत मार्मिक भाषण किया। उन्होंने कार्यकर्ताओं को संबोधन करके कहा कि आन्दोलन को व्यापक करने के लिए यह आवश्यक है कि वह तंत्रबद्ध तथा संचित निधि-आधारित न हो। उन्होंने फिर एक बार अपील की

कि लोग हिम्मत करके गांधी-निधि का आधार तथा भूदान समिति का संगठन छोड़ दें और जन-जन में प्रवेश करें।

विनोबाजी के भाषण ने उपस्थित मित्रों को सम्मोहित कर लिया। अध्यक्ष-पद पर बैठा हुआ मैं सबके चेहरे देखता रहा। मुझे लगा कि साथियों की अन्तर्निहित आत्मा विनोबाजी के इस प्रस्ताव की ताईद कर रही है। भाई सिद्धराजजी से कहा कि सबको एक दिन के लिए रोक लें। सब लोग इस प्रश्न पर अन्तिम निर्णय करके जायँ। आश्चर्य की बात यह है कि मैं अभी आधी ही बात कह पाया था कि देखा कि सिद्धराजजी खड़े होकर वही बात कह रहे हैं, जिसके लिए मैं उनसे कह रहा था। उन्होंने सब लोगों को विचारार्थ रोक लिया। रात को बैठक हुई और बिना विशेष चर्चा के प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सबके चेहरों पर अदम्य उत्साह था! प्रस्ताव अमल में किस तरह लाया जाय, इसी पर चर्चा चलने लगी। लोग इतने जोश में थे कि काफी बुजुर्गों के रहते हुए भी बैठक पर कोई नियंत्रण नहीं था। किसीको धैर्य नहीं था। सब अपनी-अपनी बात कहने को अधीर-से दीखते थे। परिभाषा भी भिन्न थी। रात काफी हो चुकी थी। अन्त में श्री शंकरराव देव ने कहा कि "भाई, इस बहस में क्यों पड़ते हो कि हाथी कैसा है! यह हाथीवाले से ही पूछो। अब बैठक समाप्त करो। हम लोगों ने प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया है। इसका व्यावहारिक स्वरूप कैसा हो, इस पर कल विनोबाजी के साथ ही चर्चा की जाय।"

दूसरे दिन खूब देर तक विनोबाजी के साथ चर्चा करके लोगों ने एक कामचलाऊ व्यावहारिक चित्र तैयार किया, जिसे लेकर लोग अपने-अपने प्रांत को रवाना हो गये। सबको पूरा समाधान था। हम लोग बिहार लौटे। बिहार के आन्दोलन के सदर्भ में आगे का कदम क्या हो, इस पर विचार करने के लिए पटना में तुरन्त बैठक बुलाने का निश्चय पल्नी में ही कर लिया था।

पटना में बैठक हुई। जयप्रकाश बाबू ने तंत्रमुक्ति के विचार को

विस्तृत रूप से समझाया। मैं बहुत नहीं बोला, क्योंकि मैं पहले ही बिहार के मित्रों के सामने काफी कह चुका था। मैंने केवल एक विचार उनके सामने रखा। मैंने कहा : "यद्यपि तन्त्र-मुक्ति क्रान्ति की प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, फिर भी तन्त्रमुक्ति-व्यवस्था के बारे में सोचना होगा। यह ठीक है कि अगर हम आन्दोलन ही तन्त्रमुक्त होकर नहीं चला सके, तो आन्दोलन की परिणति से शासन-मुक्त समाज कैसे चलेगा ! लेकिन शासन-मुक्त समाज में भी विशृंखलता नहीं रहेगी, सुव्यवस्था रहेगी। अतएव तन्त्रमुक्त-आन्दोलन के संदर्भ में मैंने कहा कि यद्यपि भूदान समितियों को भंग कर हम तन्त्रमुक्त होते हैं, तथापि हम सब का संघ कायम रहता है। तन्त्रमुक्ति का अर्थ राष्ट्रमुक्ति नहीं है। हम सब सेवक संघबद्ध हैं, यह बोध हरएक में होना चाहिए। इसके लिए समिति-पद्धति के बदले सम्मेलन-पद्धति अपनानी चाहिए। मेरा सुझाव यह था कि कोई भी कार्यकर्ता अपने क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को सम्मेलन में बुला ले। उसमें वे आगे के कार्यक्रम के बारे में चर्चा करें तथा आपसी विचार-विनिमय करें। उसी बैठक में दूसरी बैठक का स्थान और समय निर्धारित करें। आगन्तुक सेवक मिलकर अपने क्षेत्र के सभी सेवकों की सूची तैयार करें तथा अगली बैठक के लिए एक संयोजक निर्धारित कर लें। इसी प्रकार हर बैठक अगली बैठक के बारे में निर्णय करे। ऐसे सम्मेलन बड़े क्षेत्र के भी हो सकते हैं और प्रादेशिक तथा अखिल भारतीय भी हो सकते हैं।"

पटना में बैठक

कुछ मित्रों ने संस्थाओं की स्थिति के बारे में पूछा। कुछ मित्रों ने सर्व-सेवा-संघ की स्थिति के बारे में भी पूछा। मैंने उनसे कहा कि आन्दोलन के लिए संस्थाओं की आवश्यकता अवश्य होगी। लेकिन संस्था आन्दोलन नहीं चलायेगी। आन्दोलन तो व्यक्ति ही चलायेगा। जिस सेवक को जिस व्यक्ति से प्रेरणा मिलती है, उससे प्रेरणा लेगा, मार्गदर्शन भी लेगा। कोई सीधा विनोबा से लेगा, कोई जयप्रकाश बाबू से और कोई मुझसे या लक्ष्मीबाबू से भी लेगा। अधिकांश सेवकों को तो अपने

क्षेत्र के अधिक अनुभवी सेवकों से ही मार्गदर्शन मिलेगा। संस्था को मैंने रिक्शा या मोटर गाड़ी के साथ तुलना की। बाजार तो आदमी करता है, लेकिन आदमी को बाजार जाने के लिए इन सवारियों की आवश्यकता पड़ सकती है। मनुष्य आवश्यकता पड़ने पर इन सवारियों का उपयोग कर लेता है। उसी तरह सेवक जनता के भरोसे आन्दोलन को चलायेगा। संस्थाएँ अपनी जगह पर उसी तरह से खड़ी रहेंगी, जिस तरह रिक्शा अपने स्टैण्ड पर खड़ा रहता है। सेवक आवश्यकता पड़ने पर संस्थाओं का उसी तरह उपयोग करेगा, जिस तरह बाजार जानेवाला रिक्शे का इस्तेमाल करता है।

संस्थाएँ और कार्यकर्ता

जिस समय मैं यह बात कह रहा था, उस समय मेरे मन में एक दूसरा विचार आ गया। इधर कई साल से तरुण कार्यकर्ताओं की वृत्ति में एक विशिष्ट भावना का दर्शन हो रहा है। वे चाहते हैं कि संस्थाएँ उन्हें हर तरह से मदद करें, लेकिन संस्थाओं का कोई नियम उन पर लागू न हो। मैंने सोचा कि मेरे ऐसे भाषणों से देश की संस्थाएँ परेशान हो जायँगी। मेरी बातों को उद्धृत करके वे मनमाने ढंग से संस्थाओं का इस्तेमाल करना चाहेंगे। इसलिए मैंने यह उचित समझा कि सेवकों को संस्थाओं के इस्तेमाल की मर्यादा का भी बोध करा दूँ। मैंने उनसे कहा कि यह सही है कि बाजार करनेवाला रिक्शा का इस्तेमाल करेगा, लेकिन उसे रिक्शा के लिए निर्धारित किराया चुकाना पड़ेगा। बिना टिकट की यात्रा निषिद्ध है। व्यक्ति चाहे तो पैदल भी बाजार जा सकता है, लेकिन अगर रिक्शा पर बैठना है, तो उसे रिक्शावाले का पूरा किराया देना होगा। यह उदाहरण देकर मैंने उन्हें स्पष्ट रूप से समझा दिया कि वे चाहें, तो संस्था की मदद के बिना ही आन्दोलन को चलायें। लेकिन संस्था का इस्तेमाल करना चाहें, तो उन्हें संस्थाओं के नियमों की पाबन्दी करनी होगी।

पटना की बैठक में कार्यकर्ताओं को आपसी चर्चा करके आगे के

कार्यक्रम के स्वरूप के बारे में चिन्ता करने का अवसर मिला, लेकिन चूँकि वहाँ थोड़े ही प्रमुख कार्यकर्ता मौजूद थे, इसलिए यह सोचा गया कि प्रदेशभर के कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन खादीग्राम में बुलाया जाय और दो-तीन दिन बैठकर अधिक ब्योरे से इस प्रश्न पर विचार किया जाय।

खादीग्राम की बैठक

खादीग्राम की बैठक में भी जयप्रकाश बाबू तथा प्रदेश के अन्य नेताओं ने तन्त्रमुक्ति के हर पहलू पर चर्चा की। मुख्य चर्चा आर्थिक प्रश्न पर रही। सम्पत्तिदान पर ही सबने जोर दिया। कुछ लोगों ने अन्नदान तथ सूतांजलि की भी चर्चा की। मुँगेर के श्री रामनारायण बाबू ने कटनी की योजना रखी। उन्होंने कहा कि कार्यकर्ता फसल के समय कटनी करें और अपने साथ अनेक श्रमदानियों को शामिल करें।

मेरे बायीं तरफ बैठे लोग आपस में कानाफूसी करने लगे: "धीरेन्द्र भाई का भोंपा बोल रहा है।" मैंने जब उनकी तरफ ताका, तो वे हँस पड़े। कटनी और श्रमदान का विचार सुनकर अधिकांश कार्यकर्ता हँसे, लेकिन बहुत से साथियों ने इसे पसंद किया और इस पर गंभीरता से विचार करने लगे। शाम को विभिन्न जिलों के दस-बारह नौजवान कटनी के संगठन के बारे में विशेष रूप से चर्चा करने के लिए मेरे पास आये। वे पूछने लगे कि इसका आयोजन कैसे किया जाय? मैंने उनसे कहा कि आप जिस तरह से उपन पदयात्रा का आयोजन करते हैं, उसी तरह से इसका आयोजन करें। फसल कटने के एक महीना पहले से ही पूर्व-तैयारी कीजिये। इलाके के किसानों से मिलिये। उन्हें केन्द्रित निधिमुक्ति का विचार समझाइये। शासन-मुक्ति के विचार के संदर्भ में तन्त्रमुक्ति की बात समझाइये। उन्हें बताइये कि आप अपने श्रम तथा मित्रों के श्रमदान से ही आन्दोलन चलाना चाहते हैं। उनसे कहिये कि आप फसल पर उनके खेत काटने की मजदूरी करेंगे और वे जिस तरह मजदूरों को मजदूरी का हिस्सा देते हैं, उसी तरह आपको भी दें।

मैंने उन्हें बताया कि मुझे कोई सन्देह नहीं है कि उनमें से बहुत से किसान अपना खेत काटने देंगे। वे केवल खेत काटने देंगे, इतना ही नहीं; बल्कि वे आपके विचार तथा कार्य-पद्धति से प्रभावित होंगे और आन्दोलन के मित्र बन जायेंगे। जो किसान अपने खेत कटवाने को तैयार होंगे, उन्हें श्रमदान का भी निमंत्रण दीजिये। कहिये कि आप भी हमारे साथ खेत काटिये। जितना आप काटेंगे, उसमें से मालिक का हिस्सा आप ले जाइये और मजदूर का हिस्सा श्रमदान में हमें दे जाइये। इसके अलावा मेरा सुझाव यह भी था कि एक ओर तो वे किसानों से बात करें और दूसरी ओर वे नौजवानों से श्रमदान-पत्र भरवायें और कटनी-यात्रा के पड़ाव पर सबको अपने साथ कटनी करने का निमन्त्रण दें।

खादीग्राम के सम्मेलन में उपस्थित कार्यकर्ताओं को अच्छी प्रेरणा मिली। पलनी-प्रस्ताव ने उन्हें काफी घबराहट में डाल दिया था, लेकिन सम्मेलन से वापस जाते समय वे प्रसन्न दीखते थे। ○ ○ ○

क्रान्ति के मार्गदर्शन का प्रश्न : २५ :

श्रमभारती, खादीग्राम
११-९-'५८

तंत्रमुक्ति और निधिमुक्ति के प्रस्ताव से सारे देश में कुछ हलचल पैदा हुई। मुझे कई प्रदेशों में जाना पड़ा। मैं कार्यकर्ताओं तथा जनता में घूम-घूमकर इस विचार को समझाता रहा। फिर भी मन में रह-रहकर इस बात की परेशानी होती थी कि इस नयी प्रक्रिया का मार्गदर्शन कौन करेगा? हम लोगों ने बापू के नेतृत्व में जनता में घुसकर सेवा की थी। उस सेवा में जनता का आधार तो था, लेकिन उस समय की स्थिति आज से भिन्न थी। देश को आजादी चाहिए, यह विचार समझाने की जरूरत नहीं थी। वह तो मनुष्य की सनातन आकांक्षा है। यह बात दूसरी है कि मजबूरी के कारण कोई गुलाम बना रहे।

जनता और नया विचार

इस संदर्भ में जन-आधारित सेवा का अनुभव हम सबको अवश्य है, लेकिन इस भूदान-आन्दोलन का तो संदर्भ ही भिन्न है। यह एक नया विचार है। यह विचार सनातन प्रथा का विरोधी है। व्यक्तिगत सम्पत्तिवाद व्यक्ति के संरक्षण का उपादान है तथा राज्यवाद समाज का रखवाल है। यह विचार शायद सामाजिक इतिहास के आरम्भ से ही रहा है। हम कहते हैं कि सामूहिक श्रमवाद, सहयोगी उत्पादन तथा सम्पत्ति का सहभोग मानव-संरक्षण का सही और स्थायी उपाय है। हम कहते हैं कि राज्यवाद समाज का रखवाल नहीं है, बल्कि मनुष्य की मौलिक स्वतन्त्रता के अपहरण का एक व्यवस्थित उपादान है। शताब्दियों से एक निश्चित दिशा में विचार करते रहने के कारण यह नया विचार जल्दी समझ में

आता नहीं, उसे स्वीकार करना तो दूर की बात। स्पष्ट है कि जिस विचार को जनता स्वीकार नहीं करती, उस विचार को आगे बढ़ाने के लिए सहायता या सहानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता।

अतएव जिस समय हम तंत्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति का निर्णय करते हैं, उस समय हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि अगर संचित निधि का आधार नहीं लेते हैं और जिसे यह विचार मान्य है, उस छोटी-सी जमात का, आपसी संघटन तथा तन्त्र तोड़ देते हैं, तो हम किस आधार पर काम करेंगे ? जब सारी जनता नये विचार को स्वीकार नहीं करती, तो उसके आधार पर जिन्दा रहना कैसे सम्भव होगा ? उसकी क्या प्रक्रिया होगी ? इन सब बातों पर निरन्तर चिन्तन करने लगा। हमारे बड़े-बड़े साथी जब मुझसे यह कहते कि निधिमुक्ति तो समझ में आती है, वह आसान है; लेकिन तन्त्रमुक्ति क्या है, उसकी बात समझ में नहीं आती। मैं इससे उलटा सोचता था। मैं मानता था कि आज के वैज्ञानिक युग में जिस समय मनुष्य का सांस्कृतिक विकास ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ है, उस समय सम-विचारवाले मनुष्यों का बिना तन्त्र बनाये मिल-जुलकर काम करना क्या मुश्किल है ? लेकिन रूढ़िग्रस्त जनता के आधार पर क्रान्ति-आन्दोलन कैसे चले—यह मेरे लिए अधिक कठिन प्रश्न था। मैं मित्रों से यही चर्चा किया करता था।

अतएव मैं महसूस करता था कि बजाय इसके कि मैं देशभर में घूमकर तन्त्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति का विचार समझाऊँ, मेरे लिए यह अधिक

स्वयं प्रयोग के लिए तैयार

आवश्यक है कि मैं तंत्रमुक्त तथा निधि मुक्त होकर गाँव में चला जाऊँ और नये संदर्भ में आन्दोलन चलाने की प्रक्रिया की खोज करूँ। नहीं तो हम सब पुराने अनुभव के आधार पर आन्दोलन का नेतृत्व करने की कोशिश करेंगे। उसमें से कोई प्रेरणा नहीं निकलेगी। पुरानी साधना की पूँजी पर हमारा जो व्यक्तित्व बना है, उस कारण हम नौजवानों को आकर्षित भले ही कर लें, लेकिन उन्हें आन्दोलन से प्रेरित

नहीं कर सकेंगे। क्योंकि आन्दोलन की गतिविधि तथा प्रक्रिया की कला में हम सब 'Out of date' (पुराने) हो गये हैं।

ऐसा सोचकर मैंने मित्रों से अनुमति माँगी कि वे मुझे जनता के बीच जाकर बैठने और नयी क्रान्ति का मार्ग खोजने का अवसर प्रदान करें।

साथियों की अस्वीकृति

विनोबा तो हमारे नेता हैं ही, लेकिन उनके बाद हम लोग जयप्रकाश बाबू को अपना नेता माने हुए हैं। इसलिए मैंने सबसे पहले उन्हींके सामने अपना विचार प्रकट किया। पर उन्होंने मेरे इस विचार को पसन्द नहीं किया। वे बोले: "आपका इस तरह से बैठ जाना आन्दोलन के लिए लाभदायक नहीं होगा। बल्कि आपके लिए यह जरूरी होगा कि देश के विभिन्न हिस्सों में जाकर कार्यकर्ताओं को प्रेरणा देते रहें।" दूसरे मित्रों ने भी मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। तुम्हें मालूम है कि मैं हमेशा अपने स्वतंत्र ढंग से सोचता रहता हूँ, परिस्थिति की ओर देखने का मेरा ढंग कुछ अलग ही है और उसी ढंग से मैं समाधान के बारे में सोचता हूँ, फिर भी मैं अत्यन्त अनुशासन-प्रिय व्यक्ति हूँ। पिछले ३७ वर्षों से हमेशा जहाँ कहीं मैंने काम किया है, वहाँ कुछ साथियों के गोल में ही काम किया है। उनके सामूहिक निर्णय को मैं हमेशा मानता रहा हूँ। इसलिए यद्यपि निधिमुक्ति की खोज के लिए मैं अत्यन्त व्याकुल था, फिर भी जब मैंने देखा कि साथियों की तैयारी केन्द्रीय व्यवस्था से मुझे मुक्त करने की नहीं है, तो मैंने अपनी बात पर विशेष जोर नहीं दिया और पूर्ववत् काम करता रहा। फिर भी निधिमुक्ति के लिए मुझे जो कुछ सूझता था, उसे मैं उन तरुण साथियों के सामने व्यक्त करता था, जो क्षेत्र में काम करते थे, ताकि वे प्रयोग कर मुझे अपने अनुभव बतायें।

एक अन्य समस्या भी मुझे परेशान करती थी। लेकिन उस दिशा में कुछ सूझता ही नहीं था। वह यह कि देश के तमाम कार्यकर्ता यदि केन्द्रित निधि से मुक्त होते हैं और उन्हें जनता के आधार पर छोड़ दिया जाता है और सर्व-सेवा-संघ अपना काम संचित निधि से चलाता

है, तो इसमें एक विरोधाभास है, लेकिन मैं मानता था कि सर्व-सेवा-संघ जैसी केन्द्रीय संस्था आन्दोलन को चाहिए ही। केन्द्रित

विरोधाभास की समस्या

संस्था किसी विशेष क्षेत्र की नहीं होती। क्षेत्रीय कार्यकर्ता या संस्था जिस क्षेत्र की सेवा करते हैं अगर उनकी सेवा क्षेत्र के लोगों के लिए आकर्षक तथा समाधानकारक है, तो वे उनका पोषण आसानी से दे देते हैं। लेकिन केन्द्रीय संस्था का काम किसी क्षेत्र-विशेष की जनता देखती नहीं है। हमारा विचार इतना व्यापक नहीं हुआ है, जिससे वे अदृश्य केन्द्र को भी पोषण दे सकें।

तुम कहोगी कि "हमारा विचार व्यापक नहीं हो सका है", यह एक निराशावादी दृष्टिकोण है। लेकिन अगर गहराई से विश्लेषण करोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि मेरा दृष्टिकोण वस्तुस्थिति

सर्व-सेवा-संघ के प्रति आदर के कारण

का वर्णनमात्र है। यह सही है कि देश के पर्याप्त व्यापक क्षेत्र की जनता का आदर हमें प्राप्त है। विभिन्न पक्षों तथा श्रेणियों के लोग यह भी मानते हैं कि सर्व-सेवा संघ जैसी संस्था का होना आवश्यक है। लेकिन यह सब विचार की मान्यता के ही कारण है, ऐसी बात नहीं है। इसके अनेक कारण हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आन्दोलन गांधीजी के साथ ओतप्रोत हो गया था। देश की जनता इस बात का विश्लेषण करने में असमर्थ थी कि कांग्रेस का जन्म गांधीजी के सार्वजनिक जीवन के

असली 'गांधी-वाले'

आरम्भ के बहुत पहले ही हो चुका था। वह इतना नहीं समझ सकती थी कि गांधीजी कांग्रेस संस्था में आकर शामिल हुए थे और कांग्रेस ने गांधीजी द्वारा प्रदर्शित असहयोग तथा सत्याग्रह के मार्ग को पुराने मार्ग से उत्तम समझकर उनके नेतृत्व को स्वीकार किया था। यह स्वीकृति गांधीजी के पूरे विचार की नहीं थी, बल्कि आजादी हासिल करनेभर के लिए थी।

इतनी बात जनता समझ नहीं सकी थी। वह गांधीजी के त्याग, तपस्या तथा सादगी से प्रभावित थी। वह मानती थी कि गांधीजी ने जनता में त्याग तथा सादगी का जो वातावरण पैदा किया है, वह भारतीय संस्कृति के विकास का एक बहुत बड़ा कदम है। लेकिन जब उसने देखा कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद देश का नेतृत्व गांधीजी के बताये मार्ग को छोड़ता जा रहा है, तो उसे बड़ी निराशा हुई। विनोबा ने भूदान-आन्दोलन के जरिये रचनात्मक कार्यकर्ताओं को जब विशिष्ट दिशा में प्रेरणा दी, तो लोगों के मन में ऐसी आशा बँधी कि भूदान-आन्दोलन देश के सामने गांधीजी द्वारा प्रवर्तित जीवन-दर्शन का कुछ मार्ग प्रशस्त करेगा। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का पहला कारण यही है कि राष्ट्रीय नेतृत्व की ओर से निराश जनता समझने लगी कि हम लोग 'असली गांधी-वाले' हैं।

पक्षों का त्याग

हमारे प्रति जनता के आकर्षण का दूसरा कारण देश की दलगत राजनीति है। स्वराज्य-प्राप्ति से लोगों को बड़ा आनन्द हुआ। लोगों ने समझा कि अब जनता का राज्य हुआ। अब जनता जिसे चुनेगी, वे जनता के सेवक होंगे। लेकिन दो आम चुनावों के अनुभव से साधारण जनता को दलगत राजनीति से अनास्था पैदा हो गयी है। ऐसी मनःस्थिति में जब जनता देखती है कि देश में ऐसी एक जमात खड़ी है, जो सत्ता-प्राप्ति की होड़ से अलग रहकर सभी पक्ष के लोगों के प्रति समान प्रेम-भाव रखती हुई लोक-सेवा कर रही है, तो उसके मन में स्वभावतः हमारे प्रति आदर पैदा होता है। इस आदर का कारण हमारे विचार की स्वीकृति उतनी नहीं है, जितनी हमारी वृत्ति और कृति का प्रभाव है।

जनता के आकर्षण का एक कारण और है। राष्ट्रीय सरकार अपनी योजना द्वारा देहातों में ऊँचे जीवन-स्तर के लिए सरकार के आधार पर विकास-कार्य करना चाहती थी। वह काम जन-विकास का काम न होकर सरकार की ओर से जनता को कुछ राहत पहुँचाने का कार्यमात्र बनकर

रह गया। सरकारी क्षेत्र की ओर से बराबर यह शिकायत होती रही है कि विकास-कार्य में जनता का सहकार नहीं है। सरकारी नेताओं द्वारा निरन्तर इस बात की अपील की जाती है कि जनता इस कार्य को अपना कार्य समझे तथा अपनी ओर से ही इसे चलाये। सरकार केवल उसकी मदद के लिए है। विकास का कार्य सरकारी मदद से जनता स्वतः चलाये, इस संदर्भ को दृष्टि में रखकर विकास के कानून भी बनाये जाते है। लेकिन ये तमाम अपीलें और जनाभिक्रम के उद्देश्य के तमाम नियम व्यर्थ हो जाते हैं। यह सब अपना काम है और अपने को ही करना है, यह बात जनता के हृदय में किसी तरह घुसती ही नहीं। बाँध बनाने का, कुआँ खोदने का और इसी तरह विकास कार्यों का नियम यह है कि आधा खर्च जनता उठाये और आधा सरकार दे। लेकिन हम देखते हैं कि वास्तविक क्षेत्र में सरकारी आधी रकम से ही काम पूरा हो जाता है। बल्कि अधिकांश क्षेत्रों में ठेकेदार का मुनाफा तथा कर्मचारियों की सलामी भी सरकारी आधे में से ही हो जाती है। यह सही है कि इस तमाम उदासीनता तथा अप्रामाणिकता के बावजूद देश में कुछ काम हो जाता है। लेकिन उससे सरकार के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।

ग्रामदान से प्रेरणा

सरकारी योजनाओं की इस प्रकार की असफलता को पूँजी बनाकर विरोधी दलों के लोग जनता के दिमाग में भले ही कुछ हलचल पैदा कर लें और इस वास्तविकता का राजनैतिक अवसर के रूप में इस्तेमाल कर लें; लेकिन उनके विचारशील नेता भी इस परिस्थिति से चिंतित रहते हैं। वे सब देशभक्त ही हैं और जनता की सम्पत्ति का इस प्रकार का अपव्यय होते देखकर वे व्यथित होते हैं। वे सरकार की शिकायत करते हैं, लेकिन दिल में वे भी यह समझते हैं कि आखिर सरकार भी क्या करे। इस उदासीन जनता को प्रेरणा देने के लिए उपाय ही क्या है। वे सरकार की शिकायत भले ही कर लें, लेकिन उन्हें भी जनता को विधायक प्रेरणा देने का कोई मार्ग नहीं दीखता।

ऐसी परिस्थिति में जब भूदान-आन्दोलन ग्रामदान के स्तर तक पहुँच गया और यह विचार विकसित होने लगा, तो सरकार को राष्ट्र-विकास का एक मार्ग दिखाई दिया। उसे लगा कि जनता में सहकार-वृत्ति तथा विकास-प्रेरणा जगाने का ग्रामदान अच्छा रास्ता है। यही कारण है कि आज सरकार तथा विभिन्न पक्षों के नेता ग्रामदान-आन्दोलन की ताईद करते हैं। येलवाल में देश के करीब-करीब सभी पक्षों के उच्च कोटि के नेताओं ने एकत्रित होकर जब ग्रामदान की सफलता के लिए देशवासियों से सहकार की अपील की, तो जनता ने समझा कि यह बात कुछ महत्त्व की होगी, नहीं तो राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा दूसरे विरोधी दल के नेता एक स्थान पर बैठकर एक स्वर से इसकी सफलता की कामना क्यों करते ? तो राष्ट्र के बड़े-बड़े नेताओं का प्रमाण-पत्र भी हमारे काम के प्रति आकर्षण का एक बहुत बड़ा कारण है।

मैं रुक तो गया, लेकिन मेरे मन में यह परेशानी निरंतर बनी रही कि परम्परावादी मनुष्य के आधार पर क्रांति-पुरुष कैसे आगे बढ़े ?

मार्ग-दर्शन का प्रश्न

इसकी प्रक्रिया की खोज की यात्रा वास्कोडिगामा की भारत-यात्रा जैसी ही अनिश्चित है। यदि हम लोग इसकी तलाश में न निकलें, तो कौन निकलेगा ? मार्ग का नेतृत्व हम करें और उसका अन्वेषण अनुभवशून्य लड़के करें, यह कैसे सम्भव है ?

इसी बीच सन् '५७ की क्रांति-यात्रा की चर्चा देशभर में चल पड़ी। दिसम्बर '५६ में कार्यकर्ताओं में विशेष रूप से हलचल रही। इस माह के अंत में खादीग्राम में विभिन्न प्रान्तों के मुख्य कार्यकर्ताओं का शिविर रखा गया। शिविर में मार्गदर्शनार्थ जयप्रकाश

खादीग्राम का शिविर

बाबू, दादा धर्माधिकारी, नवकृष्ण चौधरी आदि बहुत से नेता पधारे थे। शिविर में कुछ विद्यार्थी भी थे। इसी शिविर में जयप्रकाश बाबू ने अपील की कि देश में शिक्षा-संस्थाओं को बंद करके विद्यार्थी क्रांति-विचार फैलाने के लिए

देशभर में पदयात्रा करें। शिविर में आये हुए भाई नारायण देसाई तथा अन्य तरुण कार्यकर्ताओं ने श्रमभारती-परिवार के लोगों से चर्चा आरंभ की कि उनमें से कुछ लोग यात्रा के लिए तैयार हैं या नहीं। आखिरी दिन नारायण भाई मुझसे झगड़ने आये। कहने लगे कि "क्रांति के लिए आप लोग क्या करेंगे ?" मैंने उनसे कहा : "क्या तुम्हीं लोग क्रांति जानते हो, मैं नहीं जानता ? क्या केवल चक्कर काटने से ही क्रांति होती है ? क्या झंडा फहरानेवाला ही क्रांतिकारी है, सीनेवाला नहीं ?"

नारायण भाई को मैंने जवाब तो दे दिया, लेकिन महीनों से मेरा दिमाग निधिमुक्ति की प्रक्रिया की खोज में लगा था। थोड़े ही दिन पहले खादीग्राम की आम सभा में मैंने साथियों से कहा था कि वे केन्द्रीय कोष का सहारा छोड़कर जन-आधारित होकर देहातों में फैल जायँ। मैंने उनसे यह भी कहा था कि जितने लोग तैयार हों, वे २ अक्तूबर '५७ को यहाँ से प्रस्थान करें। इस प्रकार का विचार चल ही रहा था कि जयप्रकाश बाबू की अपील ने विचार को उत्तेजन दिया।

श्रमभारती का निधिमुक्ति का निश्चय

दूसरे दिन प्रातः प्रार्थना में मैंने कह दिया कि सन् '५७ भर श्रमभारती के भाई-बहन और बच्चे संचित निधि का आधार छोड़कर जिलेभर में पदयात्रा करें। खुशी की बात है कि साथियों में कोई ऐसा नहीं निकला, जो कहता कि उसकी तैयारी नहीं है। आखिर में दो-तीन साथियों को आदेश देकर रोक दिया, ताकि खादीग्राम एकदम सूना न पड़ जाय। बाद को सर्व-सेवा-संघ का दफ्तर गया से खादीग्राम ले आया और मैं खुद बैठकर यहीं से काम चलाता रहा।

सन् '५७ में जब सब साथी यात्रा करने लगे, तो दिल को कुछ समाधान हुआ। मैं कम-से-कम इतना तो कह ही सकता था कि सर्व-सेवा-संघ चुप नहीं बैठा है।

० ० ०

रामधुन से हिंसा का प्रतिकार : २६ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-९-'५८

पिछले कई पत्रों में भूदान-आन्दोलन की गतिविधि की ही मैं चर्चा करता रहा हूँ। वस्तुतः क्रान्ति के आरोहण में आन्दोलन ही मुख्य चर्चा का विषय है। लेकिन तुम लोगों को शायद अधिक दिलचस्पी खादीग्राम में चलनेवाले मेरे प्रयोग में हो, इसलिए आज उसीकी चर्चा करूँगा।

खादीग्राम के लोक सम्पर्क के काम का जिक्र मैं कर चुका हूँ। उस सिलसिले में बेदखली-निवारण की चेष्टा का विवरण मैंने लिखा था। पॅंगही तथा लमेद की बेदखली को लेकर हम लोगों ने जो आन्दोलन खड़ा किया था, उससे खास तौर से मल्लेपुर के बाबू लोग हमसे रुष्ट हो गये थे। इस इलाके में ये लोग सबसे ज्यादा 'गरम ठाकुर' माने जाते हैं। हम लोगों का जनता में घुलना-मिलना और उन्हींकी हित-रक्षा के लिए मार्गदर्शन करना उन्हें सम्भवतः अच्छा नहीं लगता था। अब तक वे गरीब जनता के प्रति जैसा व्यवहार करते थे, उसमें भी बाधा पड़ती थी। अतः वे यदि हम लोगों से रुष्ट हो गये, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस कारण वे बीच-बीच में खादीग्राम के भाइयों को सताया करते थे। उसके एकाध उदाहरण देखो।

यात्रा-टोली का अपमान

चरखा-जयन्ती पक्ष मनाने के लिए खादीग्राम की विभिन्न टोलियाँ २ अक्तूबर से अलग-अलग दिशाओं में पदयात्रा के लिए निकलीं। उनमें एक टोली मल्लेपुर के इलाके के लिए भी थी। जब यह टोली मल्लेपुर पहुँची, तो उसका कोई स्वागत नहीं हुआ। अन्ततः किसी स्कूल के बरामदे में उसे रात के लिए शरण लेनी पड़ी। टोली में बहनें और

बच्चे भी थे। उन्होंने इधर-उधर से हाँड़ी, चावल आदि बटोरकर रात के लिए खाना बनाया। बच्चों के लिए कुछ दूध भी मिल गया था। मल्लेपुर के निवासियों को पदयात्रियों के स्वागत से इनकार करने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ, वे रात को वहाँ आये और उन्होंने चावल, दूध आदि की हाँड़ी तोड़कर टोली को वहाँ से भगा दिया। विरोध का यह एक अनोखा नमूना था।

खादीग्राम के लोगों को प्रायः मल्लेपुर के रास्ते बाहर जाना पड़ता था। उस समय वहाँ के नौजवान प्रायः हमारे कार्यकर्ताओं को मारते-पीटते और धमकाते थे। एक दिन उनका यह अन्याय पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यहाँ के एक कार्यकर्ता सूत खरीदने के लिए अगले स्टेशन गिद्धौर गये हुए थे। वे वहाँ से लौट रहे थे कि हठात् मल्लेपुर का एक नौजवान उन्हें पकड़कर पीटने लगा। उसने उनके हाथ की फाइल लेकर फाड़ दी और जेब में पड़ा ३०) निकाल लिया। इन भाई ने जब खादीग्राम में आकर घटना का बयान किया, तो हमारे सामने एक समस्या खड़ी हो गयी। हम सोचने लगे कि जब ऐसी बात होने लगी, तो सुरक्षा का क्या ठिकाना है। अधिकारी लोग विरोध में थे, इसलिए उधर से भी राहत पाने की कोई आशा नहीं थी। इस स्थिति के मुकाबले का अहिंसक उपाय क्या हो सकता है, यही हमारे सामने प्रमुख समस्या थी।

रुपया छीनने की घटना

वस्तुतः बेदखली-आन्दोलन के सिलसिले में ही यह समस्या खड़ी हो गयी थी। गरीब जनता आँख के सामने पिसी जा रही थी। उसकी रक्षा कौन करे! जब रक्षक ही भक्षक हो जाय, तो उपाय क्या है? ऐसे प्रश्न रह-रहकर मन में उठते रहते थे। बटाईदार बेदखल किये जाते हैं। बेदखली के खिलाफ तमाम कानून बने हुए हैं। देश के प्रधानमंत्री, जन-नायक विनोबा आदि तमाम नेता बेदखली के खिलाफ बोलते हैं। उनके सुर में सुर मिलाकर हम छोटे जनसेवक गरीबों को सलाह देते हैं कि वे अन्याय का मुकाबला करें, उससे दबें न। नेताओं के कहने के अनुसार

और कानून के अनुसार हम उनसे कहते हैं कि बेदखली का हक नहीं है। इसलिए भले ही जान चली जाय, जमीन न छोड़ें। हमारे कहने के मुताबिक, जब गरीब लोग जमीन पर डटते हैं, तो वे बेरहमी से पीटे जाते हैं। कई मौकों पर मार खाने के बावजूद वे डटे रहते हैं। परिणाम क्या होता है? पुलिस आती है और उलटे गरीबों के खिलाफ फौजदारी का मामला दायर किया जाता है। जमींदार, पुलिस और मजिस्ट्रेट एक ही वर्ग के होने के कारण, वे कैसे और क्यों एक तरफ हो जाते हैं, इसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ। फिर जमीन सरकार द्वारा जब्त की जाती है, उस पर धारा १४४ और १४५ लगाकर जमीन पर किसका कब्जा है, उसकी कानूनी जाँच करायी जाती है। जाँच के बाद फैसला सुनाया जाता है कि उस जमीन पर गरीब का कब्जा कभी रहा ही नहीं। ऐसी हालत में 'चाहे जान चली जाय, पर जमीन पर डटे रहो'—इस सलाह की कीमत क्या है? इतनी ही न कि इस प्रकार आन्दोलनों द्वारा आम जनता में अन्याय के प्रतिकार की भावना पैदा होती है। इसका असर अन्याय के प्रतिकार के संदर्भ में कब दीख पड़ेगा, कौन जाने! लेकिन तब तक गरीब जनता तो पिसती ही जायगी। मरने-मिटने के लिए तैयार होने पर भी उनका हक खुलेआम छिनता ही जायगा। 'जमीन पर डटे रहो,' यह सलाह बड़े-बड़े नेता भी देते हैं और हम लोग भी देते हैं। लेकिन इसका मतलब तब होता, जब १४४ और १४५ धारा लगने पर भी हम कह सकते कि 'चाहे जो फैसला हो, आपको सफाई देने की कोई जरूरत नहीं है। आप अपने हक पर डटे रहिये।' लेकिन आज ऐसा होना सम्भव नहीं दीखता। तुम्हें याद होगा कि जब हम लोगों ने पेंगही के मामले में सफाई न देकर जेल जाने का फैसला किया था, तो नेताओं ने इसकी इजाजत नहीं दी थी। उन्हें भय था कि ऐसा करने से अपनी सरकार को कठिन परिस्थिति में डालना होगा। शायद यह ठीक भी था। हमने सरकार का विरोध करने का फैसला नहीं किया है। *शायद उसके लिए जनता की तैयारी भी नहीं है।*

प्रक्रिया जायज मानी जाय क्या ? गहराई से विचार करने पर यह सही अहिंसक प्रक्रिया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस भाई ने जो रुपया वापस किया, उसके पीछे हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं थी। सामाजिक दबाव ही मुख्य रूप से था। एस० डी० ओ० का सांगोपांग के साथ आ जाना ही एक बहुत बड़ा दबाव था। फिर गाँव के इतने लोगों के इकट्ठे हो जाने का भी दबाव था। लेकिन हमारे सामने प्रश्न यह था कि आज की परिस्थिति में हम करें क्या ? कोई भी उपाय करते हैं, तो सरकारी विधिचक्र ऐसा है कि अत्याचारी छूट जाता है और मामला अत्याचार से पीड़ित व्यक्ति और सरकार के बीच का रह जाता है। ऐसी हालत में न्याय पर डटने का मतलब होता है सरकार से मोर्चा लेना, यानी सरकार से सत्याग्रह करना पड़ता है। रामधुन की प्रक्रिया में भी अन्ततोगत्वा वही स्थिति पैदा हो सकती है। एस० डी०ओ० साहब कुछ स्वतन्त्र वृत्ति के मालूम पड़ते थे, नहीं तो वे कह सकते थे कि इस तरह से भीड़ करने से अमन-चैन को खतरा पैदा होता है। यह कहकर वे दफा १४४ लगा सकते थे। ऐसी हालत में या तो हम लोग लौट आते या कानून तोड़कर सरकार से मोर्चा लेते।

रह-रहकर मेरे मन में निरन्तर यही खयाल आता था कि आज की परिस्थिति में सरकार से भिड़ने के सिवा कोई चारा नहीं है। लेकिन उससे पहले दो बातों पर विचार करना जरूरी था।

नेहरूजी से मुलाकात

एक तो यह कि क्या जनता में आज इतना संगठन है, जिससे वह वैज्ञानिक युग के राज्य से मोर्चा ले सकती है ? मैंने देखा था कि स्वयं गांधीजी भी देखते थे कि जनता में भक्ति की कमी है, तो वे विदेशी शैतानी राज्य से भी मोर्चा लेना बन्द कर देते थे। दूसरी बात यह है कि क्या आज की सरकार मूलतः इतनी दूषित हो गयी है कि जिसके खिलाफ सत्याग्रह की आवश्यकता है। ऐसा मुझे जँचता नहीं था। इन दोनों कारणों से जनता को अन्त तक डटने की सलाह दे नहीं पाता था। कभी-कभी सोचता था कि

सरकारी नेताओं से कुछ चर्चा करूँ, पर यह सोचकर रुक जाता था कि आज की दलगत राजनीति के जमाने में ऐसा करना व्यर्थ प्रयास होगा। इस प्रकार गरीबों के प्रति अत्याचार के प्रश्न पर, चाहे जिस प्रकार से सोचता था, किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाता था। आखिर एक दिन मन में आया कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिलूँ और पूछूँ कि इसका उपाय क्या है।

आखिर जवाहरलालजी से मिलने के लिए उनसे समय माँगा। उन्होंने तुरन्त समय दिया और मैं उनसे मिलने चला गया। जब उनके सामने पहुँचा, तो मेरी मनःस्थिति अजीब थी। तुम्हें मालूम ही है कि पिछले ३७ साल से उन्हें हम लोग अपना हृदय-सम्राट् बनाये हुए हैं। दादा और जवाहरलालजी ने मेरे जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है, फिर भी ९० प्रतिशत प्रश्नों पर मेरा उनका मतभेद रहा है। लेकिन उनके प्रति इतनी श्रद्धा और भक्ति रही है कि शायद ही कभी ऐसा मौका आया हो, जब मैंने उनसे बहस की हो। अतएव जब उन्होंने मुझसे कहा: "कहो धीरेन्द्र, अचानक कैसे आये?" तो मैं विषय पर चर्चा नहीं कर सका।

जवाहरलालजी से मेरी आखिरी मुलाकात १९४१ में हुई थी, जब वे व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रचार के लिए फैजाबाद आये थे। १५ वर्ष के बाद उनसे मुलाकात हुई। मेरा दिल भर आया। सरकार के साथ सत्याग्रह का नाता रखना है या नहीं, उनसे यह प्रश्न करना मुश्किल था। मेरा मानस उस समय उसके अनुकूल नहीं था। इसलिए मैं काम की बात न कहकर व्यक्तिगत बातचीत करके लौट आया। मैंने कहा: "पन्द्रह साल से मुलाकात नहीं हुई थी, इसलिए प्रणाम करने चला आया।" इधर आते हो, पर मिलते नहीं। दिल्ली आया करो, तो कभी-कभी मिल लिया करो।" उन्होंने उसी पुराने रिश्ते के अनुसार प्रेम से बातचीत की।

बाहर आकर मैं सोचने लगा कि यह क्या हुआ? बात करने गया था बेदखली के प्रश्न पर, लेकिन बिना चर्चा किये हुए ही लौट आना

ठीक हुआ क्या ! फिर मन में खयाल आया कि शायद ईश्वर ने ऐसा करने से मुझे रोक दिया। सम्भवतः उससे कोई नतीजा न निकलता और गलतफहमी बढ़ती या शायद इस चर्चा के लिए मेरी पात्रता काफी नहीं है और समय भी पका नहीं है।

कुल मिलाकर परिस्थिति के सन्दर्भ में रामधुन का तरीका मुझे अच्छा लगा। यह सही है कि इसमें दबाव है, लेकिन साकार विश्व में कोई वस्तु शुद्ध होती है क्या ! इसीलिए तो हमारे देश के ऋषियों ने सारे दृश्य-जगत् को माया कहा है। विनोबाजी भी कहते हैं कि इस संसार में कोई भी चीज न शुद्ध भ्रम है और न शुद्ध सत्य। कुछ सत्य और कुछ भ्रम मिलाकर संसार बना है। तो अगर रामधुन के तरीके में दबाव का कुछ अंश है, तो शान्ति का अंश कुछ कम नहीं है। कम-से कम आज गाँवों में ऐसे मामलों में बात-बात पर जो लाठी चल जाती है या मुकदमेबाजी शुरू हो जाती है, उसके बदले में अगर उस प्रकार की प्रक्रियाएँ चलें, तो शायद अन्याय के अहिंसात्मक प्रतिकार का प्रयोग काफी आगे बढ़े। ऐसा समझकर मैंने साथियों से कहा कि 'तुमने अच्छा ही किया'।

मैं लिखने बैठा था खादीग्राम के प्रयोग के बारे में, लेकिन प्रसंगवश फिर से आन्दोलन की ही चर्चा चल पड़ी। ठीक ही है, आज हम सबके दिमाग में युग क्रान्ति की बात इतनी ओतप्रोत हो गयी है कि घूम-फिर-कर यही बात सामने आ जाती है। कल फिर यहाँ के प्रयोग के बारे में लिखूँगा। ● ● ●

समवेतन और साम्ययोग : २७ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२१-९-'५८

आज फिर से खादीग्राम के साम्ययोग के प्रयोग के बारे में लिखूँगा। खादीग्राम में मेरे कुछ साथियों ने जब सपरिवार उस प्रयोग में शामिल होने की बात तय की, तो मुझे बडी खुशी हुई। खादीग्राम में पहाड़, जंगल होने के कारण प्रयोग की कमी नहीं थी।

स्त्री-पुरुष दोनों ही उत्पादक श्रम करें, इसका नियम पहले से ही रखा गया था। वैसे तो भारत की देहाती स्त्रियाँ भले ही मध्यम-वर्ग की ही क्यों न हों, उत्पादन श्रम करती ही हैं। कूटना-पीसना, भोजन तैयार करना तो करीब-करीब सभी स्त्रियाँ करती हैं। लेकिन उनके लिए भी खाद ढोना, मिट्टी काटकर टोकरी में उठाना आदि छोटा काम माना जाता है। पाखाने की सफाई तो स्त्री-पुरुष कोई करते ही नहीं। मैंने विशेष रूप से इन्हीं सब कामो पर जोर दिया, जिसे लोग छोटा मानते हैं। वर्ग-परिवर्तन की दिशा मे यह पहला कदम था।

भगवती भाई से प्रारम्भ कर जब सभी लोगो ने मजदूरों की तरह ही दैनिक मजदूरी पर कार्य करना स्वीकार किया, तो परिवर्तन की दिशा में प्रगति ही हुई। मैं प्रायः यही कहता हूँ कि जीवन का स्तर ऊँचा है या नीचा, इसका उतना महत्व नहीं है, जितना जीवन के तर्ज का है। पाँच रुपया रोज पर काम करनेवाला व्यक्ति, मजदूर कहलायेगा, लेकिन ४०) मासिक वेतन पर काम करनेवाला 'बाबू' कहलाता है। तो यहाँ के स्त्री-पुरुष दूसरे मजदूरों की तरह हाजिरी बनाकर मजदूरी लेने जाते थे। यह देखकर मुझे खुशी होती थी। पूर्वसंस्कार और पूर्वग्रह चाहे जो हो,

मजदूरों के साथ एकरूपता

लेकिन केवल औपचारिक दृष्टि से ही जब कार्यकर्ता तथा उनकी स्त्रियाँ और गाँव के मजदूर स्त्री-पुरुषों के साथ मिलकर एक ही भूमिका में मजदूरी लेते थे, तो वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति के संदर्भ में यह छोटी बात नहीं थी। जिस समय कार्यकर्ता बहनें हिसाबनवीस की खिड़की से मजदूरी लेती थीं, तो मैं उनके चेहरों को गौर से देखता था। शुरू-शुरू में वे बहुत शर्माती थीं। उन्हें यह अच्छा नहीं लगता था। इसका परिणाम यह हुआ कि खादीग्राम के स्थायी मजदूरों तथा कार्यकर्ताओं में परस्पर व्यवहार का विशेष भेद नहीं रहा। अभी हाल में ही एक भाई यहाँ काम करने आये थे। दो-तीन दिन तक खादीग्राम के वातावरण को देखकर वे अपने एक साथी से कहने लगे : "भाई, यहाँ तो अद्भुत साम्राज्य है, पता ही नहीं लगता कि कौन क्या है!"

कार्यकर्ताओं के शिक्षण की दृष्टि से हम लोगों ने यह माना कि वर्ग-हीन समाज में हरएक मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास होने की आवश्यकता है। इसलिए यह तय किया कि प्रत्येक कार्यकर्ता उत्पादन, व्यवस्था तथा शिक्षण, तीनों काम करे। उसी सिद्धान्त के अनुसार कार्यकर्ताओं की पत्नियों को भी तैयार करने की कोशिश की गयी।

बौद्धिक और शारीरिक श्रम

मैंने पिछले एक पत्र में लिखा था कि खादीग्राम में बौद्धिक श्रम तथा शारीरिक श्रम का वेतन समान माना गया था। साम्ययोग की साधना में दूसरा हो ही क्या सकता है! वस्तुतः इस युग में इससे कोई इनकार नहीं कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य को उत्पादक श्रम करना चाहिए, ऐसा आग्रह हम जब करते हैं, तो समाज के बुद्धिजीवी लोगों को बहुत अटपटा लगता है। वे कहते हैं कि प्रकृति ने हर चीज को एकरूप नहीं बनाया है। वे सृष्टि-वैचित्र्य का सिद्धान्त पेश करते हैं। लेकिन जब हम उनसे कहते हैं कि अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि प्रकृति ने कुछ लोगों को बौद्धिक शक्ति दी है और कुछ लोगों को केवल शारीरिक शक्ति दी है, तो शरीर-श्रमिक से आपको अधिक वेतन क्यों

मिलना चाहिए ? ऐसा सुनकर वे चुप हो जाते हैं। भले ही वे सम-वेतन के लिए तैयार न हों, बहस के समय तो वे इस दलील को मान ही लेते हैं। अतः खादीग्राम में बौद्धिक श्रम तथा शारीरिक श्रम का सम्मान होना स्वाभाविक ही था।

शीघ्र ही हमारे इन साथियों ने यह महसूस किया कि केवल समान मजदूरी से ही साम्ययोग की साधना नहीं हो सकती, उससे सम-वेतन मात्र ही होता है। आज के विषमता के युग में किसी संस्था द्वारा समवेतन का मान्य करना साम्य की दिशा में अत्यन्त क्रांतिकारी कदम है, फिर भी इसे साम्ययोग की साधना नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि विनोबाजी सहभोग पर अधिक जोर देते हैं। जब भोग के संदर्भ में साथियों ने विचार करना आरम्भ किया, तो उन्होंने देखा कि यद्यपि सबकी मजदूरी बराबर है, फिर भी भिन्न-भिन्न परिवारों में बच्चों की संख्या में भिन्नता के कारण साम्य की सिद्धि नहीं हो रही है। इसके अलावा स्वास्थ्य खराब होने के कारण कोई कम बीमार पड़ता था, कोई ज्यादा बीमार पड़ता था। इस कारण भी किसीका खर्च ज्यादा होता था और किसीका कम। इन तमाम स्थितियों को देखकर मित्रों ने यह तय किया कि बच्चे, आरोग्य तथा विवाह के लिए सबकी सामूहिक जिम्मेदारी हो और उन पर जो कुछ खर्चा हो, वह सब समान रूप से बाँट लें। संस्था की ओर से साल में केवल सात दिन की ही छुट्टी मंजूर थी, बीमारी की छुट्टी इक्कीस दिन की थी। कार्यकर्ताओं ने इस छुट्टी को भी सामूहिक 'पूलिंग' (एकत्रीकरण) में इस्तेमाल करने का तय किया और तदनुरूप संस्था से भी मंजूरी ले ली।

यद्यपि साम्ययोग की साधना में हम अनुभव के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन करते रहे हैं, फिर भी यह मत समझना कि यह सब साम्ययोग है। वस्तुतः हमने साम्ययोग की साधना की शुरुआत ही नहीं की थी। हम जो कुछ करते रहे, वह साम्ययोग की दिशा की खोज मात्र था। हमारा विचार साम्ययोग का था, पर संस्कार शोषणजनित

विषमता का था। विचार के साथ आचार का अनुबन्धन कैसे हो, खादी-ग्राम के लोग इसीकी तलाश करते रहे। वास्तविक साम्ययोग तो तब हो, जब हम दूसरे का शोषण किये बिना ही सब मिलकर उत्पादन करें और मिलकर उसका उपभोग करें। इस तरह साम्ययोग के लिए अनिवार्य शर्त यह है कि हम स्वावलम्बी बनें। केवल स्वावलम्बी बनें, इतने से भी साम्ययोग की साधना नहीं होगी। यह भी हो सकता है कि कुछ लोग उन्नत साधनों आदि के द्वारा अपने श्रम तथा पुरुषार्थ से स्वावलम्बी भी हो जायँ और उस गोल के सब लोग समान रूप से उपभोग भी करने लग जायँ, तब भी वह साम्ययोग नहीं होगा, यदि उसके आसपास के निवासी यथेष्ट साधनों के अभाव में अत्यन्त निम्न स्तर का जीवन बिताते हैं और इस गोलवाले अपने पड़ोसियों की सेवा करके उनका जीवन-स्तर अपने बराबर करने की कोशिश नहीं करते हैं और कोशिश के दौरान में अपने साधन में से त्याग कर उनके साथ सह-उपभोग करने की कोशिश नहीं करते। तब यह कैसे माना जाय कि ये लोग साम्ययोग की साधना कर रहे हैं ? इसीलिए मैं कह रहा था कि यद्यपि हम अपने को साम्ययोगी परिवार कहते थे, फिर भी हमारी चेष्टा साम्ययोग की नहीं थी, बल्कि दिशा अन्वेषण की थी।

समवेतन और साम्ययोग

खादीग्राम में साम्ययोग साधना की शुरुआत तथा उसका क्रम-विकास वस्तुतः चाहे जो हो, वह हम लोगों को आरोहण की प्रक्रिया में एक पड़ाव आगे ले गया। जिस देश के लोग अत्यन्त प्रयोग से प्रसन्नता व्यक्तिवादी संकीर्णता में घिरे हुए हैं, यहाँ तक कि समान आदर्श के पीछे चलनेवाली संस्था के कार्यकर्ता भी व्यक्तिवाद तथा विषमता के शिकार हैं, वहाँ अगर हम एक कोने में भी साम्ययोग के विचार के अनुसार जीवन-क्रम की तलाश करते रहें, तो भी यह निःसन्देह क्रान्ति की दिशा में एक प्रगतिशील कदम माना जायगा। इसलिए हमारे मित्र थोड़ी सफलता से भी काफी सन्तुष्ट थे और

उत्साह के साथ नित्य नये प्रयोग का विचार करते थे। बाहर से आनेवाले दूसरे साथियों को भी खादीग्राम के जीवन से पर्याप्त प्रेरणा मिलती थी। वे जब देखते थे कि खादीग्राम के स्त्री-पुरुष और बच्चे चार घण्टे उत्पादक शरीर-श्रम करते हैं, मिल करके रहते हैं और मिल करके सामूहिक रूप से पारिवारिक जिम्मेदारियाँ निभाते हैं, तो वे बहुत प्रभावित होते थे। किसी त्योहार पर, दशहरा या दिवाली पर जब दूसरे मित्र खादीग्राम में आकर यह देखते थे कि यहाँ के पचीसों बच्चों के कपड़े एक साथ बन रहे हैं और सबकी माताएँ साथ मिलकर सबके कपड़े इकट्ठे सिल रही हैं, तो उन्हें बड़ा अच्छा लगता था। वे अपने-अपने यहाँ जाकर दूसरों से इसकी चर्चा करते थे। कुछ लोग तो पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखते थे। यों धीरे-धीरे खादीग्राम की श्रम तथा साम्य की साधना की शोहरत देशभर के कार्यकर्ताओं में फैल गयी।

इस प्रकार सन् १९५४-५५ का वर्ष श्रम तथा साम्य की साधना का मार्ग ढूँढ़ने में बीता, पर उसके साथ-साथ खादीग्राम को ग्राम-रचना का उपयुक्त शिक्षण-केन्द्र बनाने, नयी तालीम की प्रयोगशाला चलाने और 'भू' क्रान्ति का सगठन करने का कार्यक्रम तो रहा ही। लेकिन मेरे लिए, साथियों से मिलकर वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए, श्रेणी-संघर्ष का विकल्प ढूँढ़ने की कोशिश करना ही सबसे महत्त्व का था। मैं यह नहीं कहूँगा कि हमारी कोशिश सफलता की ओर है, लेकिन यह बात निःसन्देह कही जा सकती है कि खादीग्राम का प्रयोग दिशा-निर्देश में सफल रहा है। कारण, जैसे-जैसे हम प्रयोग करते गये, वैसे-वैसे हमें आगे का मार्ग भी सूझता गया और हम आगे के कार्यक्रम में परिवर्तन करते गये।

साम्ययोग की कोशिश में हम लोगों ने जो कुछ किया, उसमें वास्तविक समाधान क्या था, यह तो मालूम नहीं; लेकिन तुम्हारी दिलचस्पी के लिए इतना विवरण काफी है, ऐसा मैं मानता हूँ। आगे चलकर साम्ययोग की क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुईं और हमने कैसे-कैसे प्रयोग किये, उस सम्बन्ध में फिर कभी लिखूँगा।

● ● ●

श्रमभारती, खादीग्राम
१-१०-'५८

१९५४ में गया-सम्मेलन के अवसर पर क्रांति के आरोहण में जीवन-दान की एक नयी सीढ़ी निकली। उसी सम्मेलन के अवसर पर यह स्पष्ट हुआ कि आज सर्व-सेवा-संघ का एकमात्र मुख्य काम भू-क्रांति को सफल बनाने का है—और वह खादी-ग्रामोद्योग, कृषि-गोपालन या नयी तालीम का जो भी काम करे, वह सारा काम भूदान-मूलक हो, यही अपेक्षित है।

आन्दोलन की ख्याति

बिहार में २० लाख एकड़ से ज्यादा जमीन मिल चुकी थी। यों २५ लाख एकड़ का संकल्प लगभग पूरा हुआ। इस संकल्प-पूर्ति से देश-विदेश में आन्दोलन की ख्याति फैली। विनोबाजी भी उन दिनों बिहार में ही पदयात्रा कर रहे थे। इन दोनों कारणों से सारे आन्दोलन का आकर्षण बिन्दु बिहार हो गया था। इसलिए उसी अवसर पर निर्णय हुआ कि सर्व-सेवा-संघ का दफ्तर गया में रहे। दूसरा निर्णय यह हुआ कि सेवाग्राम में तालीमी संघ तथा सर्व-सेवा-संघ दोनों के अलग-अलग शिक्षण-कार्यक्रम न चलें। वहाँ का सारा काम तालीमी संघ के द्वारा चले। इस निर्णय के अनुसार सर्व-सेवा-संघ ने सेवाग्राम तथा वर्धा का शिक्षण-कार्यक्रम समेट लिया और सेवाग्राम के मकान तथा अन्य सामान तालीमी संघ को सौंप दिया।

आन्दोलन के मुख्य क्षेत्र तथा प्रधान दफ्तर के कारण देश की दृष्टि बिहार की ओर ही लगी रहती थी। सर्व-सेवा-संघ की ओर से इस समय खादीग्राम ही एक केन्द्र था, जहाँ नयी क्रांति के संदर्भ में शिक्षण का कुछ वातावरण बना हुआ था। मैं खादीग्राम में रहता था, इसलिए भी कार्यकर्ता-

शिक्षण के लिए देश की अपेक्षा खादीग्राम से ही थी। इन कारणों से यह निश्चय हुआ कि भूदान-कार्यकर्ताओं का शिक्षण मेरी देखरेख में ही खादीग्राम में हो।

सेवाग्राम का केन्द्र तालीमी संघ को दे देने के बाद सर्व-सेवा-संघ के लिए खादीग्राम ही मुख्य केन्द्र रह गया। प्रधान दफ्तर पास होने के कारण इसे मुख्य शिक्षण-केन्द्र बनाने की आवश्यकता बढ़ गयी।

खादीग्राम केन्द्र का विस्तार

अब तक खादीग्राम छोटा-सा केन्द्र था, थोड़ी जमीन काम लायक थी, बाकी पहाड़ और पत्थर ही था। मैंने सोचा कि अगर इसे ही मुख्य केन्द्र बनाना है, तो इस केन्द्र को ऐसा बड़ा बनाना होगा, जहाँ मुख्य रूप से खेती की पर्याप्त सामग्री हो। समय बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ रहा था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि सालभर में ही खादीग्राम को बड़े केन्द्र का रूप दिया जाय। इसलिए १९५५ में खादीग्राम का निर्माण-कार्य जोरों से चला। दो-तीन सौ मजदूर स्त्री-पुरुष यहाँ काम करने लगे।

मैं बता चुका हूँ कि १९५४ के बाद से ही मेरी कमर का दर्द अच्छा होने लगा और मैं सालभर देश का दौरा करते रहा। बीच बीच में जब खादीग्राम आता, तो इतने मजदूरों को काम करते देखकर मुझे लगता कि यह सारा वातावरण ठीक सरकारी ढंग का है। जैसे किसी सरकारी ठेकेदार का काम लगा हुआ है।

हमारी योजना और सरकारी योजना

मैं सोचता कि आज के राष्ट्र-निर्माण के दिनों में देशभर की रचनात्मक संस्थाओं की यही स्थिति होगी। हरएक संस्था में इसी तरह मजदूर काम करते होंगे और हर स्थान का दृश्य ऐसा ही होगा। अगर ऐसा ही है, तो हमारे काम करने के ढंग में और देश में विकास-योजनाओं के काम में फर्क क्या है। यह सही है कि खादीग्राम में कुछ फर्क था। यहाँ मजदूर काम कर रहे हैं, तो कार्यकर्ता बैठे नहीं हैं। वे भी कुदाल लेकर मजदूरों की तरह ही आधे समय उनके

साथ मिट्टी खोदकर खेत बनाते हैं। लेकिन यह सब वर्ग-परिवर्तन के संदर्भ में अपनी विकास-योजना ही थी। लेकिन वर्ग परिवर्तन की प्रक्रिया एक-तरफा तो हो नहीं सकती। इस प्रक्रिया में 'हुजूर और मजदूर' दोनों को ही आना है। हुजूरों की श्रम शक्ति के विकास तथा मजदूरों के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर के उन्नयन से ही तो पूर्ण मानवरूपी एकवर्गीय समाज बनेगा।

मजदूरों में क्रान्ति कैसे हो ?

जैसा कि पहले बता चुका हूँ, हम लोग श्रम-साधना द्वारा वर्ग-परिवर्तन की दिशा में बढ़ने की कोशिश करते थे। लेकिन इन दो-ढाई सौ मजदूर भाई बहनों को हम ऐसी कोई प्रेरणा नहीं देते थे, जिससे वे भी वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया में भाग ले सकें। तुम पूछोगी कि क्रांति की प्रेरणा कहीं किसी पर लादी जा सकती है क्या? उसकी प्रक्रिया तो तब शुरू होगी, जब वर्गविशेष में चेतना हो। तुम्हारा पूछना सही होगा, लेकिन सदियों से शोषित तथा उत्पीड़ित रहने के कारण जिस मजदूर-वर्ग की चेतना शक्ति शून्य हो गयी है, उसमें कौन चेतना पैदा करेगा। वही करेगा न, जिसमें चेतना पैदा हो चुकी है। तो अगर हम वर्ग-परिवर्तन की क्रांति को मानते हैं और अगर यह मानते हैं कि हममें इस क्रांति की चेतना है, तो क्या मजदूर-वर्ग में इस क्रांति के लिए चेतना पैदा करना हमारा काम नहीं है। मैं अपने-आपसे पूछता था कि अगर जिम्मेवारी हमारी है, तो हमारे मातहत जो मजदूर काम कर रहे हैं, उन्हें सचेतन बनाने के लिए हम क्या कर रहे हैं!

पढ़ाई शुरू करने का विचार

मैं यह सब सोचता था, लेकिन मुझे कोई रास्ता नहीं सूझता था। एक दिन यह विचार आया कि इन सबको पढ़ाना क्यों न शुरू करूँ! यह सोचकर मैंने सभी मजदूर भाई-बहनों को बुलाया और उनसे पूछा कि उनमें से कितने लोग पढ़ना चाहते हैं! करीब-करीब सभीने हाथ ऊपर उठा दिये। मैंने उनसे कहा कि आज उन्हें ८ घंटे में जितनी मजदूरी मिलती

है, पढ़नेवालों को ७ घंटे में उतनी ही मजदूरी मिलेगी। लेकिन शर्त यह है कि उनकी हाजिरी ८ घंटे के बजाय ९ घंटे की हो, जिसमें ७ घंटे श्रम करें और २ घंटे पढ़ें। करीब-करीब सभी लोगों ने पढ़ने के लिए अपना नाम लिखाया। दूसरे दिन से खादीग्राम में सफल परिवर्तन हो गया। सात घंटे काम करने के बाद सब लोग शाम को अपने-अपने वर्ग में पढ़ने चले जाते थे। 'श्रमभारती' अब सही माने में 'श्रमभारती' बन गयी। शाम को मालूम होता था, मानो बाकायदा स्कूल लगा हुआ है। थोड़े ही दिनों में मजदूर भाई-बहनों में परिवर्तन आने लगा। पहले जैसे ठेकेदारी का वातावरण लगता था, उसके बजाय अब भाईचारे का वातावरण हो गया।

मजदूर वर्ग के लोग जब पढ़ने लगे, तो स्वभावतः वर्ग में उनसे तरह-तरह की चर्चा होने लगी। इससे उनमें भी दिलचस्पी बढ़ी और वे अनेक प्रश्नों पर जानकारी लेने की कोशिश करने लगे। मैंने अपने साथियों से कहा था कि साक्षरता तो अवश्य होनी चाहिए, लेकिन श्रमभारती में उसीको मुख्य वस्तु नहीं बनाना चाहिए। यहाँ के शिक्षण में सामाजिक चर्चा खास तौर से होनी चाहिए और ऐसा होता रहा। इस प्रक्रिया से मजदूर-वर्ग में से कई भाई ऐसे निकले, जो हमारे साधारण कार्यकर्ता जैसे लगते थे। मजदूर हमारे साथ जल्दी और आसानी से इसलिए भी घुल मिल गये कि हम लोग सब भाई-बहन उनके साथ समान स्तर में मिट्टी खोदने का और दूसरा श्रम-कार्य करते थे।

लड़कों की पढ़ने में विशेष दिलचस्पी

मजदूरों की शिक्षा आरम्भ होने से मुझे अत्यधिक संतोष था। मैं उनकी प्रगति को बड़े ध्यान से निरीक्षण करता रहा। बीच-बीच में उनसे चर्चा भी करता था। इनके समूह में १५-१६ वर्ष के कुछ लड़के-लड़कियाँ भी थीं। मैंने देखा कि ये लड़के दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी दिखाते हैं। इससे मन में खयाल आया कि इनकी दिलचस्पी का सदुपयोग करना चाहिए। हम हजारों रुपये खर्च करते हैं और सैकड़ों मजदूरों से काम लेते हैं। केवल खादीग्राम में

ही सौ-दो सौ मजदूर काम करते थे। उन दिनों अपनी यात्रा में मैं जितनी संस्थाओं में जाता था, सभी जगह नयी-नयी इमारतें बनते देखता था और मजदूरों को काम करते देखता था। गांधी आश्रम के मेरठ और अकबरपुर केन्द्र तथा बिहार खादी समिति के मुजफ्फरपुर और इसी तरह से कई बड़े-बड़े खादी-केन्द्र मैंने देखे, तो मुझे इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि केवल इमारत में ही नहीं, सरंजाम बनाने में, रँगाई-छपाई में और दूसरे अनेक प्रकार के उत्पत्ति के कामों में भी हजारों की संख्या में मजदूर काम करते हैं। ऐसी संस्थाओं में मजदूरों के काम का दर्शन किसी फैक्टरी के काम से भिन्न नहीं जान पड़ता। मैंने अदाज किया कि राष्ट्रीय विकास के दिनों में केवल गांधीजी के नाम पर खुली रचनात्मक संस्थाओं में ही कम-से-कम ५० हजार मजदूर काम करते होंगे। अगर इन तमाम मजदूरों के स्थान पर हम १२ वर्ष से ३० वर्ष उम्र के लड़कों से काम लें और उन्हें पढ़ायें, तो नयी तालीम की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम होगा। मन में ऐसी कल्पना आते ही मैं इस प्रश्न पर विचार करने लगा। शुरू-शुरू में ऐसा महसूस हुआ कि शायद नयी तालीम की दिशा में ऐसा सोचना गलत होगा, क्योंकि इसमें केवल उद्योग है और दूसरी चीजों का अवसर नहीं। फिर सोचा कि आज की नयी तालीम इससे बहुत भिन्न है क्या?

सामाजिक वातावरण कैसे?

तुम लोगों को इस बात का अनुभव है ही कि नयी तालीम के जो तीन माध्यम हैं, उनमें से उद्योग के सिवा शेष दो माध्यमों की प्राप्ति बुनियादी शालाओं में नहीं हो पाती है। शाला में कुछ बागवानी तथा थोड़ी-बहुत कताई बुनाई कराकर या एकाध अन्य उद्योग चलाकर उद्योग के मारफत शिक्षण की प्रक्रिया चला लेते हैं। लेकिन सामाजिक वातावरण या प्राकृतिक वातावरण को हम शाला के अन्दर पैदा नहीं कर पाते हैं। क्योंकि दोनों में से एक को भी कृत्रिम रीति से गढ़ा नहीं जा सकता है। परिवार के व्यक्तियों में आपसी नैसर्गिक सम्बन्ध तथा पड़ोसी परिवारों के साथ आपसी सहज सम्बन्ध शाला में या संस्थाओं में निर्माण

नहीं किया जा सकता। शाला में बच्चे पढ़ने के लिए आते हैं, लेकिन होते हैं वे ग्राम-समाज के, शाला-समाज के नहीं। संस्थाओं में जो रहते हैं, वह उनका असली घर नहीं है। उनके जीवन-मरण की समस्या एक-दूसरे से जुड़ी हुई नहीं है। सम विचार या सम योजना के आधार पर एकत्र लोगों का संघ बन सकता है, परिवार नहीं। परिवार तो स्नेह-सम्बन्ध से ही बन सकता है। इस सम्बन्ध को बनाया नहीं जा सकता, वह बनता है। उसके लिए परम्परा चाहिए। यही कारण है कि आज हमारी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं मे परस्पर उतना भी पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है, जितना कि आपस में झगड़नेवाले देहाती परिवारों के बीच देखा जाता है। माना कि छोटे-छोटे स्वार्थों को लेकर वे आपस में झगड़ते हैं, फिर भी उनकी अन्तरात्मा यह जानती है कि वे जीवन-मरण के लिए एक-दूसरे के साथ बँधे हुए हैं। इसलिए तुम लोगों की बुनियादी शालाओं में नयी तालीम संस्थाओं के शिक्षण के लिए सही सामाजिक वातावरण नहीं मिलता।

वही स्थिति नैसर्गिक वातावरण की भी है। देशभर में हम नयी तालीम की जितनी शालाएँ या संस्थाएँ चलाते हैं, उनमें शायद ही एकाध संस्था ऐसी होगी, जिसे विशेष रूप से नैसर्गिक वातावरण प्राप्त हो। देहातों में फिर भी कुछ मिल जाता है, शहरों में तो उसका नितान्त अभाव है। फिर भी हम इसी परिस्थिति में से नयी तालीम निकालने की कोशिश तो करते ही हैं। तो इतना बड़ा अवसर किसलिए छोड़ दिया जाय?

इसलिए जब मैंने देखा कि हमारी संस्थाओं में विभिन्न उद्योगों के सिलसिले में करीब पचास हजार मजदूर काम करते हैं, तो मुझे ऐसा लगा कि यह क्षेत्र नयी तालीम के लिए एक व्यापक क्षेत्र है।

जैसा कि मेरा स्वभाव है, नयी तालीम के उस पहलू पर विचार करते हुए मेरा चिन्तन बहुत दूर तक चला गया। यहाँ तक कि तुम लोग मुझे शेखचिल्ली के नाम से पुकारने लगोगी! मैंने हिसाब जोड़ा कि मेरे यहाँ जितने मजदूर हैं, उसके बदले में अगर दस-ग्यारह से लेकर पन्द्रह-सोलह

वर्ष के लड़के रखूँ, तो संख्या कम-से-कम ड्योढ़ी हो जायगी और अगर काम के घण्टे ८ के बजाय ५-६ रखे जायँ, तो यह राष्ट्रव्यापी शिक्षण- संख्या दूनी से कम न होगी। इसका मतलब यह हुआ · योजना कि संस्थाओं में ही एक लाख के करीब शिक्षार्थी मिल जायँगे। ये शिक्षार्थी ऐसे होंगे, जो कभी भी चालू-बुनियादी या गैरबुनियादी शालाओं में भरती होनेवाले नहीं हैं। फिर आगे सोचने लगा कि सरकार राष्ट्रनिर्माण का काम कर रही है। उसकी एक पंचवर्षीय योजना बनी है, जिसके अनुसार गाँव-गाँव में कुआँ, तालाब, सड़क, नहर आदि में लाखों मजदूर काम कर रहे हैं। अगर इन मजदूरों के चौथाई भी मजदूर शिक्षण-प्रक्रिया में आ जायँ, तो यह संख्या कई लाख तक पहुँच जायगी। अगर देश के नेता इधर ध्यान दें, तो राष्ट्र-निर्माण की कोई अलग योजना न बनकर शिक्षण-योजना के फलस्वरूप राष्ट्र-निर्माण की लक्ष्य-पूर्ति हो सकती है।

आखिर नयी तालीम का लक्ष्य तथा उसकी प्रक्रिया क्या होगी? उसका लक्ष्य देश का नागरिक बनाना है न? स्वराज्य में नागरिक कौन हैं? गांधीजी ने एक बार स्वराज्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि "नागरिक वे होंगे, जिन्होंने शरीर-श्रम से राष्ट्र की सेवा की है।" यानी शरीर-श्रमिक ही वोट का अधिकारी होगा। तो शिक्षण का उद्देश्य सबसे पहले वोट देनेवालों की ही शिक्षा है न? फिर नयी तालीम की प्रक्रिया उत्पादक श्रम के माध्यम से ही तालीम देने की है न? जरा सोचो तो कि यदि ये दोनों बातें सही हैं, तो तुम्हारी नयी तालीमशाला कहाँ होगी? शिक्षण का क्षेत्र किसे कहोगी? क्या विद्यालय का अलग से भवन बनाकर उसमें कुछ जमीन और उद्योग जोड़कर उसीमें उत्पादक श्रम का अवसर निर्माण कर सारे श्रमिकों के बच्चों को यहाँ लाकर शिक्षण देना है या आज वे जहाँ कहीं भी उत्पादक श्रम करते हैं, शिक्षण को ही उसी जगह ले आना होगा? अगर तुम शाला में सबको बुलाकर शिक्षण देना चाहती हो, तो क्या यह शक्य होगा?

वस्तुतः राष्ट्र-निर्माण का मतलब ही है राष्ट्र के नागरिक का निर्माण। समस्त विकास-योजना इस नागरिक निर्माण की प्रक्रिया का माध्यम होनी चाहिए। अतएव अगर नयी तालीम को व्यापक और प्रगतिशील बनाना है, तो राष्ट्रीय विकास-योजना के सिलसिले में जो कुछ निर्माण-कार्य हो रहा है, उसीको शिक्षा का माध्यम बनाना होगा। आखिर नयी तालीम-शाला में उन कार्यक्रमों से अधिक क्या करती हो। खेती की तरक्की, ग्रामोद्योग का प्रसार, गृह-निर्माण, मार्ग-निर्माण, सिंचाई-व्यवस्था का कार्यक्रम आदि के अलावा नयी तालीम की संस्थाओं में अधिक कुछ होता है क्या? अगर ठीक से निरीक्षण किया जाय, तो मालूम होगा कि अधिक तो होता ही नहीं, बल्कि उतना भी नहीं होता, जितना विकास-योजना के सिलसिले में होता है। कल ही मैं एक बुनियादी शाला में गया था। मैंने लड़कों से पूछा कि आज देश में सबसे ज्यादा संकट किस बात का है। लड़कों ने तुरत जवाब दिया कि "अन्न का संकट आज मुख्य संकट है।" मैंने जब पूछा कि "यह सकट दूर कैसे हो", तो उन्होंने कहा कि "अन्न-उत्पादन में वृद्धि करने पर होगा।" "कैसे वृद्धि हो?" पूछने पर जवाब मिला: "सब लोग जमीन पर मेहनत करें।"

आगे की प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट हुआ कि जो लड़के शाला में शिक्षा पाते हैं, वे गाँव के खेत में काम करने नहीं जाते हैं और जो काम करते हैं, वे शाला में पढने नहीं आते।

चर्चा के दौरान में एक लड़के ने कहा कि हम लोग भी खेती करते हैं और अपने अहाते के कोने में एक खेत दिखला दिया। मैंने पूछा कि कितना खेत है, तो उन्होंने कहा: 'दो कट्ठा।' शिक्षार्थियों की संख्या ७८ बतायी। मैंने जब पूछा कि दो कट्ठा जमीन पर ७८ लड़के खड़े हो जाने पर धान रोपने के लिए कितनी जमीन बच जाती है, तो बच्चे हँसने लगे।

इसलिए नयी तालीम के प्रश्न पर विचार करने के लिए राष्ट्रीय विकास-योजना के सन्दर्भ में ही विचार करना होगा। बुनियादी

शालाओं के उपलब्ध साधन से उत्पादक श्रम करना तो दूर की बात है, श्रम का नाटक भी नहीं हो सकता। इसलिए मैंने सोचा कि खादीग्राम में जो निर्माण-काम हो रहा है, उसी काम को केन्द्र बनाकर यदि कुछ प्रयोग कर लूँ, तो इस विचार को आगे बढ़ाने की दिशा में बहुत मदद मिलेगी।

प्रयोग करने का निश्चय

अपना यह विचार मैं अपने साथियों के सामने बराबर रखता रहा हूँ। एक दिन मैंने उनसे कहा कि अब मजदूरों की जगह छोटे लड़कों को रखना शुरू कर दो और उनके शिक्षण की एक योजना बना डालो। योजना का स्वरूप क्या हो, इस पर काफी चर्चा होती रही। चर्चा होकर तय हुआ कि फिलहाल छह घण्टा काम करें। उनकी श्रम-शक्ति को देखकर मजदूरी तय की जाय और उन्हें दो घण्टे पढ़ाया जाय। इसके अलावा उन्हें सामाजिक शिक्षा देने के लिए मन्त्रिमण्डल बनाकर उन्हींके काम के अलग-अलग हिस्सों की जिम्मेदारी दी जाय।

इस शाला का नाम श्रम-शाला रखा गया। अक्तूबर १९५५ में इसका श्रीगणेश किया गया। जनवरी से ही बुनियादी शाला चल रही थी। उसे इसके साथ मिलाया नहीं गया, बल्कि एक स्वतन्त्र शाला के रूप में इसका काम शुरू किया गया। शुरू में ऐसा सोचा था कि श्रम-शाला के बच्चों को भी बुनियादी शाला के विभिन्न वर्गों में बैठाया जाय; क्योंकि बुनियादी शाला में भी दो ही घंटे की पढ़ाई थी, लेकिन गाँव के बच्चे बड़ी उम्र तक पढ़े हुए नहीं थे। इसलिए उम्र में तथा सामाजिक होश की विषमता के कारण श्रमशाला के बच्चे बुनियादी शाला के विभिन्न वर्गों के बच्चों के साथ मेल नहीं खा रहे थे। इसलिए दोनों को एक में मिलाने का विचार छोड़ दिया गया और दोनों को अलग अलग चलाने का ही निश्चय किया गया।

इस प्रकार खादीग्राम में बुनियादी शाला के आठ वर्ग तथा श्रम-शाला के पाँच वर्ग मिलाकर तेरह वर्ग चलने लगे। तेरह वर्ग में तेरह

अच्छे शिक्षकों की समस्या खड़ी हुई, लेकिन साथियों में से चुनकर यह समस्या हल की गयी। इस हल में बहनों ने भी साथ दिया। शिक्षकों में तीन-चार बहनें भी थीं।

श्रमशाला बड़ी धूम से चली। आसपास के गाँवों के मजदूर और गरीब किसानों में काफी उत्साह दिखाई दिया। बच्चे भी उत्साही थे।

श्रमशाला की धूम

धीरे-धीरे बच्चे जब शिक्षा की महत्ता को समझने लगे, तो समय-विभाजन में कुछ परिवर्तन किया गया। पहले पाँच घंटे, बाद में चार घण्टे कमाई का काम तथा दो घंटे कताई और दो घंटे पढ़ाई का कार्यक्रम रखा गया। ऐसा कार्यक्रम रखने पर बच्चों की कमाई में बहुत अन्तर नहीं आया, क्योंकि उत्साह तथा दिलचस्पी के साथ काम करने के कारण उनमें श्रम-शक्ति की वृद्धि होने लगी। पहले वे एक दिन में जितना काम करते थे, उससे अधिक काम करने लगे। उसे देखकर मैंने मजदूरी बढ़ाने की बात सोची।

इन्हीं दिनों अण्णासाहब गया में आये हुए थे। मैं भी वहाँ गया हुआ था। अण्णासाहब हमेशा से ऐसे कामों में दिलचस्पी लेते रहे हैं। मैंने उनसे इसकी चर्चा की और कई बातों में उनकी सलाह ली। सर्व-शक्ति की बात सुनकर उन्हें बड़ी खुशी हुई। उन्होंने कहा : "आप मजदूरी बढ़ाने की जो बात सोच रहे हैं, वह पैसे में न देकर अन्न के रूप में दीजिये। तो बढ़ती हुई श्रम-शक्ति कायम रहेगी, नहीं तो उत्साह के कारण आज जो अधिक मेहनत कर रहे हैं, वह अधिक दिन टिकेगी नहीं। बल्कि इसके फलस्वरूप उनकी जीवन-शक्ति का ह्रास होगा।" अण्णासाहब की यह बात मुझे जँच गयी। मैंने वहाँ से लौटकर अपने साथियों से कहा कि काम खूब कसकर करो और जो मजदूरी दे रहे हो, इसके अलावा नाश्ता दो। नाश्ता देने से उनके उत्साह तथा स्वास्थ्य दोनों में वृद्धि होने लगी। छह घंटे के बदले चार घंटे श्रम और नाश्ता

इन दोनों बातों से उनकी जीवनी शक्ति काफी बढ़ गयी। थोड़े में ही उनकी शक्ल बदल गयी।

श्रमशाला के प्रयोग ने नयी तालीम की दिशा में नया विचार तथा नयी रोशनी प्रकट की। बच्चे पढ़ाई के मामले में इतनी तेजी से प्रगति करने लगे कि हमारे सभी शिक्षक हैरान हो गये। बुनियादी शाला के बच्चों से वे हर बात में आगे बढ़ गये। वे पाँच घण्टे मिट्टी खोदने और काटने का काम करते थे, दो घण्टे कताई करते थे और दो घण्टे पढ़ते थे। इस तरह इनका कार्यक्रम नौ घण्टे का था। बुनियादी शाला के बच्चों का कार्यक्रम आठ घण्टे का ही था। फिर भी खाना खाने के बाद ये बच्चे पेड़ के नीचे कबड्डी खेलते थे और अत्यन्त प्रसन्न रहते थे; लेकिन बुनियादी शाला के बच्चे, जो उन लोगों से अच्छा भोजन पाते थे, दूध पीते थे और उनसे कहीं हलका श्रम करते थे, दिन में डेढ़ घण्टे सोते थे और हर काम में सुस्ती करते थे। उनके चेहरों पर श्रमशाला के बच्चों से उत्साह तथा स्फूर्ति भी कहीं कम थी। यद्यपि शुरू में ये लोग पढ़ाई में बहुत पिछड़े हुए थे, फिर भी थोड़े ही दिनों में इनकी प्रगति बुनियादी शाला के बच्चों से कहीं अधिक थी। हिसाब में तो उनकी गति आश्चर्यजनक थी। मैं कभी-कभी सोचता था कि हम जगह-जगह छात्रावास खोलकर मध्यम वर्ग के बच्चों को लेकर बुनियादी तालीम का जो चित्र निकालने की कोशिश कर रहे हैं, वह कहीं निष्फल चेष्टा तो नहीं है? लेकिन फिर यह भी विचार आता था कि नयी तालीम का क्षेत्र जब सर्वव्यापी है, तो हर श्रेणी के लिए तालीम की प्रक्रिया ढूँढनी ही होगी। इसलिए निष्ठापूर्वक दोनों शालाएँ चलाता रहा।

छात्रों की आश्चर्यजनक प्रगति

खादीग्राम की समस्या अत्यन्त कठिन थी। साम्ययोग के आधार पर नौजवानों को आकर्षित करना, उन्हें टिकाना और साथ साथ खेती की आवश्यकता की पूर्ति करना कठिन समस्या थी। आन्दोलन की जिम्मेदारी, आश्रम की विकास-योजना, श्रमभारती का निर्माण,

दफ्तर हिसाब आदि व्यवस्था का संचालन आदि तो था ही, उसके अलावा तेरह वर्ग चलाने की समस्या अत्यन्त कठिन हो रही थी। भाई राममूर्ति, रुद्रभानु भाई, अमरनाथ भाई आदि साथी हमेशा परेशान रहते थे। शिक्षक जुटाने की समस्या उनके लिए अत्यन्त कठिन थी।

एक ओर शिक्षकों के प्रश्न पर साथियों की परेशानी थी, दूसरी ओर नयी तालीम की सही प्रक्रिया क्या हो, इस प्रश्न पर नयी दिशा में मेरा चिन्तन चलता था। यह हमें एक नये प्रयोग की ओर ले गया। जनवरी १९५६ में हमने हिम्मत करके बुनियादी शाला तथा श्रमशाला को एक साथ मिला दिया। दोनों को मिलाने में एक सामाजिक कारण ने भी बहुत हद तक काम किया। वह कारण था श्रेणी-विषमता। मैंने देखा कि श्रमशाला के बच्चे श्रम-शक्ति में, सामान्य बुद्धि में, पढ़ाई में, प्रगति में, जीवन के आनन्दोपभोग में तथा जिम्मेदारी महसूस करने में बुनियादी शाला के बच्चों से ऊँचे थे, फिर भी बुनियादी शाला के बच्चे उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। वे अपने को 'मालिक लोग', 'बाबू लोग' मानते थे और श्रमशाला के बच्चों को मजदूर। मैंने पहले ही कहा था कि खादीग्राम में मेरी चेष्टा हुजूरों की श्रम-शक्ति में वृद्धि तथा मजदूरों में सांस्कृतिक प्रगति से दोनों को एक में विलीन करने की ही रही है। बुनियादी शाला के बच्चों की मानसिक वृत्ति इस चेष्टा को विफल कर रही थी। इसलिए भी आवश्यक हो गया कि दोनों को एक में मिला दिया जाय। इस प्रकार श्रमशाला और बुनियादी शाला को मिलाने में तीन बातों ने काम किया :

श्रमशाला और बुनियादी शाला का संगम

१. श्रेणीहीन समाज कायम करने की आवश्यकता।

२. श्रमशाला के बच्चों का बौद्धिक विकास तीव्र गति से होना।

३. शिक्षकों की संख्या में कमी होना।

बुनियादी शाला और श्रमशाला को एक में मिलाने में एक-आध वर्ग के दो विभाग करने पड़े। एक ही वर्ग में कई उम्र के बच्चे होने

से सामाजिक विकास के हिसाब से दो विभाग किये गये। इस तरह तेरह वर्गों के स्थान पर आठ वर्ग न होकर दस हो गये। खेत में और भूमि-सुधार में काम के घण्टे श्रमशाला के बच्चों के लिए बुनियादी शाला के बच्चों की ही तरह चार घण्टे रखे गये। यद्यपि चार घण्टे की कमाई के कारण श्रमशाला के बच्चों की आमदनी कुछ कम हो गयी, फिर भी बच्चे छोड़कर नहीं गये; क्योंकि अब तक उनमें शिक्षा की भूख पैदा हो गयी थी।

बुनियादी शाला और श्रमशाला को मिला देने से बच्चों में आशा के अनुरूप ही प्रतिक्रिया हुई। बुनियादी शाला के बच्चों ने संगठित विरोध
किया। उन्होंने मजदूरों के बच्चों के साथ एक आसन
आशा के अनुरूप पर बैठकर शिक्षा लेना नापसन्द किया और रुद्रभानु
प्रतिक्रिया भाई से अपनी नापसन्दगी जाहिर की। इस मनो-
भावना को मिटाने में तीन-चार महीने का समय चला
गया, इसलिए व्यवस्थित शिक्षा-क्रम में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। धीरे-धीरे बच्चों में मानसिक व्यवधान समाप्त होने लगा, फिर उन्होंने रुचि से साथ-साथ काम करना, साथ खेलना और साथ पढ़ना शुरू किया।

कार्यकर्ताओं की कमी थी, इसलिए प्रत्येक शिक्षक को शिक्षण के काम के अलावा व्यवस्था का काम भी देखना पड़ता था। विभागों की
जिम्मेदारी तथा शिक्षण की जिम्मेदारी के कारण
शिक्षकों के स्वास्थ्य शिक्षण-कला का अध्ययन, अभ्यास-क्रम तैयार करना
पर बुरा असर आदि काम रात को ही हो सकता था। चार घंटे
पथरीली जमीन पर कठिन शरीर-श्रम, दो घंटे मौलिक
शिक्षण वर्ग, दो-तीन घंटे अपने-अपने विभागों की जिम्मेदारी, काम के साथ-साथ रात को दस-ग्यारह बजे तक समवाय पाठ तैयार करना और साथ-साथ अपना भी अध्ययन जारी रखना आदि कामों के कारण खादी-ग्राम के साथियों पर बहुत अधिक बोझ पड़ गया। इसीसे करीब-करीब सभी लोगों का स्वास्थ्य बिल्कुल बिगड़ गया। भाई राममूर्ति का स्वास्थ्य

एकदम गिर गया। वे जब से आये, तभी से अस्वस्थ थे; लेकिन सबके साथ समान परिश्रम के साथ-साथ उन्हें शिक्षकों की तैयारी भी करनी पड़ती थी, इससे उन पर और अधिक बोझ पड़ा; लेकिन उत्साह अधिक था, इसलिए सब लोग एकाग्रता से आगे बढ़ते रहे।

खादीग्राम में चर्चा

जनवरी १९५६ में खादीग्राम में जयप्रकाश बाबू, अप्पासाहब आदि सर्वोदय के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति सर्वोदय-योजना पर चर्चा करने के लिए एकत्रित हुए थे। वे सब अपनी चर्चा के साथ-साथ श्रमशाला की योजना को भी गौर से देखते रहे और हम लोगों से इस बारे में चर्चा भी करते रहे। श्रमशाला की योजना जयप्रकाश बाबू को बहुत पसन्द आयी। श्रमिक वर्गों की शिक्षा की एक नयी प्रक्रिया से उन्हें बहुत खुशी हुई। वे सबसे अधिक प्रभावित इस बात से हुए कि श्रमशाला के कारण हमें आसपास के देहातों में पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करना आसान हो गया था।

पड़ोसी गाँवों पर असर

यह सम्पर्क तब और भी गहरा हुआ, जब उस वर्ष आसपास के देहातों में जापानी धान खेती का आन्दोलन चला। पिछले साल खादी-ग्राम की पथरीली जमीन पर जब हमने एक एकड़ में ५६ मन धान पैदा किया तथा ३७॥ मन प्रति एकड़ औसत पैदावार हुई, तो आसपास के किसान आश्चर्य से चकित हुए। जब हम आये थे, वे हमसे कहते थे, कि "इस जमीन पर मौंग भी पैदा नहीं हो सकती है, आप इस पर खेती करना चाहते हैं!" अतएव जब उन्होंने देखा कि हमने उसी जमीन पर एकड़ पर ५६ मन धान पैदा किया, तो हमारी खेती करने की बुद्धि पर उनकी श्रद्धा हुई। पहले वे हँसते थे। कहते थे, "ये बाबू लोग क्या खेती करेंगे?" अब वे हमसे सलाह लेने के लिए आने लगे। हमारी श्रमशाला के बच्चे जापानी धान खेती की कला अच्छी तरह सीख गये थे, इसलिए उनके घरों से जापानी धान खेती की प्रक्रिया शुरू कराना आसान हो

गया। धीरे-धीरे दूसरे किसान भी हमारे पास आने लगे और अपनी जमीन पर जापानी पद्धति से धान रोपने की कला बताने का अनुरोध करने लगे। इस प्रकार श्रमशाला के बच्चों की आवश्यकता देहाती क्षेत्र में भरपूर साबित हुई। कहीं से माँग आती थी, तो वे जाकर यह काम करा देते थे। इस प्रकार श्रमशाला तथा बुनियादी शाला के सम्मिश्रण से जिस नयी तालीम के प्रकार का विकास हो रहा था, वह काफी समाधानकारक मालूम हुआ। केवल हमें ही ऐसा लगता था, सो नहीं; बल्कि छात्रावास के मध्यवर्गीय बच्चों तथा देहात के श्रमिकवर्गीय बच्चों दोनों को समाधान था। इतना ही नहीं, बल्कि बिहार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के जो भी मित्र खादीग्राम में आते थे, उनको भी यहाँ की शिक्षा ने काफी प्रभावित और आकर्षित किया। फलस्वरूप मासिक २५), ३०) खर्च देकर भी लोग हमारे पास बच्चे भेजने लगे।

ग्रामशाला की कल्पना

यह सब हुआ, पर मेरे मन में पूर्ण समाधान नहीं था। मैं अक्सर कहा करता था कि यह श्रमशाला बीच की चीज है, नयी तालीम का वास्तविक स्वरूप तो ग्रामशाला के रूप में ही प्रकट हो सकता है। मैं लिख चुका हूँ कि संस्थाओं में और देश में निर्माण-कार्य के सिलसिले में लाखों बालकों तथा किशोरों का श्रम-शाला की प्रक्रिया से शिक्षण हो सकता है। यद्यपि यह प्रक्रिया मुख्यतः उद्योग द्वारा शिक्षण की प्रक्रिया न होकर उद्योग के साथ शिक्षण की प्रक्रिया है, फिर भी आज देश में जो बुनियादी शिक्षा चल रही है, उससे यह अधिक वास्तविक होगी। क्योंकि इसमें बच्चे जो काम करते हैं, उसमें उनकी दिलचस्पी होती है और उन्हें अधिक जिम्मेदारी से काम करना पड़ता है। लेकिन संस्था के अन्तर्गत कृत्रिम उपाय से औद्योगिक संयोजना तथा सामाजिक परिकल्पना से नयी तालीम के लिए सही पृष्ठभूमि नहीं बन पाती है, इसलिए मैं काफी तेजी से ग्रामशाला के विचार का चिन्तन करने लगा।

इस बीच हम खादीग्राम के सभी भाई-बहन दो-तीन दिन के लिए

भाई जयप्रकाशजी के सोखोदेवरा आश्रम गये हुए थे। जयप्रकाश बाबू जब जनवरी में खादीग्राम आये थे, तो ऐसा सोचा था कि सर्वोदय की विभिन्न संस्थाओं के लोग बीच-बीच में इकट्ठे होकर सहवास, सहचिन्तन तथा सह-सम्वाद में समय बितायें, तो विचार की पुष्टि, कार्यक्रम की स्पष्टता तथा परिवार-भावना के विकास में मदद मिलेगी। उन्होंने इस मामले में पहल करने के लिए खादीग्राम के पूरे परिवार को सोखोदेवरा आने का निमंत्रण दिया। हम लोगों ने उनका निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और वहाँ पहुँचे। जयप्रकाश बाबू ने तीन दिन की चर्चा का विषय ही श्रमशाला और ग्रामशाला रखा था, ताकि वहाँ के मित्रों को हमारे प्रयोगों से लाभ मिले। हम लोग भी अपने प्रयोग की ब्योरेवार रिपोर्ट वहाँ ले गये थे। सोखोदेवरा के मित्रों के प्रश्नों के उत्तर देने में मेरे मन में भी जो बातें साफ नहीं थीं, वे साफ हुईं; उनकी शंकाओं में ऐसे कई पहलू थे, जिन पर मैंने पहले विचार नहीं किया था, विशेषतः आन्दोलन के संदर्भ में 'ग्रामशालाओं का क्या स्थान है?' इस प्रश्न पर पर्याप्त चर्चा हुई। वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया में श्रमशाला तथा ग्रामशाला विशेष महत्त्व का स्थान रखती है, इसका विवेचन मैंने काफी विस्तार से किया। इस प्रकार सोखोदेवरा की तीन दिन की चर्चा ने मुझे बहुत मदद दी और इस सम्बन्ध में मैं अधिक गहराई से सोचने लगा।

सोखोदेवरा में चर्चा

धीरे-धीरे मेरे मन में यह विचार पक्का होता गया कि ग्रामशाला ही सर्वोदय-आन्दोलन की एकमात्र बुनियाद हो सकती है। वस्तुतः आज जो आन्दोलन चल रहा है, वह सिर्फ विचार-प्रचार है, बुनियादी कार्यक्रम नहीं है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि आज हम लोग जो आन्दोलन चला रहे हैं, वह क्रान्ति की पूर्व तैयारी मात्र है।

इस प्रकार सोचते-सोचते मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अगर खादीग्राम के लोग आन्दोलन के वाहक बनना चाहते हैं, तो वे खादीग्राम

गाँव-गाँव में फैलने का विचार

चहारदीवारी के अन्दर रहकर नहीं बन सकते। उन्हें गाँव-गाँव में फैलना होगा और जनता में विलीन होकर उनके आधार से तथा उनके जरिये आन्दोलन चलाना होगा और इसका रचनात्मक स्वरूप ग्राम-शाला ही होगी। ऐसा सोचकर मैंने अपने साथियों में यह विचार प्रकट करना शुरू किया और अन्त में यह बात भी कह दी कि एक दिन निश्चित कर उन्हें गाँव-गाँव में फैलना है।

● ● ●

ग्रामराज-सम्मेलन

: २९ :

श्रमयात्रा के पड़ाव से
१४-१२-'५८

नवम्बर '५४ में सणोसरा में नयी तालीम का जो सम्मेलन हुआ उसकी अध्यक्षता मैंने तुम्हारे आग्रह के कारण ही स्वीकार की थी। वहाँ के अध्यक्षीय भाषण में मैंने नयी तालीम के बारे में अपने विचार तथा परिकल्पना व्यक्त की। तुम्हें याद होगा कि उस भाषण की चर्चा देशभर में हुई और नयी तालीम के कार्यकर्ताओं ने उससे नयी प्रेरणा पायी। कुछ मित्रों में नयी शंकाएँ भी उत्पन्न हुईं। उत्पादक शरीर-श्रम की अनिवार्यता की बात स्वभावतः पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग के गले में उतरती नहीं, अतएव इस पहलू पर जो जोर था, उससे कुछ मित्रों को परेशानी थी। इस युग में संस्था की चहारदीवारी तालीम का उपादान बनने के लिए असमर्थ है। सारे समाज के समस्त कार्यक्रमों को तालीम का माध्यम बनाकर पूरे समाज को ही तालीम-संस्था बनाने की जो कल्पना थी, उसका आकर्षण मित्रों में था, परन्तु उसकी सम्भावना में शंका थी। यह सब था, लेकिन देशभर में इन विचारों का खूब ही मन्थन चला। सणोसरा में तो इस पर निरन्तर चर्चा चलती ही रहती थी। आखिर में मनुभाई और उनके साथियों के आग्रह से अधिक चर्चा के लिए सम्मेलन के बाद भी एक दिन मुझे रुकना पड़ा। काफी गहराई से चर्चा हुई। यद्यपि किसीको यह विचार ग्राह्य नहीं हो सका कि प्रत्येक को श्रम-आधारित जीवन व्यतीत करना ही चाहिए, फिर भी बौद्धिक श्रम तथा शरीर-श्रम का मूल्य बराबर हो, इस बात पर सब लोग एकमत थे। फिर मैंने मनुभाई से कहा कि "आप लोग कुल बुनियादी तालीम की संस्थाओं में इतना कर लें कि शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम का मूल्य बराबर है, तो

फिर फिलहाल मुझे सन्तोष होगा।" क्योंकि मैं मानता था कि अगर समाज इस समानता को स्वीकार कर ले, तो हर मनुष्य के जीवन के तौर-तरीके में साम्य आ जायगा और परिणामतः शरीर-श्रम की अनिवार्यता का दर्शन स्वयमेव हो जायगा।

आन्दोलन और नयी तालीम

सणोसरा-सम्मेलन के बाद से मेरा चिन्तन आन्दोलन और नयी तालीम की अभिन्नता की ओर तेजी से बढ़ने लगा। उस चिन्तन के फलस्वरूप १९५५ के पूरे वर्ष में खादीग्राम के निर्माण-कार्य के सम्बन्ध में किस तरह मजदूरों की पढ़ाई शुरू हुई और आखिरी अक्तूबर १९५५ में किस तरह श्रमशाला का जन्म हुआ, उसका विवरण तथा उसके सिलसिले में वर्षभर के चिन्तन के प्रवाह का ब्योरा पिछले पत्र में लिख चुका हूँ।

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष-पद की जिम्मेदारी सँभालने के बाद देशभर में दौरा कर आन्दोलन की परिस्थिति का दर्शन किया था, उससे मेरे मन पर यह असर पड़ा कि विनोबा के कारण यद्यपि इस आन्दोलन का विचार-प्रचार जोरों से हो रहा है, तथापि आन्दोलन का स्वरूप जन-आन्दोलन के बजाय संस्थागत प्रवृत्ति का रूप धारण कर रहा है। जिस प्रकार खादी का काम चरखा-संघ की एक प्रवृत्ति के रूप में चल रहा था, उसी तरह यह आन्दोलन भी सर्व-सेवा-संघ की एक प्रवृत्ति के रूप में चल रहा है। यह अनुभूति मेरे मन पर बोझरूप बनी रही।

आन्दोलन गांधी-स्मारक-निधि के खर्चे से सर्व-सेवा-संघ द्वारा संस्थापित, भूदान समिति द्वारा नियुक्त कार्यकर्ताओं की मार्फत अत्यन्त सीमित दायरे में चल रहा था। जनता उसे अपने काम के रूप में लेती ही नहीं थी, समझती भी नहीं थी। मैंने महसूस किया कि जब तक आन्दोलन गांधी-निधि के सहारे तथा तंत्रबद्ध कार्यकर्ताओं के जरिये ही चलता रहेगा, तब तक यह प्रवृत्ति का ही रूप बना रहेगा, आन्दोलन का रूप नहीं लेगा। विनोबाजी के उत्तर प्रदेश में रहते ही जिस समय गांधी-निधि के खर्चे से

आन्दोलन चले, ऐसा प्रस्ताव हुआ था, मैंने उसका किस तरह विरोध किया था, यह बात पिछले किसी पत्र में लिख चुका हूँ। लेकिन अब मेरे मन में दृढ़ प्रत्यय हो गया कि केवल केन्द्रित निधि-मुक्ति काफी नहीं है, बल्कि कार्यकर्ता तन्त्रमुक्त होकर जन-आधारित बनें, जन-जन में फैल जायँ, तभी आन्दोलन जन-आन्दोलन बनेगा और तभी इसमें तेज आ सकेगा। तन्त्र-मुक्ति के इस विचार के बारे में भी पिछले कई पत्रों में मैं विस्तार से लिख चुका हूँ। इस समय खादीग्राम की आरोहण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में इसे व्यवहार में किस तरह लाया जाय, यही विचार मुझे हर समय घेरे रहता था।

आखिर मैंने निश्चय ही कर लिया कि खादीग्राम को विकेन्द्रित कर अपने साथियों को जगह-जगह देहातों में भेज दूँ, ताकि वे जन-आधारित जीवन बिताकर अपने को जनता में विलीन कर सकें और नयी तालीम को केन्द्र मानकर आन्दोलन को आगे बढ़ा सकें। मैंने इसके लिए एक व्यवस्थित क्रम भी बना लिया और पूरी योजना निर्धारित करके एक दिन सभी साथियों को बुलाकर इसकी घोषणा कर दी।

विकेन्द्रित करने का निश्चय

तारीख ७ जनवरी १९५६ को सुबह प्रार्थना के बाद साथियों को सम्बोधित करके मैंने कहा : "सन् '५७ की मंजिल क्या है, उसके लिए '५७ की २६ जनवरी तक हमारी पूरी तैयारी हो जानी चाहिए और १५ अगस्त १९५७ तक ग्रामराज के लिए व्यापक आन्दोलन शुरू हो जाना चाहिए। उस दिन स्वराज मिले १० वर्ष हो जायँगे। दस वर्ष बहुत काफी हैं। अतः वह दिन हमारे कूच करने का होगा। उस दिन खादीग्राम का क्या होगा, कह नहीं सकता। मिल-बहिष्कार, अम्बर चरखा, नयी तालीम आदि सब काम ग्रामराज के साथ ही चलते रहेंगे।

इस दृष्टि से हमें उत्पादक-वर्ग के अन्दर बाहोश नेतृत्व पैदा करना है और उसी दृष्टि से हमें अपना जीवन ढालना होगा। उत्पादक-वर्ग में चेतना आये और अनुत्पादक-वर्ग की वर्ग-निराकरण की तैयारी हो।

जब तक यह विलीनीकरण की प्रक्रिया दोनों तरफ से नहीं होगी, तब तक यह वर्ग-संघर्ष नहीं टल सकेगा।

अभी १९५५ तक अपनी भूमिका निर्माण कर रहे थे। पहले अपनी भूमिका बनायी, फिर जनता में गये। अब जनसाधारण ने जान लिया है कि ये लोग कुछ दूसरे प्रकार के सेवक हैं। दूसरी बात यह हुई है कि हम लोगों ने अपने जीवन की भी कुछ तैयारी कर ली है। साम्ययोग आदि की भूमिका बनी है। हम यहाँ तक पहुँच गये हैं कि अब हममें यह विश्वास पैदा हो रहा है कि हमें क्रान्ति का सिपाही बनना है, अब उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना कार्यक्रम बनाना है।"

कार्यक्रम की रूपरेखा क्या होगी, उसके प्रारम्भिक स्वरूप के बारे में भी मैंने कुछ बताया। इस पर भाई राममूर्ति की डायरी में जो नोट है, वह इस प्रकार है :

"१. इस थाने में और जिलेभर में जिला समिति के द्वारा ग्रामराज-सम्मेलन हो।"

२. गाँव-गाँव में ग्रामोदय समितियाँ बनें।

जिन गाँवों में अधिक विषमता हो, उन्हें अभी छोड़ दें। ऐसा गाँव लें, जहाँ सभी खेती आदि करते हों। विषमता के गाँवों में अभी केवल प्रचार हो। हमारा अधिक काम संभवतः आदिवासी क्षेत्र में होगा।

ग्रामोदय समिति का विचार फैलायें। कम-से-कम गाँव में तीन आदमी निकलें, जो ग्रामोदय के लिए उद्यत हों।

गाँव उत्पादन के प्रति मन में एक सेर अनाज दे। इतना होने पर ग्रामोदय समिति को मान्यता मिलेगी।

ग्रामोदय समिति के सदस्यों को खादीग्राम में एक महीने की ट्रेनिंग दी जाय। सारे गाँव से मिलें। कोशिश हो कि सदस्यों में दो पढ़े-लिखे हों, ताकि शिक्षक का काम कर सकें।

कार्यक्रम—शोषण-निराकरण का काम (भूमि, वस्त्र, शिक्षा और न्याय)।

नीति—चुनाव में नहीं लड़ेंगे, लेकिन सर्वसम्मति से चुने जायँ, तो काम करेंगे।

चुनाव में पार्टी को नहीं, सज्जन को वोट दें। गाँवभर मिलकर तय कर ले कि वोट किसे देना है। पार्टी को गाँव में अखाड़ा न बनाने दें। चुनाव की बातें हम तभी कहेंगे, जब हमसे पूछा जायगा। अपनी तरफ से प्रचार नहीं करेंगे। जो कार्यकर्ता गाँव में जायगा, वह अपनी जीविका के लिए अनुत्पादक-वर्ग से खलिहान नहीं लेगा, श्रमशाला, धर्मगोला आदि के लिए भले ही ले ले। हमें टिकना भी उत्पादक-वर्ग के ही घर में चाहिए। कार्यकर्ता उसी गाँव में निवास करेगा, जहाँ की ग्रामोदय समिति आग्रह करके उसे बुलायेगी, स्थायी केन्द्र का विचार अभी नहीं है।

एक क्षेत्र लेकर कार्यकर्ता उसमें फैले रहें। कभी-कभी मिलते रहें। इस तरह संस्था का स्वरूप तो हो, पर सीमा न हो। गाँव की जनता ही संस्था का सदस्य बने। हम अपना ध्यान अभी दक्षिण मुँगेर पर दें। एक साथ बँधा क्षेत्र होना चाहिए। क्षेत्र व्यक्ति का न होकर विचार और आंदोलन का हो।

साप्ताहिक श्रम का कार्यक्रम, आम प्रचार—रघुनाथ भाई, रवीन्द्र भाई, कोई और। हम बारी-बारी से अनुकूल क्षेत्र में रहें—कहीं बैठें या पदयात्रा करें साल में तीन महीने। अभ्यास में अकेले जाना है, सपरिवार नहीं। बहनें तैयार हो जा सकती हैं। एक महीना बाहर रहने पर कार्यकर्ता कुछ पायेगा नहीं, वह गाँव पर निर्भर रहेगा। उसकी अनुपस्थिति में बच्चे का पूरा खर्च 'पूल' होगा। पत्नी के पास ३०) छोड़कर बाकी सब 'पूल' में रख दिया जायगा। अगर स्त्री चाहेगी, तो आज की तरह ही रह सकेगी।

तात्कालिक कार्यक्रम

सन् १९५७ के पहले भी जो स्थायी रूप से जाना चाहेगा, जा सकेगा। उसका परिवार यहाँ रह जायगा। कोई अनुकूल क्षेत्र मिल जायगा और कार्यकर्ता की जरूरत मालूम देगी, तो उसे यहाँ से छोड़ा जा सकेगा, भले

ही यहाँ के काम का कुछ नुकसान हो। स्त्री चाहे, तो वह भी जा सकेगी। बच्चे यहाँ 'पूल' में रह जायँगे।"

उन दिनों खादीग्राम के मित्रों को भी ऐसी अनुभूति हो रही थी, मानो उनकी प्रगति रुक रही है। वैसे तो प्रगति रुकी नहीं थी, श्रमशाला तथा उसके जरिये आसपास के देहातों में व्यापक कार्यक्रम दिन-प्रतिदिन आगे ही बढ़ रहा था और उसके जरिये ग्राम-निर्माण कार्य के सिलसिले में देहातों में सामुदायिक जीवन भी धीरे-धीरे बन रहा था; फिर भी उन्हें लगता था कि आरोहण के पथ पर जैसे आगे की कड़ी दिखाई ही नहीं दे रही है। अतएव मैंने जब ऊपर की घोषणा की, तो खादीग्राम में अत्यन्त उत्साहवर्द्धक वातावरण बन गया। उसे देखकर मुझे बहुत खुशी हुई और मैं मानने लगा कि शायद ईश्वर खादीग्राम के साथियों से कुछ काम कराना चाहता है।

वैसे तो सन् १९५६ की शुरुआत ही खादीग्राम के लिए अत्यन्त उत्साहवर्द्धक थी। सन् १९५४ में चारों तरफ के विरोध एक तरह से समाप्त हो गये थे। १९५५ में श्रम-भारती-परिवार के आन्तरिक जीवन की साधना में भी कुछ सफलता दिखाई दी। कृषि, गोपालन आदि सभी विभागों में उत्साहवर्द्धक प्रगति दिखाई दी। बेदखली आदि स्थानिक अन्याय के प्रतिकार के कार्यक्रम से जनता तथा नेताओं में लोकप्रियता बढ़ी। फलस्वरूप दिसम्बर १९५५ में खादीग्राम के वार्षिकोत्सव को विशिष्ट सफलता मिली।

ढेबर भाई से अनुरोध

१९५५ का सितम्बर मास मैंने कलकत्ता शहर के लिए दिया था। उस समय कलकत्ता के कॉलेजों में तथा विभिन्न मुहल्लों में मैंने सर्वोदय के विचार का विवेचन किया था। तब विभिन्न दलों के नौजवान मेरे सम्पर्क में आये थे। इससे बंगाल में विचार का काफी प्रचार हुआ। निरन्तर अखबारों में रिपोर्ट छपने के कारण बिहार के विभिन्न दलों में भी उसका असर हुआ। उन्हीं दिनों ढेबर भाई कलकत्ता गये हुए थे।

'मैं मोटर से गिर पड़ा', यह सुनकर वे मुझे देखने आये। मैंने सहज ही उनसे पूछा कि क्या वे दिसम्बर में हमारे वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता करने के लिए आ सकते हैं? मैंने उनसे इसलिए भी आग्रह किया कि मैं चाहता था कि खादीग्राम के उत्सवों में विभिन्न पक्षों के लोग सम्मिलित हों। सन् १९५४ का उत्सव दादा (आचार्य कृपालानी) की अध्यक्षता में हुआ था, तो मैं सोचता था कि इस बार ढेबर भाई अध्यक्ष हों, तो अच्छा रहेगा। ढेबर भाई तुरन्त मान गये और मैंने खादीग्राम लौटकर यह बात साथियों को बतायी।

अक्तूबर, नवम्बर का मेरा समय बाहर ही बीत गया। नवम्बर के अन्त में लौटकर मैंने सोचा कि इस बार का सम्मेलन आन्दोलन के अगले चरण के सन्दर्भ में ही आयोजित किया जाय। १९५४ में भूदान का विचार पुष्ट हुआ, १९५५ में उड़ीसा में जाकर ग्रामदान का दर्शन हुआ। मुझे स्पष्ट दिखाई देता था कि ग्रामदान के कार्यक्रम के साथ-साथ अगर हम अगले कदम का दर्शन नहीं करायेंगे, तो दुनिया हमारे काम का सही चित्र नहीं देख सकेगी—यह सोचकर मैंने वार्षिकोत्सव के अवसर पर ग्राम-स्वराज्य के विचार-प्रचार का श्रीगणेश करने की बात सोची। पिछले साल खादीग्राम के आसपास पानी के सकट के कारण उस समस्या के समाधान में जन-शक्ति के उद्बोधन के लिए वार्षिकोत्सव को पानी-सम्मेलन का रूप दिया था। उसी प्रकार इस वर्ष अपने वार्षिकोत्सव को ग्रामराज-सम्मेलन का रूप देने का निर्णय किया। मैं चाहता था कि १९५६ में हम ग्रामराज या ग्राम-स्वराज्य के विचार-प्रचार पर ही अपनी शक्ति को केन्द्रित करें।

सभी दलों को निमन्त्रण

बिहार का सारा कांग्रेस समाज मेरा और खादीग्राम का कैसा विरोधी रहा, उसकी कहानी तुम लोगों को मालूम ही है। खादीग्राम के ग्रामराज-सम्मेलन के अवसर पर ढेबर भाई का अध्यक्ष होना मानो खादीग्राम के लिए आशीर्वाद ही था। मैंने इसे कांग्रेस के मित्रों के विरोध को घटाने का

एक अवसर ही माना। इसलिए मैंने बिहार के सभी मन्त्रियों तथा कांग्रेस अधिकारियों को स्वयं जाकर आमन्त्रित किया। दूसरे सभी पक्षों के नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को भी मैंने आमन्त्रित किया। सौभाग्य से सभी लोगों ने मेरा निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया।

काल अपना काम करता है। हर चीज का अपना अवसर तथा समय होता है। खादीग्राम की आन्तरिक साधना तथा आसपास की जनता की सेवा इतनी अधिक नहीं थी, जिसके द्वारा बिहार के सभी पक्षों के नेताओं का स्नेह प्राप्त करने की योग्यता हासिल हो सकती। फिर भी यदि सब लोगों ने प्रेमपूर्वक हमारा आमन्त्रण स्वीकार किया, तो इसे काल की महिमा या जमाने का चमत्कार ही कहा जायगा।

हृदयस्पर्शी दृश्य

सम्मेलन में ढेबर भाई के साथ मुख्य मन्त्री श्रीबाबू, अनुग्रह बाबू और सात अन्य मन्त्री, बिहार-कांग्रेस के अध्यक्ष, कांग्रेस के अनेक मुख्य कार्यकर्ता, पी० एस० पी० के नेता, बहन सुचेता तथा प्रान्त के दूसरे नेता, कम्युनिस्ट पार्टी के नेता भाई कार्यानन्द शर्मा तथा उनके अनेक मुख्य कार्यकर्ता जिस समय एक साथ एक ही प्लेटफार्म पर बैठे हुए थे, तो वह एक अद्‌भुत ही दृश्य बन गया था। सामने तीस-चालीस हजार जनता उस दृश्य को निहार रही थी और उनमें से काफी लोग आँसू भी बहा रहे थे। स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़नेवाले मित्र, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पृथक्-पृथक् हो गये थे, वे जब एक साथ एक प्लेटफार्म से जनता की भलाई के एक कार्यक्रम के समर्थन पर बोलते थे, तो सामने बैठे विशाल जन-समुदाय का हृदय गद्गद हो उठता था।

आन्दोलन की लोकप्रियता से खादीग्राम के मित्र काफी उत्साहित थे। ढेबर भाई, श्रीबाबू तथा दूसरे सभी मित्र खादीग्राम के साम्ययोग-प्रयोग, यहाँ की खेती और गोपालन आदि कार्यों की सफलता को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए। ढेबर भाई ने कहा : "जब धीरेन्द्र भाई ने मुझे खादीग्राम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया,

तो मैं समझता था कि यहाँ एक छोटा-सा आश्रम होगा, एक बुनियादी शाला होगी और आसपास के देहातों में चरखा आदि के द्वारा कुछ ग्राम-सेवा होती होगी, लेकिन यहाँ आकर यहाँ के सामाजिक प्रयोग तथा इस पत्थर पर की गयी भौतिक सफलता को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।"

सम्मेलन के बाद जब मैं श्रीबाबू से बात कर रहा था, तो उन्होंने मुझसे कहा : "धीरेन्द्र भाई, मैं यहाँ के बारे में इधर-उधर से कई बातें सुनता था, लेकिन आपने यहाँ इतना काम कर लिया है, इसकी कल्पना ही नहीं कर सकता था। आपने तो गजब का काम किया है।" मैंने मुस्कुराते हुए उन्हें जवाब दिया कि "यह सब आप जैसे बुजुर्गों के आशीर्वाद से ही हुआ है।" इस प्रकार बाहर से जितने मित्र आये हुए थे, सभी ने यहाँ के काम की प्रशंसा की।

इस प्रकार खादीग्राम की १९५६ की जिन्दगी व्यापक शुभकामना तथा स्नेहाशीष से ही प्रारम्भ हुई थी। फिर उसी वर्ष जनवरी तथा फरवरी के महीने में मैंने जिलेभर में ग्रामराज-सम्मेलन का आयोजन कराकर बड़ी-बड़ी सभाओं में उस विचार का प्रचार शुरू किया। इससे जिले में भी आन्दोलन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ।

लेकिन फिर भी कार्यकर्ताओं में कुछ जड़ता आने लगी। वे नित्य के कार्यक्रम के घेरे में कुछ मायूसी सी महसूस करते थे। मेरी समझ में नहीं आता था कि ऐसा क्यों है ? क्या इस देश का यह विशिष्ट चरित्र है ? सुनियोजित, सर्जनात्मक क्रान्ति के आरोहण के लिए तो वर्षों की साधना की आवश्यकता है। दुनिया में क्रान्ति के इतिहास में क्रान्तिकारी के जिन चरित्रों का दिग्दर्शन हुआ है, इस देश में उसका अभाव क्यों महसूस होता है ? क्रान्तिकारी का धैर्य तो मेंढक के धैर्य जैसा होता है। जाड़े में जब परिस्थिति अनुकूल नहीं होती, तो वह धैर्य के साथ महीनों गड्ढों में बैठा रहता है, गर्मी में जब अनुकूल वातावरण मिलता है, तो लम्बी छलाँगें

नौजवानों में निराशा

भरकर आगे बढ़ता है। पर हमारे आन्दोलन में जब लगातार एकाग्रता के साथ रचनात्मक काम करने का अवसर आता है, तब इस देश के नौजवान धैर्य खो देते हैं। देश के तरुणों में जीवन-शक्ति और जीवन-तत्त्व का ऐसा अभाव देखकर मैं परेशान होता था। जोशीले कार्यक्रमवाले आक्सीजन का इन्जेक्शन देकर यदि क्रान्तिकारी की जान बचाये रखने की आवश्यकता पड़ती है, तो ऐसे वाहन पर सवार होकर क्रान्ति देवी कहाँ तक पहुँचेगी ? मैं भारत के युवकों का यह हाल देखकर परेशान तो होता था, पर धैर्य नहीं खोता था। सोचता था कि देश में जो कुछ सामग्री है, उसीको लेकर तो हमें आगे बढ़ना होगा। मेरे लिए खादीग्राम में आरोहण के लिए पर्याप्त सामग्री थी, फिर भी साथियों की भावनाओं के लिए कुछ खुराक खोजता था, वह सहज ही उपलब्ध भी हो गयी।

जिस दिन मैंने साथियों का आह्वान करके अपनी घोषणा सुनायी थी, उस समय की उनकी प्रसन्नता को देखकर मुझे हर्ष अवश्य हुआ था; लेकिन जैसा कि मैंने कहा है कि ऐसा ही कार्यक्रम प्रसन्नता के लिए आवश्यक होता है, यह देखकर मुझे कुछ चिन्ता भी अवश्य हुई। लेकिन हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही ऐसा है, इसलिए अनुभव से इसमें भी सुधार होगा, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो गया और खादीग्राम के आन्तरिक प्रयोगों में एकाग्रता के साथ लग गया।

आह्वान का स्वागत

उन्हीं दिनों राष्ट्रीय शिक्षा के सन्दर्भ में मेरा जो विचार है, उसकी कुछ ऐतिहासिक कड़ी भी दिखाई देने लगी। मैं सोचता रहता था कि "क्या ग्राम-शाला का विचार अकस्मात् उठा हुआ राष्ट्रीय शिक्षा का विचार है या मानव-प्रगति की आवश्यकता की एक कड़ी मात्र है ?"

क्रमविकास

मनुष्य की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के साथ-साथ शिक्षा-पद्धति के प्रकार में भी परिवर्तन होता रहा है। केवल सुधारक

प्रगति की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ही नहीं, अपितु आकारात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी शिक्षा-संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा। मैं सोचता रहता था कि अति प्राचीनकाल में भारत में, पश्चिमी एशिया में तथा यूरोप और अन्य देशों में शिक्षा-संस्था का एक ही प्रकार यानी गुरुकुल का प्रकार चलता था। चाहे वह मानेस्टरी हो, मकतब हो और गुरुकुल या ऋषिकुल हो—पद्धति सबकी समान होती थी। कोई गुरु होता था, गृहस्थों के बच्चे वहाँ जाकर उसके साथ रहते थे और गुरु-परिवार बनता था। एक परिवार के बच्चे होने के नाते वे सब आपस में एक-दूसरे को गुरु-भाई मानते थे। इस तरह दुनिया में अनेक गुरुकुल थे, जहाँ शिष्य दीर्घकाल तक रहकर स्नातक बनते थे और फिर गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करने के लिए जाते थे। प्रारम्भ में समाज के बहुत थोड़े लोगों को विद्याभ्यास की आवश्यकता थी, इसलिए गुरुकुलों के आकार छोटे होते थे। धीरे-धीरे शिक्षा की चाह बढ़ने लगी और ऐसे गुरुकुलों का कलेवर भी बढ़ने लगा। एक नालन्दा में ही दस हजार विद्यार्थी छात्रावास में रहकर ज्ञानार्जन करते थे।

सार्वजनिक पाठशाला-पद्धति

लेकिन धीरे-धीरे दुनिया से राजतन्त्र का लोप होता गया, लोकतन्त्र का युग आता गया, तो शिक्षा की माँग अत्यधिक व्यापक होती गयी। फिर दस हजार शिष्योंवाले गुरुकुल भी निहायत नाकाफी साबित होने लगे। ऐसी हालत में शिक्षा-संस्थाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन होना आवश्यक था। फिर यह सम्भव नहीं था कि तमाम बच्चे घर से अलग होकर गुरुकुलों में जाकर रहें। यह भी प्रश्न था कि इतने बच्चों के लिए आखिर कितने गुरुकुल खोले जायँ। अतः शिक्षा की व्यापक माँग ने सार्वजनिक पाठशाला-पद्धति का आविष्कार किया।

फिर जमाना बदला। समाजवाद का विचार फैला। प्रत्येक मनुष्य के लिए समान अवसर की माँग हुई और वह माँग दिन-दिन बढ़ती गयी। समान अवसर की माँग तो हुई, लेकिन लोगों ने उसका अर्थ

नहीं समझा। विचार भावना-उद्दीपक था, इसलिए मनुष्य का इस ओर आकर्षण होना स्वाभाविक था। लेकिन उसके लिए मनुष्य को जो कीमत देने की जरूरत है, उसके लिए वह तैयार नहीं। समाजशास्त्रियों ने समझा कि बालिग मताधिकार से समान अवसर प्राप्त हो जायगा। पर उन्होंने यह नहीं सोचा कि जब तक प्रत्येक मनुष्य को बौद्धिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और नैतिक विकास के लिए समान अवसर नहीं मिलेगा, तब तक अवसर प्रदान की बात मौखिक मात्र होगी, वास्तविक नहीं। इसलिए यदि संसार में प्रत्येक को समान अवसर देना है, तो शिक्षा-पद्धति के प्रकार तथा शिक्षा-संस्थाओं के स्वरूप में ऐसा परिवर्तन करना होगा, जिससे प्रत्येक मनुष्य को उच्चतम विकास के लिए समान अवसर मिल सके। आखिर मानव का विकास शिक्षण-प्रक्रिया का ही विकास है न!

अनिवार्य शिक्षण की ओर

आज सारे संसार में अनिवार्य शिक्षण की बात चलती है। अधिकतर लोग ऐसा मानते हैं कि एक हद तक सबको शिक्षा दी जाय और उच्च शिक्षा की व्यवस्था कुछ लोगों के लिए ही की जाय। दूसरे उन्नत देशों में क्या होता है, मुझे मालूम नहीं। विदेशों में कहीं गया नहीं। पुस्तकें पढ़ने का व्यसन नहीं, विभिन्न मित्रों से विभिन्न रिपोर्टें सुनने को मिलती हैं, पर वे कभी-कभी परस्पर-विरोधी भी होती हैं। इसलिए स्वभावतः मेरा चिन्तन भारत की भूमि पर ही होता है। इस देश में सबको केवल प्राइमरी शिक्षा मिलने की व्यवस्था हो जाय, तो उसीको यहाँ के समाजशास्त्री समान अवसर मान लेंगे। लेकिन यदि गहराई से देखा जाय, तो क्या आज की पाठशाला-पद्धति से इतना थोड़ा भी होना शक्य है? पहली बात यह है कि प्राइमरी पाठशालाओं में पहुँचेगा कौन? जिसका बच्चा घर के काम-काज से तथा घर की अर्थ-योजना से मुक्त होगा, वही न! जिस देश में स्त्री-पुरुष और बच्चों के मिलकर मेहनत करने पर भी भरपेट खाना नहीं मिलता है, उस देश के बच्चों को दिनभर बैठाकर पढ़ाया कैसे जा सकता है? अतः आज के स्कूलों में

पढ़ने के लिए उन्हींको अवसर मिलेगा, जिनकी आर्थिक स्थिति ऐसी है, जो बच्चों को घर से खाली कर सकती है।

मैं बता चुका हूँ कि समान अवसर का अर्थ है, उच्चतम प्रगति लिए समान अवसर। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि भारत की आर्थिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि प्रत्येक बच्चे को घर से खाली किया जा सकता है, फिर भी यह प्रश्न आयेगा कि किस उम्र तक उसे खाली किया जा सकता है? उच्चतम श्रेणी तक पहुँचने की योग्यता रखनेवाले सभी बच्चों के लिए क्या अलग से शिक्षण-संस्थाएँ खोलना सम्भव होगा? इन तमाम प्रश्नों पर मैं गहराई से विचार करता रहा, तो मैंने देखा कि समाजवाद के इस युग में, समान अवसर की भावना के इस युग में, 'सर्वजन हिताय' और 'सर्वजन सुखाय' की आकांक्षा के इस युग में वर्तमान संस्थागत शिक्षण-पद्धति भी पुरानी हो गयी है। आज की सार्वजनिक शिक्षण-पद्धति भी इस युग की आकांक्षा तथा आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ हो रही है।

युग की आकांक्षा

वस्तुतः आज मैं अकेला ही इस दिशा में सोचता हूँ, ऐसी बात नहीं है। इधर कुछ वर्षों से ग्राम-विश्वविद्यालय की चर्चा काफी जोरों से हो रही है। आज देश की वर्तमान शिक्षा-पद्धति जिस तरह से देश के जवानों को निस्तेज तथा पुरुषार्थहीन बना रही है, उससे सभी वर्गों के नेता लोग चिन्तित हैं। अंग्रेज लोग ब्रिटिश नौकरशाही को मजबूत बनाये रखने के लिए इस देश में एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहते थे, जिसकी शकल-सूरत देशी हो, लेकिन दिल और दिमाग अंग्रेजी हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति चलायी। स्पष्ट है कि अत्यन्त सफलता के साथ वे अपने लक्ष्य तक पहुँच गये। उनकी सफलता इतनी पूर्ण थी कि उनके चले जाने के दस-ग्यारह साल बाद आज भी देश का शिक्षित वर्ग उसी प्रकार से जन-जीवन से

वर्तमान शिक्षा-पद्धति

अलिप्त, नौकरशाहीवाली मनोवृत्ति का ही बना हुआ है। इसीसे देश के राष्ट्रीय नेता शिक्षित वर्ग द्वारा संगठित सरकारी तन्त्र की मार्फत राष्ट्र-विकास की चेष्टा में असफल हो रहे हैं, क्योंकि देश की जनता से समरस हुए बिना इस देहाती राष्ट्र की लोक-चेतना को जगाना ऐसे वर्ग के लिए सम्भव नहीं।

अतएव राष्ट्रीय नेता इस विषमय शिक्षा-पद्धति के बदले में ऐसी शिक्षा-पद्धति की खोज में हैं, जिसके फलस्वरूप देश के जवान सतेज और प्राणवान् बन सकें। ऐसी शिक्षा-पद्धति की खोज के लिए वे समय-समय पर शिक्षा-कमीशनों की नियुक्ति करते रहते हैं। इन कमीशनों के सदस्य देश के अनेक विद्वान् तथा शिक्षा-विशारद देश की परिस्थिति का अध्ययन कर एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं। प्रायः सभी यह बात कहते हैं कि देश की राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप चाहे जो हो, ग्रामीण जीवन से उसका ओतप्रोत रहना अनिवार्य है। कारण भारत मुख्यतः ग्रामीण राष्ट्र है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा हो किस प्रकार ? गहराई से विचार करने पर अनिवार्य रूप से हर विचारक बापू की नयी तालीम की ओर आकर्षित होता है।

तर्क से विचार पुष्ट होता है, लेकिन आचार निखरता नहीं। आचार का स्रोत संस्कार है। जब बुद्धि और संस्कार का परस्पर विरोध होता है,

शिक्षा के विकल्प की खोज

तो मनुष्य का व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है। बुद्धि उसे तर्कशुद्ध परिणाम की ओर आकर्षित करती है और संस्कार उसे पुरातन रूढ़ि में फँसाये रखता है। फलस्वरूप जहाँ वह बुद्धि से कुछ आगे बढ़ता है, वहाँ संस्कार उसे पीछे घसीटता रहता है। परिणाम यह होता है कि वह एक ही स्थान पर स्थिर रह जाता है।

दुर्भाग्य से वर्तमान शिक्षा के विकल्प की खोज ऐसे ही विद्वान् करते हैं, जो इसी विषमय शिक्षा की उपज हैं। ग्रामीण जीवन से ये केवल अलिप्त ही नहीं, सुदूर भी हैं। यही कारण है कि वे बुद्धि से बापू की

नयी तालीम की प्रशंसा करते हैं, उसके विचार को मानते हैं, उसके शास्त्रीय पहलुओं को स्वीकार करते हैं; लेकिन जब उसे अपनाने लगते हैं, तो प्रकार में आमूल परिवर्तन कर डालते हैं। बाइबिल में लिखा है कि भगवान् ने मनुष्य को अपनी ही शक्ल में बनाया, क्योंकि उसकी आकांक्षा अपनी सृष्टि को अपने ही अनुरूप बनाने की रहती है। अब ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही रूप मे बनाया है, तो निःसन्देह मनुष्य की आकांक्षा ईश्वर की आकाक्षा से भिन्न नहीं होगी। अतएव यह स्वाभाविक है कि मनुष्य भी अपनी सन्तान को अपने ही अनुरूप बनाये। इसलिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति की उपज विद्वान् स्वभावतः जब नयी तालीम के माध्यम से अपनी सन्तान के जीवन को बनाना चाहते हैं, तो वे उसे अपने ही अनुरूप देखना चाहते हैं। इसलिए राष्ट्रीय आवश्यकता के संदर्भ में विचार करने पर जब वे नयी तालीम को मान्य कर उसे अपनाते हैं, तो उसके प्रकार में इतना फर्क कर देते हैं, जिससे इस तालीम की उपज सन्तान भी उनके अनुरूप बन सके।

शिक्षा की सशंकित स्थिति

यही कारण है कि राष्ट्रीय सरकार और नेता नयी तालीम को राष्ट्रीय शिक्षा का प्रकार तो मानते हैं, पर उस तालीम से उन्हें सन्तोष नहीं होता। रह-रहकर वे यह मानने लगते हैं कि नयी तालीम से पुरानी तालीम ही अच्छी है, क्योंकि नयी तालीम के नाम से वे जिस तालीम को अपनाते हैं, उसकी उपज को वे पुरानी तालीम की उपज से घटिया देखते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है। वह घटिया होगा ही, क्योंकि लोग नयी तालीम से निकले स्नातकों को पुरानी तालीम के स्नातकों के समान ही देखना चाहते हैं और आयोजनपूर्वक नयी तालीम के रूप को उसके अनुसार बनाने की कोशिश करते हैं। फलस्वरूप वे बापू की नयी तालीम का स्वधर्म छोड़ देते हैं और पुरानी तालीम के स्वधर्म की पृष्ठभूमि पर नयी तालीम को खड़ा करना चाहते हैं। उसका परिणाम ऐसा होगा ही।

इस प्रकार देश के शिक्षाशास्त्रियों तथा नेताओं को आज पुरानी तालीम के नतीजों से बेचैनी है, लेकिन नयी तालीम से भी समाधान नहीं है। ऐसी सशंकित स्थिति में आज की शिक्षा पड़ी हुई है। स्वभावतः जब लोग यह देखते हैं कि शिक्षित वर्ग को ग्राम्य-जीवन से ओत-प्रोत किये बिना राष्ट्र की प्रगति असम्भव है, तो उनके दिल में ग्राम-विश्वविद्यालय की कल्पना का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही है।

ग्राम-विश्वविद्यालय की ओर

ग्राम-विश्वविद्यालय की चाह बढ़ रही है, लेकिन वह हो कैसे ! अपनी सन्तान को अपने जैसा ही बनाने की सनातन आकांक्षा शिक्षित जनों के संस्कार मे बद्धमूल है। ग्राम-विश्वविद्यालय की रूपरेखा सोचने में भी वे वही भूल करते हैं, जो भूल वे बापू की नयी तालीम के विचार के अनुसार बुनियादी शिक्षा को चलाने में करते हैं। नतीजा यह होता है कि ग्राम-विश्वविद्यालय बनने के बाद वह ग्राम-विश्वविद्यालय न होकर गाँव में एक विश्वविद्यालय का रूप ले लेता है और ग्रामीण भूमि में पुरानी मनोवृत्ति का ही निर्माण हो जाता है। इसे देखकर भी विकल्प के अन्वेषकों को समाधान नहीं होता है। समाधान चाहे न हो, फिर भी आज देश का चिन्तन उसी दिशा मे है, जिस दिशा में सणोसरा-सम्मेलन के बाद मैं जोरों से विचार कर रहा हूँ। इसलिए मैं कह रहा था कि ग्रामशाला या ग्राम-भारती का विचार कोई मेरे अकेले का नहीं है। देश के सभी विचारशील व्यक्ति इस बारे में सोचते हैं। लेकिन मेरे चिन्तन की दृष्टि और दिशा उनकी दृष्टि और दिशा से सम्पूर्ण भिन्न है, यह तो तुम देख ही सकती हो।

इस प्रकार अपने साथियों को गाँव के सहारे गाँव के ही नागरिक बनकर उनमें विलीन होने की जो घोषणा की, उसके पीछे केवल आन्दोलन के अगले चरण का ही विचार नहीं था, नयी तालीम का भविष्य-चिन्तन भी था। वस्तुतः मेरे दिमाग में आन्दोलन की प्रगति और नयी तालीम का विस्तार कभी दो चीज नहीं रहे हैं। इसलिए अगर मैं कहूँ कि साथियों को

गाँव-गाँव में विलीन करने की घोषणा कुछ मेरे दिमाग की उपज नहीं थी, बल्कि आन्दोलन की सहज कड़ी मात्र थी, तो गलत नहीं होगा। वैसे यह कदम दस साल पहले ही उठाना चाहिए था, जब बापू ने चरखा-संघ के सामने नया ,विचार रखा और कहा था कि संघ को सात लाख गाँवों मे विभक्त हो जाना है और कार्यकर्ताओं को स्वावलम्बी बनकर जन-जन में विलीन हो जाना है।

०००

क्रान्ति-यात्रा का निर्णय : ३० :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-१२-'५८

एक ओर से इन बातों पर विचार चल रहा था कि हम सब गाँव में फैल जायँ, ग्राम-स्वराज्य के विचार जनता में फैलायें, इसके लिए रचनात्मक पुरुषार्थ की प्रेरणा जगायें और जहाँ तक संभव हो, गठनमूलक कार्यक्रमों का संगठन किया जाय और दूसरी ओर से ऐसा प्रयत्न चल रहा था कि श्रमशाला के माध्यम से आसपास के देहातों में प्रवेश कर उनमें ग्रामदान तथा ग्राम-स्वराज्य का विचार जगाया जाय। उनमें सामुदायिक पुरुषार्थ जगाने के लिए बाँध बाँधने के कार्यक्रम चलाने का विवरण पहले लिख चुका हूँ। किस तरह बच्चों की मार्फत किसानों की खेती-बारी में सुधार करने की योजना बनाने की कोशिश कर रहा था, वह भी लिख चुका हूँ। अब शनैः-शनैः आसपास ग्रामशाला का कार्यक्रम कैसे शुरू किया जाय, इसकी चर्चा चली। कौन शुरू करे, कहाँ से शुरू हो, बालवाड़ी के बाद शिशु-विहार या बुनियादी शाला हो इत्यादि प्रश्नों पर प्रायः चर्चा होती रहती थी। इसी बीच १९५६ के अन्त में सभी प्रान्तों के प्रमुख कार्यकर्ताओं का खादीग्राम में एक शिविर आयोजित किया गया था। उसमें कार्यकर्ताओं के अलावा सर्वोदय-विचार का आकर्षण रखनेवाले कुछ नये तरुणों को भी आमन्त्रित किया गया था। चर्चा का विषय यह था कि १९५७ में क्रान्ति की तीव्रता कैसे पैदा की जाय। चर्चा का सार यह रहा कि सन् १९५७ में सर्वोदय विचार के अनुसार रचनात्मक कार्यकर्ता अपने सामान्य काम को कुछ स्थगित करके देशभर में पद-यात्रा करें। विनोबाजी ने तो आज की परिस्थिति में क्रान्ति-यात्रा को ही नयी तालीम के लिए तात्कालिक प्रक्रिया माना है।

इस शिविर मे जयप्रकाश बाबू ने तरुणों का आह्वान करते हुए कहा था कि कम-से-कम सालभर के लिए वे अपनी पढ़ाई स्थगित करके क्रान्ति के लिए आगे बढ़े।

हमारे तरुण साथी भाई नारायण देसाई और विमला बहन आदि तो दो-तीन दिन लगातार खादीग्राम के कार्यकर्ताओं तथा विद्यार्थियों को इस बात के लिए उकसाते रहे कि वे अवश्य ही क्रान्ति-यात्रा में शामिल हों। उन्हें भय था कि संस्था के अन्तर्गत होने के कारण वे शायद इस दिशा मे सोच न सकें।

क्रान्तिकारी कौन?

शिविर-समिति के बाद नारायण भाई, नवबाबू, दादा धर्माधिकारी, विमला बहन और दो-एक नौजवान एक दिन के लिए खादीग्राम में रुक गये थे। उस दिन भी उन्होंने यहाँ के साथियों को उकसाने की कोशिश की। शाम को भाई नारायण मुझसे पूछने आये कि आप लोग संस्था में बैठे रहेंगे? क्रान्ति मे शामिल नहीं होंगे? मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की कि उनकी यह धारणा गलत है कि संस्था मे बैठकर काम करने से क्राति नहीं होती है। मैंने उनसे पूछा कि क्या झण्डा फहरानेवाला ही क्रांति करता है, झण्डा सीनेवाला नहीं? मुझे याद था कि स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों मे झण्डा सीनेवालों की भी गिरफ्तारी होती थी। मालूम नहीं कि नारायणभाई को इसकी जानकारी थी या नहीं। फिर मैंने विनोद में कहा कि "पुराने जमाने में लोग मानते थे कि सिर काटने से ही क्रांति होती है। इस गाधी-युग मे लोगों ने इतना तो समझ लिया है कि बिना सिर काटे भी क्राति हो सकती है। लेकिन गाधी-युग में भी विनोबा की बदौलत अब तुम लोग दूसरी बात मानने लगे हो, वह यह कि सिर काटने से तो नहीं, लेकिन चक्कर काटने से ही क्राति होती है।" मैंने जोर से कहा कि "यह सब तुम लोगों का वहम है। हम लोग खादीग्राम में बैठकर बहुत बड़ी क्रांति कर रहे हैं।" काफी देर तक यह चर्चा चलती रही।

मैं नारायण भाई से तो इस प्रकार की बातें कर रहा था, लेकिन मेरे मन में कुछ दूसरी ही चीज चल रही थी। जिस समय जयप्रकाश बाबू ने शिक्षण-संस्थाओं को आह्वान किया था कि वे अपना कार्यक्रम स्थगित करके क्रांति-यात्रा में शामिल हों, उसी समय मेरे मन में यह विचार उठा कि अगर जयप्रकाश बाबू ने आह्वान किया, तो सर्व-सेवा-संघ की ओर से ही यह आह्वान है, ऐसा मानना चाहिए। ऐसी हालत में सर्व-सेवा-संघ की शिक्षण-संस्था .अपना नियमित कार्यक्रम चलाती रहे और बाहर के लोगों का आह्वान करती रहे, यह शोभनीय नहीं है। इसलिए सबसे पहला कदम श्रम-भारती को ही उठाना चाहिए, नहीं तो जयप्रकाशजी की वाणी में तेज नहीं आयेगा। ऐसा विचार कर सोचने लगा था कि इसका स्वरूप कैसा हो? शिक्षक और बड़े बच्चे निकल सकते हैं और शायद कुछ कार्यकर्ता भी निकल सकेंगे। लेकिन उतने मात्र से क्या ऐसा कोई असर हो सकेगा, जिससे आन्दोलन को वेग मिले। मुझे ऐसा नहीं लगता था कि ऐसा कुछ हो सकेगा। एकाएक एक विचार आया। मैंने सोचा कि २ अक्तूबर १९५७ से साथियों को बाहर निकलना है, ऐसी बात कह ही चुका हूँ, तो वह तारीख अगर पहली जनवरी ही हो जाय, तो क्या अन्तर पड़नेवाला है? बल्कि पहले के निश्चय के अनुसार केवल श्रम-भारती के ही लोग निकलें, तो वे देश में अकेले पड़ जायँगे। इस समय आन्दोलन की ओर से पूरे देश का आह्वान है, तो हमारे साथियों को भी विशेष प्रेरणा मिलेगी और बड़े निर्णय का अंग होने के नाते उन्हें बल भी मिलेगा। आन्दोलन के मान्य नेताओं के आह्वान पर यह कदम उठाने के कारण इसका असर दूसरों पर भी पड़ेगा।

विचार-मन्थन

इतना सोचकर मैंने करीब करीब निश्चय ही कर लिया था कि साथियों से कहूँ कि वे सब सपरिवार सालभर तक जिलेभर की पदयात्रा करें। लेकिन हमेशा की आदत के कारण मैं जल्दबाजी में नहीं था। उसके लिए हर पहलू पर विचार कर रहा था। सब निकल जायँगे, तो

खादीग्राम का क्या होगा ? कुछ पहरेदारों का प्रवन्ध करके बन्द रखा जाय, तो गाय बैलों का क्या होगा; जो लोग बाहर जायँगे, उनके परिवार शायद पूरे साल तक नहीं घूम सकेंगे, तो उनका क्या प्रबन्ध होगा इत्यादि बातों पर विचार करता रहा। अन्त में यही निश्चय किया कि घोषणा कर ही दी जाय, क्रान्ति के आरोहण में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है, जब इतनी बातों पर विचार करने का अवसर नहीं मिलता।

सालभर पदयात्रा का विचार

वस्तुतः नारायण भाई से दलील करने के पूर्व ही मैं करीब-करीब निर्णय कर चुका था। इसलिए उनकी बहस के आखिर में मैंने कहा कि "यह सही है कि तुम लोग तरुण हो और क्रान्तिकारी हो, लेकिन इतना निश्चित रूप से जान लेना कि मैं तुम लोगों से कम क्रान्तिकारी नहीं हूँ और शायद तुम लोग मेरे कदम से कदम भी नहीं मिला सकोगे।" यह सब बातें मैं विनोद में ही कर रहा था। दूसरे दिन सबेरे प्रार्थना के बाद ही मैंने अपनी बात कह सुनायी।

प्रार्थना-प्रवचन के समय नारायण भाई आदि भी उपस्थित थे। शायद वे यहाँ भी कुछ प्रश्न पूछनेवाले थे, लेकिन मेरी घोषणा सुनने की शायद किसीकी तैयारी नहीं थी, इसलिए फिर कोई प्रश्न नहीं उठा। वे वैसे ही काफी उत्साहित हो गये थे। दादा और विमला बहन ने उस समय तो कुछ नहीं कहा, बाद में बोले कि "आपने यह ठीक नहीं किया। विनोबा या जयप्रकाश बाबू जिन संस्थाओं के लोगों को निकालने के लिए कहते हैं, उनकी भूमिका खादीग्राम की भूमिका से अलग है। यहाँ आप लोग जिस तरह के संस्कारों का निर्माण कर रहे हैं, वे इस आन्दोलन के लिए आवश्यक प्रेरणादायी तथा पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने और भी कहा कि इस तरह आपका यह बना-बनाया Base (आधार) बिखर जायगा, फिर आप इसको पुनः संगठित नहीं कर सकेंगे। लेकिन मैंने कहा कि आन्दोलन के लिए तो यह आवश्यक ही है। दादा को ही नहीं, और

प्रार्थना-प्रवचन में घोषणा

भी कई लोगों को ऐसा लगता था कि यह कदम ठीक नहीं हुआ। लेकिन भाई सिद्धराज और सर्व-सेवा-संघ के अन्य काफी लोग काफी उत्साहित थे।

सुबह मैंने अपने साथियों से कहा कि "उन्होंने जयप्रकाश बाबू का आह्वान सुना है। आन्दोलन की गतिविधि को बराबर ध्यान में रखा है। विनोबाजी के भाषण भी सुने हैं। देश में सन् १९५७ एक विशेष स्थान रखता है, इसलिए जनता भी '५७ की विशेष आशा रखती है। श्रम-भारती-परिवार ने सर्वोदय-संसार में कुछ विशिष्ट आशाओं का निर्माण किया है। गिरते-पड़ते भी उन्होंने श्रम और साम्य का कुछ नमूना पेश किया है। अभी दो-एक दिन से नारायण भाई, विमला बहन आदि आप लोगों से इतनी चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि आपसे उनकी कुछ अपेक्षाएँ हैं। विनोबाजी ने सन् '५७ का साल प्रचार के लिए विशिष्ट साल माना है। आज कार्यकर्ताओं में आशा और उत्साह है। ऐसे समय में श्रम-भारती-परिवार के सब लोग सालभर तक क्रान्ति-यात्रा करें, तो मुझे बहुत खुशी होगी। सब भाई लोग जायँ, बहनें भी उनके साथ जायँ और सम्भव हो, तो बच्चों को भी साथ रखें। बहनों और बच्चों में से जो साथ नहीं जा सकेंगे, वे सब मेरे पास रहेंगे। वैसे तो मैं पहले ही कह चुका था कि आप लोगों को २ अक्तूबर से गाँव में जाकर बसना है, लेकिन उस समय की योजना में और आज के निकलने में अन्तर है। वह योजना खादीग्राम के कार्यक्रम को गाँव-गाँव में विलीन करने की योजना थी, लेकिन यह यात्रा जिलेभर में फैलकर क्रान्ति की प्रेरणा देने की यात्रा होगी।"

मैंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक देखा कि श्रमभारती-परिवार के सभी भाई-बहनों ने मेरे निर्णय को उत्साह के साथ स्वीकार किया। बड़े बच्चे भी उत्साहित थे, लेकिन प्रश्न यह था कि पद-यात्रा का संगठन किस तरह किया जाय, उसकी पूर्व तैयारी कैसे हो? हमने यही तय किया था कि मुँगेर जिले के अन्तर्गत ही सघन-यात्रा की जाय। पूर्व तैयारी के लिए दो महीने का समय रखा, जिससे छब्बीस वर्ष का वार्षिकोत्सव २६

साथियों को निर्णय स्वीकार

जनवरी के दिन यात्रा के प्रथम पड़ाव पर ही मनाया जाय। यह योजना सोचकर भाई पंचदेव तिवारी के साथ दो-एक कार्यकर्ता तथा उत्तर-बुनियादी के छात्रों को पूर्व तैयारी के लिए भेज दिया गया। विचार यह था कि पूर्व तैयारी के सिलसिले में किधर से यात्रा का प्रारम्भ किया जाय, जिसमें स्थानीय लोगों को अधिक-से-अधिक साथ ले सकें, इसकी भी जाँच कर लें। पूर्व तैयारी की टोली को रवाना करके मैंने मुँगेर जिले के निवेदक भाई रामनारायणजी को बुलाया। रामनारायण बाबू तथा जमुना बाबू खादीग्राम के मित्र ही नहीं, बल्कि जिले में हमारा एक बहुत बड़ा सहारा है। यह खबर सुनकर वे अत्यन्त उत्साह के साथ खादीग्राम पहुँचे और मुझसे आकर उन्होंने पहली बात यही पूछी कि "आपने अचानक यह क्या निर्णय कर लिया ?" मैंने उन्हें आन्दोलन की स्थिति समझायी और कहा कि आन्दोलन के भविष्य के लिए यह आवश्यक है।

रामनारायण बाबू के साथ हम लोगों ने काफी चर्चा की। उन्होंने कहा कि यह कार्यक्रम बहुत क्रान्तिकारी तथा आन्दोलन को आगे ले जानेवाला तो अवश्य है, परन्तु खादीग्राम भी बन्द न होकर किसी-न-किसी रूप में चलता रहना चाहिए, क्योंकि इसका भी देश पर बड़ा असर है। वैसे तो खादीग्राम की शिक्षण-प्रवृत्ति के अतिरिक्त सारे काम किसी-न-किसी रूप में चलाने के लिए तीन-चार साथियों को नहीं जाना है, यह मैंने पहले ही दिन कह दिया था; लेकिन इतने से ऐसा नहीं दिखाई देता कि खादीग्राम चल रहा है। फिर भी उतने पैमाने पर अगर चलता रहता है, तो पद-यात्रा के लिए यह एक छोटा आधार जरूर बनता है। मैंने रामनारायण बाबू को यही बताया, इससे उन्हें सन्तोष हुआ।

इधर कई महीनों से सर्व-सेवा-संघ के मुख्य दफ्तर की हालत अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। अण्णासाहब को कोरापुट में बैठाना पड़ा। भाई सिद्धराज बीमारी तथा प्रान्तों में दौरों के कारण दफ्तर में रह नहीं पाते थे, वल्लभस्वामी को भी दक्षिण में विनोबाजी की मदद के लिए भेजना पड़ा था। केवल दफ्तर-मन्त्री भाई कृष्णराज वहाँ रह गये थे। दफ्तर

मुख्य दफ्तर खादीग्राम में

के कार्यकर्ताओं में विचार-निष्ठा कम थी। जीवन में भी कोई अनुशासन नहीं था। कृष्णराज भाई को भी कभी-कभी गैरहाजिर रहना पड़ता था, क्योंकि विनोबाजी ने उन्हें बिहार के काम में मदद करने की जिम्मेदारी सौंपी थी। इस तरह कुल मिलाकर दफ्तर बड़ी ही शोचनीय दशा में था। विचार-निष्ठा की कमी से कार्यकर्ताओं में गाम्भीर्य का अभाव था। भाईचारे का विचार जब आदर्श से अलग होता है, तो उसका सहज परिणाम जो होना चाहिए, वह हुआ—यानी दफ्तर के वातावरण में अनुशासन-हीनता का आधिक्य रहा। इस स्थिति को देखकर मैं चिन्तित रहता था। सर्व-सेवा-संघ की साधारण सभाओं तथा प्रबन्ध समिति की बैठकों में हर बार यह कहता था कि अगर आन्दोलन को ठीक से चलाना है, तो यह आवश्यक है कि प्रान्तों के मुख्य कार्यकर्ता प्रान्त का कार्यभार दूसरों को सौंपकर अखिल भारतीय केन्द्र को मजबूत करें। लेकिन विनोबाजी और जयप्रकाश बाबू से लेकर सभी साथी इसे ठीक नहीं मानते थे। इसलिए मैं इस विचार में अकेला ही पड़ जाता था। आज भी मेरी दृष्टि यही है कि प्रान्तों के मुख्य कार्यकर्ताओं को यह नहीं समझना चाहिए कि उनके दूसरे साथी कार्यभार को ठीक से नहीं चला सकेंगे और यदि कुछ खतरा मालूम होता हो, तब भी उन पर ही काम छोड़कर अखिल भारतीय टीम बनानी चाहिए। विशेषतः तन्त्र-मुक्ति के सम्बन्ध में यह अत्यन्त आवश्यक है, नहीं तो केन्द्र की ओर से जोरदार प्रेरणा के अभाव में नीचे के कार्यकर्ताओं में निराशा फैलेगी। साथ-साथ दूसरे नये तरुण कार्यकर्ता आगे नहीं बढ़ेंगे। नतीजा यह होगा कि कार्यकर्ताओं का प्रवाह रुक जाने से आन्दोलन का प्रवाह भी कुंठित हो जायगा। अभी पिछले सप्ताह सोखोदेवरा में जयप्रकाशजी के साथ देश के सभी मुख्य कार्यकर्ताओं ने उपस्थित होकर चर्चा की थी। वहाँ भी मैंने इसी बात पर जोर दिया था। यद्यपि सभी लोग यह मानते थे कि अगर लोग बीच-बीच में मिलते रहें, तो काफी होगा, फिर भी मेरा विचार भिन्न था। मैं

इसी बात पर जोर देता था कि सब लोग एक साथ रहें। इधर-उधर के प्रयोग हम लोग, जो कुछ पुराने हो गये हैं, करते रहें और दूसरी आयु के लोग साथ मिलकर एक परिवार या टीम बनायें। टीम बनाने के लिए सह-चिन्तन और सह-सम्वाद मात्र पर्याप्त नहीं है, उसके लिए दीर्घ सहवास की आवश्यकता है, इस बात पर भी मैं जोर देता रहा।

इस प्रकार का विचार निरन्तर प्रकट करते रहने के बावजूद मैं शायद अन्त तक अकेला ही रहा। इसी कारण प्रधान केन्द्र की दुर्दशा को देखकर भी कोई उपाय नहीं सूझ रहा था।

श्रम-भारती-परिवार के बाहर निकलने से खादीग्राम के बहुत-से 'निवास' खाली हो गये थे। मैंने सोचा कि अगर दफ्तर खादीग्राम में लाऊँ और अपनी ही देखरेख में चलाऊँ, तो सम्भवतः वातावरण कुछ सुधर जाय। खादीग्राम की प्रवृत्तियों के साथ जुड़े रहने से दफ्तर के कार्यकर्ताओं की दृष्टि व्यापक होगी और विचार में पुष्टि आयेगी, ऐसी सम्भावना थी। श्रम और साम्य के वातावरण से भी उनको लाभ होगा, यह भी ध्यान में आया। यह समझकर मैंने साथियों को बाहर भेजने से पहले ही दफ्तर को गया से खादीग्राम बुला लिया। खादीग्राम में दफ्तर लाने से उनके कार्यक्रम में परिवर्तन हुआ। कार्यक्रम में श्रम दाखिल हुआ और देहाती वातावरण के प्रभाव से उनके मानस का भी कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ। लेकिन यहाँ का जीवन उनमें से बहुतों को पसन्द नहीं था, इसलिए चार-पाँच साथियों को छोड़कर शेष सभी चले गये। फिर उतने ही कार्यकर्ताओं को लेकर तथा खादीग्राम के बचे हुए साथियों को लेकर मैंने किसी तरह दफ्तर का काम जारी रखा।

इस प्रकार खादीग्राम के इतिहास का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

ललमटिया का ग्रामदान

: १ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१९-१२-'५८

प्रिय आशा बहन,

श्रम-शाला के माध्यम से आसपास के देहातों से जो सम्पर्क बढ़ा था, उसका उल्लेख मैं कर चुका हूँ। गाँव में छोटे-मोटे बाँध से ही सही, जब सामूहिक पुरुषार्थ का श्रीगणेश हुआ, तो उन्हें आत्म-प्रत्यय का कुछ भान होने लगा। बच्चों की मार्फत उनके परिवारों में परस्पर सहयोग की भावना भी बढ़ने लगी। लकड़ा गाँव में एक लड़के का खेत घर पर आत्मशक्ति के अभाव के कारण कई साल से आबाद नहीं हो सका था, लेकिन इस साल सब बच्चों ने मिलकर उसका खेत आबाद कर दिया। बच्चों के साथ शिक्षक भी शामिल थे। इन तमाम कारणों से लोगों में अच्छी जाग्रति हुई। अब तक यद्यपि हमारा व्यवहार यहाँ के मजदूरों के साथ भाईचारे का था, फिर भी उन्हें यह प्रत्यय नहीं था कि हम लोग उनकी वास्तविक सेवा के लिए आये हुए हैं। आम तौर पर जो बड़ी-बड़ी शिक्षण-संस्थाएँ बनती हैं, हमारी संस्था भी कुछ वैसी ही संस्था है, ऐसा वे मानते थे। लेकिन इस प्रकार गाँव के लोगों के साथ घुल-मिलकर उनके ही काम में साथ देने से उनकी भावनाओं में कुछ परिवर्तन होने लगा। कई गाँवों में गाँवभर के लोग रात को बैठक करने लगे और गाँव की उन्नति की बातें सोचने लगे। इन बैठकों में वे हम लोगों को भी न्योता देने लगे। चर्चा के दौरान में ग्रामदान की चर्चा भी होती थी।

खादीग्राम से चार मील की दूरी पर बेला पहाड़ की तराई पर जंगलों के बीच संथालों की कई बस्तियाँ हैं। उनमें बदरौठ नाम का एक छोटा-सा गाँव है। उस गाँव के लड़के और लड़कियाँ काफी तादाद में

श्रमशाला में पढ़ने आते थे। इस कारण खादीग्राम के भाई-बहनों का बदरौठ में आना-जाना काफी रहता था। बदरौठ में पानी जमा करने की अच्छी गुंजाइश थी, लेकिन बाँध के अभाव के कारण वे लोग लाचार रहते थे। हम लोगों ने वहाँ सामूहिक श्रम से बाँध बाँधने की योजना बनायी। खादीग्राम के नियमित कार्यक्रम के अनुसार हर शुक्रवार को हम स्त्री, पुरुष और बच्चे नियमपूर्वक उसे बाँधते थे। धीरे-धीरे जैसे-जैसे बाँध ऊँचा होता गया, वैसे-वैसे गाँव के निवासियों का उत्साह बढ़ता गया तथा सामूहिक शक्ति का भान होता गया। संथाल होने के कारण उनकी श्रम-शक्ति अद्भुत है। आधुनिक सभ्यता के आक्रमण के बावजूद उनमें सहकार-वृत्ति मौजूद है। इसलिए हम लोगों के चले आने के बाद भी वे मिलकर बाँध बाँधा करते थे। यहाँ के भाई-बहन कभी-कभी रात को भी टिक जाते थे और उन लोगों से चर्चा किया करते थे। मिलकर काम करने पर उनकी तरक्की हो सकती है, इसका दर्शन भी उन्हें मिल चुका था। इन तमाम भावनाओं के साथ हम लोग ग्रामदान का विचार भी बताया करते थे। आखिर हमारे साथियों ने उनसे ग्रामदान-पत्र भरवा ही लिया।

बदरौठ का ग्रामदान

ग्रामदान-पत्र भरने के दूसरे दिन वे मेरे पास आये और बड़ी खुशी के साथ ग्रामदान होने की खबर मुझे सुनायी। ग्रामदान की खबर सुनकर मुझे खुशी हुई। लेकिन मैंने कहा कि "तुम लोगों ने जल्दी की, विचार खूब पक जाता, तब दान-पत्र भरवाते, तो ठीक होता।" लेकिन साथियों में उमंग थी, इसलिए मैंने उन्हें रोका नहीं। कारण, वे कहने लगे थे कि "हम लोगों ने अच्छी तरह से देख लिया है, वे अत्यन्त दृढ़ हैं।"

बदरौठ के ग्रामदान की खबर बिजली के समान चारों ओर फैल गयी। यह स्थान अत्यन्त प्रतिक्रियावादी इलाका है। इन लोगों ने खादीग्राम में हमें जमने न देने के लिए जो संगठित चेष्टा की थी, उसका

विवरण में तुम्हें लिख ही चुका हूँ। बदरौठ के ग्रामदान की खबर से आसपास के बड़े भूमिवान, महाजन और सरकारी कर्मचारी—सबके कान खड़े हो गये। वे समझने लगे कि यदि आदिवासियों में ग्रामदान की हवा बह गयी, तो आज तक जिस तरह उनका शोषण हो रहा है, वह सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए चारों तरफ से सब लोग इसी कोशिश में लगे कि वे ग्रामदान वापस ले लें। उन्हें बहकाने के लिए उन्होंने अपने अनुगृहीत आदिवासियों को ही इस्तेमाल करना शुरू किया। वे वहाँ जाते थे और उनसे नाना प्रकार की गप करते थे। कुछ फुसलाते थे, कुछ धमकाते थे। कहते थे कि तुमने विनोबा के नाम दान-पत्र लिखकर अपनी उँगली कटा ली। अब खादीग्रामवाले तुम्हारी सब जमीन पर अपना दखल कर लेंगे। कोई उनसे कहता था कि खादीग्रामवाले तुम लोगों को ईसाई बना देंगे। खादीग्राम में अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाह होते हैं, उसकी भी चर्चा इस क्षेत्र में काफी थी। उस चर्चा से मेल मिलाकर लोग उनसे यह भी कहते थे कि खादीग्रामवाले तुम्हारी लड़कियों को ले जायँगे और शादी कर देंगे। कुछ लोग यह भी कहते थे कि तुम्हारे गाँव में जो बाँध बँध रहा है, उसके लिए इन्हें सरकार से बहुत-सा रुपया मिला है, लेकिन ये तुमसे मुफ्त में काम करा लेते हैं। ग्रामदान ठहर न सके, इसके लिए सरकारी कर्मचारी भी भरपूर कोशिश करते थे। खास तौर से विकास-योजना के लोग। बदरौठवाले यह तय कर चुके थे कि श्रम-दान से कुँआ खोदेंगे, उन्होंने खोदना शुरू भी कर दिया था। श्रम-शाला के छात्रों को ईंट पाथना भी सिखाया गया और वे कुँआ बाँधने के लिए यहाँ से बालू ढोकर ले जाते थे और अपने गाँव में ईंट पाथते थे। हमारे पास भू-दान समिति का कोयला रखा हुआ था, उसमें से कोयला देने की भी बात कही गयी थी। लोगों ने उन्हें समझाया कि वे बेकार मेहनत कर रहे हैं। बंगाल डेवलपमेंट अफसर वैसे ही कुँआ बनवा देगा। एकाध कुँए की स्वीकृति भी दे दी गयी।

प्रतिक्रियावादियों की चेष्टा

लेकिन इतनी कोशिश के बावजूद बदरौठवाले काफी दृढ़ रहे। आखिर में सबने मिलकर बिरादरीवालों पर जोर डाला कि वे ग्रामदान वापस कर लें। अन्त में वे सफल हो गये। हम लोगों ने भी उनके कहने पर दान-पत्र वापस कर दिया।

बदरौठ का ग्रामदान-पत्र तो वापस हुआ, लेकिन उस ग्रामदान को लेकर इस इलाके में इतनी चर्चा हुई कि क्षेत्र-भर में ग्रामदान का विचार काफी आगे बढ़ा। अब तक हम लोग थोड़ी-बहुत विरोध का सुफल चर्चा कर लेते थे, लेकिन बदरौठ के ग्रामदान के विरोध में जो आन्दोलन खड़ा हुआ, उससे लोगों की जिज्ञासा बढ़ी और वे अधिक दिलचस्पी के साथ इसके विभिन्न पहलुओं के बारे में पूछताछ करने लगे। अब वे समझने लगे थे कि ग्राम-दान केवल हवाई बात नहीं है, वह साकार भी हो सकती है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो विरोधियों का विरोध आन्दोलन के लिए वरदान ही साबित हुआ। शायद क्रान्ति का यह स्वधर्म भी है कि विरोध से उसकी वृद्धि होती है।

बिहार से विनोबाजी के चले जाने के बाद बिहार की भूदान समितियों ने भूमि-वितरण के काम में अपना ध्यान लगाया और सन् '५५-'५६ में काफी जमीन वितरित हुई। हम लोगों ने पाड़ा गाँव में भी लक्ष्मीपुर थाना और आसपास के इलाकों में मिली भूमि की आबादी भूमि का वितरण किया। बदरौठ जाने के रास्ते में तीन मील तक 'परती' जमीन पड़ी हुई है। उसीमें से करीब डेढ़ सौ एकड़ जमीन भूदान में प्राप्त हुई थी। उसे हम लोगों ने पड़ोस के गाँव पाड़ा के २५ मुसहर-परिवारों में बाँट दिया था। बाँट तो दिया था, लेकिन वे अब तक जमीन पर नहीं गये थे। साल भर से ऊपर हो जाने पर भी उन्होंने उसे आबाद करने की कोशिश नहीं की। बदरौठ के कारण जब भूदान की चर्चा फिर से चली, तो हम लोगों ने पाड़ा के मुसहरों से भी कहा कि अगर वे जमीन नहीं जोतेंगे, तो उसे हम दूसरों को

दे देंगे । हवा में चर्चा थी ही, इसलिए हमारी बात पर वे विचार करने लगे । इसका एक दूसरा कारण भी रहा होगा ।

इस इलाके में भूमिहीन खेतिहर मजदूर मुख्यतः मुसहर ही हैं । साल्भर से विहारभर में भूमि-वितरण के फलस्वरूप कई जगहों के मुसहरों ने अच्छी खेती कर ली थी । इन जातियों में विरादरी की खबर बहुत जल्दी पहुँच जाती है । इसलिए प्रान्त के मुसहरों को इसकी सूचना मिल ही गयी थी । शुरू-शुरू में जब उन्हें जमीन दी जाती थी, तो वे प्रमाण-पत्र तो ले लेते थे, पर मन में आश्वस्त नहीं होते थे कि जमीन उन्हींको मिल गयी, क्योंकि हजारों वर्षों से शोषित और निर्दलित रहने के कारण वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनकी भी कुछ हैसियत हो सकती है । जब उन्हें मालूम हुआ कि विनोबा की बदौलत उन्हें जो जमीन मिल रही है, वह काल्पनिक नहीं, वास्तविक है, तो प्राप्त जमीन को आबाद करने में उन्हें दिलचस्पी हुई । इसी बीच हम लोग भी पहुँचे, तो उनको अधिक होश आया और उन्होंने जमीन तोड़ने की बात सोची । वे जब जमीन तोड़ते थे, तब हम लोग भी उनके साथ जाकर श्रम में मदद करते थे ।

डेढ़ सौ एकड़ जमीन में से सौ एकड़ पाड़ों के मुसहरों को दी गयी थी, बाकी भूमि जमीन से सटे हुए आदिवासी गाँव खिरियावालों को दी गयी । खिरिया गाँव बदरौठ से सटा हुआ ही है ।

खिरिया के ग्रामीणों पर असर

खिरियावाले मुसहरों के समान नहीं थे, उन्होंने उसी वर्ष कुछ जमीन तोड़कर आबाद कर ली थी । वस्तुतः खिरियावालों द्वारा जमीन को आबाद होते देखकर भी पाड़ा के मुसहरों का कुछ हौसला बढ़ा था ।

मुसहरों को आबाद करने के साथ-साथ हम लोगों ने खिरिया की ओर ध्यान दिया और वहाँवालों को सामूहिक पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करने की कोशिश की । यह तो तुम्हें मालूम ही है कि संथाली जाति बड़ी साहसी और परिश्रमी होती है । इसीलिए ये लोग खूब मेहनत करके

जमीन तोड़ते थे। अगर दो साल अकाल न पड़ा होता, तो वे काफी जमीन तोड़ लेते। वे जमीन तोड़ तो लेते थे, लेकिन पानी के अभाव में पैदावार का बहुत भरोसा नहीं होता था। बदरौठ के समान यहाँ भी पानी की आमद बहुत है और रोकने पर चाहे जितना खजाना रखा जा सकता है। मैंने देखा कि इनके बीच किसी कार्यकर्ता को रहना चाहिए, ताकि वह उनका उचित मार्ग-दर्शन कर सके। खादीग्राम के रामेश्वर भाई को गांधी-निधि की ग्राम-सेवक टोली में शामिल करके इधर के गाँवों में काम करने को लगा दिया। उनसे कह दिया कि शुरू में वे जमीन को आबाद कराने में ही अपनी शक्ति केन्द्रित करें। खिरिया और दूसरे आदिवासी गाँवों में धर्म-गोला की योजना भी बनायी गयी।

यह एक सूखा इलाका है। यहाँ प्रायः अकाल पड़ता है। इसलिए हमारी यह कोशिश चल रही थी कि खिरियावाले भी पानी के लिए कोई बाँध बाँधें। एक दिन रामेश्वर भाई ने मुझसे कहा कि "खिरिया के लोग बाँध बाँधने को तैयार हैं। आप चलकर जगह बता दीजिये।" मैं वहाँ गया, मैंने जगह देखी और रात को भी उसी गाँव में टिक गया।

दूसरे दिन सुबह गाँववालों के साथ फिर घूमा और कई जगहें देखीं। गाँववालों ने जो प्रस्ताव रखा, उससे पानी का खजाना कम होता था। अन्त में मुझे एक जगह पसन्द आयी, लेकिन उसे बाँधना एक विराट् काम था, जिसे पूरा करना गाँववालों के बस का नहीं था।

बदरौठ और खिरिया के बीच एक बहुत बड़ा नाला बहता है। बरसात में यह नाला एक छोटी नदी का रूप धारण कर लेता है। मैंने उन लोगों से कहा कि वे उसीको बाँधें। रामेश्वर भाई और गाँववाले कुछ घबड़ाये। मैंने उनसे कहा कि "भगवान् रामचन्द्र के साथ बन्दरों ने समुद्र बाँध डाला और तुम लोग गांधी के साथ एक छोटा-सा नाला नहीं बाँध सकोगे!" मैंने उनसे यह भी कहा कि गाँव के सब लोग सुबह जलखई (नाश्ता) के वक्त तक बाँध बाँधें, उसके बाद जंगल

नाले पर बाँध का प्रस्ताव

में पत्ते, लकड़ी आदि का काम करने के लिए निकलें। सप्ताह में एक दिन दिनभर काम करने के बजाय यह प्रस्ताव उन्हें ज्यादा पसन्द आया और दूसरे ही दिन बड़े तड़के ही उठकर वे बाँध बाँधने के काम में लग गये।

खिरियावालों ने मेरे कहने से हिम्मत तो बहुत की, लेकिन काम पूरा होगा, इसका पूरा भरोसा नहीं था। वहाँ के निवासियों ने इतना बड़ा नाला बाँधने का काम शुरू किया है, यह सुनकर आसपास के लोग उसे देखने आते थे। जो देखते थे, वे हँसते थे और कहते थे कि टिड्डी चली है समुद्र उलीचने! खादीग्राम में जो कार्यकर्ता आते थे, वे भी कभी-कभी यही कहा करते थे कि धीरेन्द्र भाई को हमेशा उलटी ही बातें सूझती हैं। मैंने रामेश्वर भाई से अनुरोध किया कि वे एक साथी के साथ उसी गाँव में टिक जायँ और प्रतिदिन सबको बटोरकर उनके साथ मेहनत करें।

काम चलता रहा, कुछ प्रगति भी हुई। हम लोग भी शुक्रवार का श्रम उसी बाँध पर करने लगे। देखते-देखते कुछ दिनों में काफी ऊँचा बाँध बँध गया। फिर आसपास के लोगों के दिमाग में ऐसा भान होने लगा कि शायद ये लोग बाँध बाँध ही लेंगे।

मैंने जब देखा कि अब गाँववालों को कुछ विश्वास होने लगा है और उनमें नियमित रूप से कुछ सामूहिक पुरुषार्थ भी चालू हो गया है, तो उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि लोग तैयार सामूहिक पुरुषार्थ हों, तो मैं बाहर से पैसा लाकर आठ आना चौका (१०० वर्गफीट) की दर से भोजन का कुछ इन्तजाम कर सकता हूँ, बशर्ते कि वे रोज दिनभर काम करने को तैयार हों। (यों सौ फुट मिट्टी काटने की स्थानीय मजदूरी सवा रुपया थी और ढुलाई लेकर डेढ़ रुपया होती थी।) पानी की परेशानी थी, सामूहिक पुरुषार्थ जगा हुआ था और अपने ऊपर कुछ विश्वास पैदा हो गया था, इसलिए

उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया। बीस-पचीस दिनों के भीतर ही उन्होंने नाले का पेटा भर दिया।

उन दिनों स्थानीय एन० ई० एस० ब्लाक के ब्लाक डेवेलपमेण्ट अफसर बदल गये थे। नये सज्जन हमारे काम के साथ सहानुभूति रखते थे। पड़ोस के ललमटिया गाँव में एक बाँध की मंजूरी सरकारी सहायता भी दी थी। उनके कान पर भी खिरिया बाँध की कहानी पहुँच चुकी थी। एक दिन अपने साथियों के साथ वे उसे देखने को चले गये। जितना काम हो चुका था, उसे देखकर वे बहुत प्रभावित हुए और कहने लगे कि उनके पास साधन है। हम लोगों को उस साधन का लाभ उठाना चाहिए था। रामेश्वर भाई ने विनोद में कहा कि "पहले तो आप लोग इस नाले को बाँधने की सम्भावना ही नहीं मानते और दूसरी बात यह है कि आपकी मंजूरी के लिए जितना दौड़ना पड़ता, उससे कम शक्ति में हम इसे संगठित कर लेते हैं।" ये बातें तो विनोद में हुईं, लेकिन रामेश्वर भाई ने उन्हें ग्राम-विकास का मूलतत्त्व समझाया। उन्होंने कहा कि जब तक गाँववालों में अपने विकास के लिए स्वयंप्रेरणा नहीं निर्माण की जायगी और उसकी सिद्धि के लिए सामूहिक पुरुषार्थ नहीं जगाया जायगा, तब तक ऊपर से मंजूरी देकर इनका विकास हो नहीं सकता है। इतने दिन सरकारी काम करने के बीच बी० डी० ओ० साहब को शायद ऐसा अनुभव कभी नहीं मिला था। सार्वजनिक कार्यकर्ता उनके पास जाते हैं, कुआँ, बाँध और तालाब आदि बनवाने के लिए अनुरोध करते हैं, फिर मंजूरी होने पर ठेकेदार ठीक कर देते हैं। उन्हें कुछ ऐसा ही अनुभव था, लेकिन रामेश्वर भाई तथा रवीन्द्र भाई (जो यहाँ के ग्राम निर्माण-विभाग के संचालक हैं) से बात करके वे अत्यन्त प्रभावित हुए और तब से आज तक वे हमारे काम के एक मुख्य सहायक बने हुए हैं। उन्होंने स्वयं बाँध पूरा करने का एस्टीमेट (अनुमान) बनवाया और उसे मंजूर किया।

सरकार की ग्राम-विकास-योजना का भी उद्देश्य यही है कि गाँववाले

अपना काम स्वयं करें, काम के लिए पुरुषार्थ करें और सरकार उनकी मदद करे। लेकिन सिद्धान्त सही होने पर भी उसका अमल सम्भव नहीं हो पाता है। सरकार एक तन्त्र है। तन्त्र का स्वधर्म यन्त्रवत् चलने का होता है, उसमें मानवीय सम्बन्धों की गुंजाइश कम रहती है। सामान्यतः हर तन्त्र की रुझान यन्त्र बनने की होती है, लेकिन उसका आकार जितना बड़ा होता है और वह जितने अधिक व्यापक रूप से फैला होता है, उतना ही उसका यन्त्रस्वरूप प्रखर होता जाता है और चेतनस्वरूप यानी मानवीय स्वरूप कम होता जाता है। यह प्रक्रिया बढ़ते-बढ़ते जब सरकारी तन्त्र तक पहुँचती है, तो वह सम्पूर्ण चैतन्यहीन लौहयन्त्र का रूप ले लेता है।

क्योंकि तन्त्र का यह तथ्य केवल सरकारी संस्थाओं के लिए लागू होता है, ऐसी बात नहीं है। किसी भी तन्त्र का स्वधर्म ऐसा ही होता है। किसी भी गहरे और ऊँचे मन्त्र को जब रूप देना होता है, तो उसके लिए किसी न किसी प्रकार का तन्त्र खड़ा करना ही पड़ता है। 'चरखा अहिंसा का प्रतीक है' यह एक मन्त्र है, लेकिन इसे अमली रूप देने के लिए चरखा का संगठन आवश्यक था। 'सबै भूमि गोपाल की' यानी समाज की, यह एक मंत्र है, यद्यपि विनोबा स्वयं अकेले ही इसको रूप देने निकले थे, फिर भी कुछ दिनों में सर्व-सेवा-संघ के तंत्र का आश्रय लेना पड़ा। इसलिए जैसे आत्मा को रूप लेने के लिए शरीर का सहारा आवश्यक है और यह रूप शरीर धारण करते ही शरीर की मर्यादाएँ उस पर लागू हो जाती हैं, उसी तरह मन्त्र चाहे जितनी उच्चकोटि का हो, अगर उसे कोई रूप धारण करना है, तो उसे किसी-न-किसी तंत्र का सहारा लेना ही होगा और जैसे ही वह किसी तंत्र के साथ जुड़ेगा, वैसे ही उसे उस तंत्र की मर्यादाओं को स्वीकार करना होगा। यानी उसके यांत्रिक स्वरूप को वह छोड़ नहीं सकता।

गांधीजी ने स्वराज्य की माँग की। उन्होंने बताया कि स्वराज्य का अर्थ है—अहिंसक समाज। उनका कहना था कि आज

के किसी भी देश में स्वराज्य नहीं है, क्योंकि आज सारे संसार का संचालन दण्ड-शक्ति से होता है। दण्ड-संचालित समाज चाहे जितने आदर्श लोक-तंत्र के नाम से परिचित हो, उसे अहिंसक समाज नहीं कहा जा सकेगा। यही कारण है कि गांधीजी का कहना था कि अहिंसक समाज में राज्य-संस्था का लोप होना चाहिए। आज विनोबा बापू के इस सूत्र के भाष्य में शासनमुक्त समाज का विवेचन कर रहे हैं

अहिंसक समाज और राज्य-संस्था

यह सही है कि पूर्ण स्वराज्य का अर्थ पूर्ण शासनमुक्त समाज है, लेकिन संसार में किसी भी वस्तु का पूर्ण रूप आज दिखाई नहीं देता। चिन्तन करते-करते मनुष्य पूर्ण रूप की खोज में जिस किसी वस्तु की कल्पना कर डालता है, उसका अन्त 'नेति' 'नेति' में ही उसे करना पड़ता है। बहुत सोचने विचारने के बाद भगवान् के एक रूप का आविष्कार किया, जिसे 'पूर्ण' कहा जाता। लेकिन उसके भी रूप-वर्णन की चेष्टा में निराश होकर निराकार रूप की संज्ञा देनी पड़ती है। यही कारण है कि बापू कहते थे कि पूर्ण स्वावलम्बन रेखा गणित की संख्या के बिन्दु की तरह है। यद्यपि उसका अस्तित्व है, फिर भी वह कभी दिखाई नहीं देगा। अतएव मानव की पूर्ण स्वराज्य की चेष्टा उसके निकटतम तक पहुँचने के लिए ही होगी।

इसलिए पूर्ण स्वराज्य के मंत्र को यदि इहलोक में फलीभूत करना है, तो उसे जिस तन्त्र में बाँधना होगा, उसका सूक्ष्मतम या सौम्यतम स्वरूप क्या हो—इसकी तलाश ही स्वराज्य-साधना की रूपरेखा होगी।

मंत्र और तंत्र

आज जब विनोबाजी अपने आन्दोलन के लिए उचित निधि-मुक्ति तथा तंत्र-मुक्ति की बात करते हैं, तंत्र-मुक्ति की प्रक्रिया में बीच-बीच में निवेदक और दूसरे ऐसे ही प्रतिष्ठानों का गठन करते हैं और जब कहते हैं कि सर्व-सेवा-संघ सर्व-जन-आधारित हो जाय तथा वह जन-जन में इतने व्यापक रूप से विलीन हो जाय कि अन्ततोगत्वा संघ का लोप होकर केवल सर्व-सेवा

ही रह जाय, तो समझना चाहिए कि वह स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग खोज रहे हैं। आखिर भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान या ग्राम-निर्माण आदि जितने कार्यक्रम हैं, वे सब अपने-आपमें कोई लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य तो स्वराज्य है। वस्तुतः गांधीजी तो विदेशी राज्य की समाप्ति को भी स्वराज्य नहीं कहते थे। वे तो निरन्तर यही कहते रहते थे कि विदेशी राज्य को हटाना स्वराज्य का पहला कदम मात्र है। अतएव विदेशी राज्य को हटाने का कार्यक्रम, भूदान, ग्रामदान की प्राप्ति, खादी-ग्रामोद्योग तथा दूसरे ग्राम निर्माण के कार्यक्रम, सब स्वराज्यप्राप्ति के ध्येय में भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड मात्र ही हैं।

इसलिए हमें जिस स्वराज्य का निर्माण करना होगा और अनिवार्य रूप में जिस तन्त्र का निर्माण करना होगा, उसके ढाँचे को ऐसा बनाना होगा, जिसमें मानव-सम्पर्क अधिकतम हो और यांत्रिकता न्यूनतम हो। मैं खिरिया के बाँध के सिलसिले में जब सरकारी तंत्र का वर्णन कर रहा था, तो मैंने बताया था कि सरकार का भीमकाय तंत्र किस प्रकार पूर्ण चेतनहीन यंत्र बने रहने के कारण अत्यन्त उच्च सिद्धान्त और आदर्श के होते हुए भी किस तरह जड़ हो जाता है। निरालसता जड़ता का अन्तर्निहित तत्त्व है, इसे समझाने की आवश्यकता नहीं है।

मैं बता चुका हूँ कि सरकार की विकास-योजना का मूल लक्ष्य भी जनता की स्वयंप्रेरणा तथा सामूहिक पुरुषार्थ जगाकर ही उसका विकास करना है, फिर भी जड़ यंत्र द्वारा संचालित होने के कारण वह फली-भूत नहीं हो रहा है। इस निष्फलता के कारणों पर और भी गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

भीमकाय सरकारी यंत्र की जडता तो सर्वसामान्य है ही, उसके अलावा जनता के साथ समरस होने में शिक्षित वर्ग की अयोग्यता के कारण यह जड़ तत्त्व और कठोर हो जाता है। फलस्वरूप चेतन-हीनता के कारण सरकारी विभाग जनता में प्रेरणा निर्माण नहीं कर सकता। प्रेरणा के

सरकारी यंत्र की जड़ता

में सामूहिक पुरुषार्थ कैसे निखर सकेगा ? एतदर्थ राजकीय विभाग, विभागीय नियम से ही जनता में पुरुषार्थ पैदा करना चाहता है, परिणाम यह होता है कि वह पुरुषार्थ निखर नहीं पाता है। मान लीजिये कि एक पोखरा या बाँध के लिए विकास-विभाग से ५,००० रुपया खर्चे की स्वीकृति मिली, नियम से २५००) का काम जनता करेगी और २५००) की मदद सरकार देगी; लेकिन विभाग की ओर से उस काम का ठेका किसी एक ठेकेदार से होगा। स्पष्ट है कि ठेकेदार कुछ लाभ के लिए ही ठेका लेगा। ऐसी हालत में ठेकेदार जनता की मदद की अपेक्षा नहीं कर सकता, फलतः बाँध की असली कीमत २५००) में से ठेकेदार का मुनाफा तथा कठिनाइयों का कमीशन काटकर जितना बचता है, उतनी होगी। कुल मिलाकर स्थिति यह होती है कि शायद बाँध २०००) का बँधा और सरकारी कागजों में ५०००) दर्ज होता है। इस प्रकार पाँच सौ करोड़ रुपया खर्च करने की वास्तविक योजना में अधिक से-अधिक दो सौ करोड़ का वास्तविक काम होता है।

यह हुआ आर्थिक पहलू। राष्ट्रीय विकास का यह अत्यन्त गौण पहलू होता है। जब तक राष्ट्र के चेतन पुरुष का विकास नहीं होगा, तब तक किसी भी प्रकार की योजना राष्ट्रीय विकास की योजना नहीं कही जा सकती। आज से १८ वर्ष पहले १९४१ में आगरा सेण्ट्रल जेल से मैंने जो पत्र लिखे थे, उनमें ब्योरे से इस बात की चर्चा की थी। मैंने लिखा था कि आवश्यकता है पहले पंचों को बनाने की। बिना पंच बने पंचायत नहीं बन सकती और पंचायत बनाने के बाद ही पंचायतघर बनाने की आवश्यकता होती है। मैंने लिखा था कि गाँव के आदमियों में अगर चेतना नहीं होगी, तो सड़क का पुल हजार बार बनने पर भी टिकेगा नहीं; क्योंकि वैसी हालत में लोग उस पुल की ईंटें निकालकर ले जायँगे और घर का चूल्हा बनायेंगे। लेकिन यदि मनुष्य ठान लें, तो वे स्वयं ही पुलिया बना लेंगे। फिर यह पुलिया स्थायी होगी। यही कारण है कि *विनोबाजी कहते हैं कि ग्राम-दान के बिना सामूहिक विकास-योजना के*

काम संभव नहीं है। क्योंकि समुदाय के अभाव में सामुदायिक विकास किस तरह सधेगा?

कहाँ से कहाँ भटक गया। मुझे कहना यह था कि खिरिया के विकास के काम में जो सरकारी सहयोग मिला, उससे योजना की गति कुछ तेज हुई।

खिरिया के बाँध ने इस इलाके को काफी प्रभावित किया और कई गाँवों को बाँध बाँधने की प्रेरणा दी। इसी प्रभाव ने पाड़ों के मुसहरों को

बाँध से प्रेरणा

भी वहाँ की सौ एकड़ जमीन को आबाद करने की प्रेरणा दी। जमीन तोड़ने का काम तो ये लोग शुरु कर चुके थे, जिसमें हम लोग भी श्रमदान करने जाते थे; लेकिन अब वे कुछ अधिक दिलचस्पी से काम करने लगे। सौ फुट के लिए आठ आने मदद देने की बात वहाँ भी की गयी, तो वे काफी तेजी से अपनी जमीन तोड़ने लगे। २५-२६ घर मुसहरों के बस जाने से उसने एक छोटे-मोटे गाँव का रूप ले लिया था। हम लोगों ने सोचा कि इस बस्ती को कोई नाम देना चाहिए और उसका नाम 'भूदानपुरी' रख दिया। बाद में केन्द्रीय सरकार से नयी बस्ती बसाने के लिए कुछ मदद मिलने पर वहाँ के काम की प्रगति खूब बढ़ी। भूदानपुरी में मुसहरों की प्रगति देखकर फिर एक बार प्रतिक्रियावादी वर्ग जाग उठा। बदरौठ के ग्रामदान को तोड़ने की योजना में सफल हो जाने के कारण उसका साहस बढ़ गया था, अतएव उसने पाड़ों के मुसहरों को भी भड़काना शुरू किया। आदिवासियों की अपेक्षा मुसहर अधिक दबी हुई कौम है, इसलिए इनको दबाना आसान था, लेकिन एक सुविधा यह थी कि इस बार विकास-विभाग के लोग उस वर्ग में शामिल नहीं थे। दूसरी सुविधा यह थी कि आसपास के लोगों ने देख लिया था कि हम लोग वास्तव में देहातियों को पुनर्निवास कराने के इच्छुक हैं और इस दिशा में कुछ कर भी सकते हैं। पर ये मुसहर पुराने मालिकों से कर्जा आदि के, कारण इस तरह बँधे हुए थे कि उनके द्वारा डराना, धमकाना और

फुसलाना कामयाब हो जाता था। फिर भी रामेश्वर भाई के शान्तिपूर्वक काम करने तथा मुसहरों में दो एक हिम्मतवाले आदमियों के होने के कारण धीरे-धीरे 'भूदानपुरी' में बसने का निर्णय कर ही लिया।

बदरौठ के ग्रामदान ने ग्रामदान की संभावना के बारे में काफी चर्चा चला दी थी, यह मैं पहले बता चुका हूँ। इस चर्चा में भाग लेनेवालों में खादी-ग्राम से सटा हुआ ललमटिया गाँव सबसे आगे रहा। पिछले दो साल से कुआँ और बाँध बनाने के सिलसिले से इस गाँव में सामूहिक पुरुषार्थ काफी जाग चुका था। खादीग्राम से सटा होने के कारण श्रमशाला में इस गाँव के काफी लड़के दाखिल हुए थे और यहाँ के स्त्री-पुरुष अधिक संख्या में खादीग्राम में काम करते थे। इस कारण हमारा सम्पर्क इन लोगों से अधिक घनिष्ठता का था। अक्तूबर १९५६ से ही ललमटिया के निवासी ग्रामदान के विभिन्न पहलुओं पर हम लोगों से चर्चा करते थे और बीच-बीच में ग्रामदान कर देने की भी बात करते थे। हम लोग उन्हें रोकते थे, कहते थे कि अच्छी तरह समझ-सोच लो, आपस में सलाह कर लो, तब ग्रामदान की बात करना। आखिर जनवरी में उन्होंने फैसला कर ही लिया। रवीन्द्र भाई ने गाँव की बहनों को इकट्ठा किया और उनसे पूछा कि ये लोग इस तरह से ग्रामदान करना चाहते हैं, उनकी क्या राय है! बहनों ने सोत्साह सम्मति प्रकट की। तब उनका दानपत्र भरा गया और ललमटिया के ग्रामदान की घोषणा की गयी।

ललमटिया का ग्रामदान

सन् '५७ की क्रान्ति-यात्रा का शुभारम्भ श्रमभारती से लगे हुए गाँव के ग्रामदान से हुआ, यह देखकर खादीग्राम के साथी अत्यन्त उत्साहित हुए। जहाँ लाखों रुपयों की लागत से संस्था बनती है और आसपास के गाँवों के लोग वहाँ मजदूरी करते हैं, वहाँ से सटे हुए गाँवों के निवासी प्रायः संस्था के आलोचक और टीकाकार होते हैं। लेकिन जब खादीग्राम के पड़ोसी गाँव का ग्रामदान हुआ, तो साथियों को इस सफलता से बड़ी प्रसन्नता हुई और वे अत्यन्त उत्साह के साथ यात्रा की तैयारी करने लगे। ● ● ●

श्रमभारती-परिवार की पद-यात्रा : २ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२२-१२-'५८

सन् '५७ की क्रान्ति-यात्रा में श्रमभारती-परिवार के करीब-करीब सभी लोग शामिल हों, ऐसा ही सोचा गया था; लेकिन ललमटिया के ग्रामदान के कारण खादीग्राम के आसपास के देहातों में जिस वातावरण का निर्माण हुआ, उसे जारी रखने के लिए और ललमटिया गाँव को उचित मार्ग-दर्शन देने के लिए, भाई रवीन्द्र उपाध्याय और रवीन्द्र सिंह को रोक लेना पड़ा। उन्हें ग्राम-निर्माण में लगा दिया। आमतौर से ग्रामदान के बारे में लोगों की शंका यह है कि ग्रामदान के बाद भूमि का पुनर्वितरण नहीं होता है। यदि होता भी है, तो समता के आधार पर नहीं हो पाता। इसलिए मैंने रवीन्द्र भाई से कहा कि सबसे पहले जमीन के सम वितरण की आवश्यकता है।

भूमि का पुनर्वितरण

इस प्रश्न पर खूब चर्चा हुई। ग्रामदान के संदर्भ में जमीन के पुनर्वितरण तथा भविष्य में खेती के प्रकार को लेकर देशभर में काफी चर्चा है। एक विचार यह है कि जमीन को पुनर्वितरित करने के बदले गाँवभर मिलकर सामूहिक खेती करे। दूसरा विचार यह है कि गाँव के परिवारों में जमीन का वितरण समानता के आधार पर हो, लेकिन सामूहिक खेती न हो। अलग-अलग खेती करने में एक दोष यह होता है कि जब तक ग्राम-विकास के लिए बाँध, कुआँ और तालाब आदि की सामूहिक प्रवृत्तियाँ चलती हैं, तब तक तो मिल-जुलकर सामुदायिक जीवन बनाये रखने का अवसर मिलता है; लेकिन जैसे ही इस प्रकार के सार्वजनिक निर्माण के कार्य समाप्त हो जाते हैं, वैसे ही सामुदायिक जीवन को कायम रखने के

नये-नये अवसर मिलने बन्द हो जाते हैं। शुरू-शुरू में गाँवभर के उत्पादन की योजना तो बनती है, लेकिन धीरे-धीरे व्यक्तिगत खेती के आधार पर अलग-अलग जीवन-संघर्ष के कारण यह सामूहिक योजना बनाने की परिपाटी भी समाप्त हो जाती है। फलतः पुरानी व्यष्टिवादी जिन्दगी लौट आती है और गाँव की नैतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति पूर्ववत् हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है कि पहले लोगों के पास जमीन असमान थी, अब वह बँटकर समान हो चुकी रहती है। दूसरा अन्तर यह पड़ता है कि अब लोग व्यक्तिगत रूप से मालिक नहीं रह जाते हैं, सारी जमीन ग्राम-समाज की मालकियत में आ जाती है। लेकिन कुछ दिन में यह बात भी कानूनी रह जाती है और वस्तुतः 'मेरे' 'तेरे' की भावना पुनर्जीवित हो जाती है। इस प्रथा में एक और बात होती है, जिससे जटिलता बढ़ जाती है। वह है परिवार-वृद्धि की समस्या। कोई परिवार ज्यादा बढ़ता है, तो कोई कम। फिर पुनर्वितरण का प्रश्न आता है। 'मेरे' 'तेरे' की भावना के पुनर्जन्म के बाद इस प्रकार बार-बार का वितरण कठिन समस्या बन जाता है।

गाँव के कुछ लोग विचार समझकर और कुछ लोग भावनावश ग्रामदान कर देते हैं, लेकिन ग्रामदान के सकल्प मात्र से गाँव के लोगों का चरित्र नहीं बदल जाता है। पुराना राग-द्वेष पूर्ववत् कायम रहता है। अन्तर यही होता है कि वे आगे बढ़ने का सकल्प करते हैं, अर्थात् वे कुछ अधिक सचेतन हो जाते हैं। ऐसी हालत में तुरन्त सामूहिक खेती से पारस्परिक सद्भावनाओं के बिगड़ने की अत्यधिक आशंका रहती है। कहते हैं कि अग्नि के सारे प्रकारों में से जठराग्नि सबसे प्रखर होती है और खेती इसी अग्नि की खुराक का साधन है। दुनिया में जितने झगड़े होते हैं, उनका यदि विश्लेषण किया जाय, तो कुछ ही मामलों को छोड़कर सभी भोजन की समस्या को लेकर होते हैं। तुम लोगों ने सस्थाओं में तथा सम्मेलनों में देखा है कि सबसे अधिक टीका-टिप्पणी और

किचकिच और खिचिन

असन्तोष भोजन को लेकर ही होता है। जेल में भी उच्च आदर्श तथा लक्ष्य को लेकर कष्ट सहने के लिए पहुँचनेवाले राजबन्दी भी भोजन की समस्या को लेकर निरन्तर झगड़ते रहते हैं। मैं तो अक्सर अपने साथियों से विनोद में कहता हूँ कि 'किचकिच' का Plural (बहुवचन) 'किचिन' (रसोई) होता है। देहाती भाषा में 'किचकिच' जब अधिक हो जाती है, तो उसे 'किचाइन' कहते हैं। शायद इसीसे 'किचिन' निकला हो!

सामूहिक खेती का प्रश्न

मैं कहना यह चाहता था कि ग्रामदान होते ही सामूहिक खेती का निर्णय खतरे से खाली नहीं है। क्योंकि प्रारम्भ में ही पूर्वचरित्र के कारण शान्ति से सामूहिकता को कायम रखना कठिन हो जाता है। दूसरी समस्या यह है कि सदियों से मजदूरी में ही काम करने के आदी होने के कारण सब लोग समान रूप से पुरुषार्थ नहीं करते। वस्तुतः काम की प्रेरणा कैसे मिले, समाजवाद के सामने यह प्रश्न एक प्रमुख समस्या ही है। भारत जैसे उत्तर-गुलामी के देश में तो इस समस्या का और अधिक होना स्वाभाविक है। फलस्वरूप सारा काम गाँव के दो-चार उत्साही तथा जिम्मेवार व्यक्तियों के कन्धों पर ही पड़ जाता है और कालान्तर में इन्हीं लोगों का वर्ग बन जाता है, जो 'व्यवस्थापक' कहलाता है। फिर 'अधिकारवाद' का निर्माण होने लगता है। इस प्रकार सार्वजनिक प्रेरणा के तथा सामूहिक पुरुषार्थ के अभाव के कारण अधिकांश क्षेत्रों में उत्पादन में कमी आ जाती है। ग्रामदान के परिमाण में आर्थिक स्थिति नीचे उतरने पर वह ग्रामदान अधिक दिन नहीं टिकेगा, क्योंकि आर्थिक अवनति के होते हुए सामाजिक तथा नैतिक भावनाओं को टिकाना कुछ आदर्शवादी मनुष्यों के लिए संभव है, लेकिन आम जनता उस पर टिक नहीं सकती! इसलिए ग्रामदान के सदर्भ में खेती कैसी हो तथा पुनर्वितरण का ढाँचा क्या हो, इसका निर्णय करना एक कठिन प्रश्न है।

हमारे सामने भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ। संयोग से लखमटिया

गाँव में बाँध आदि के निर्माण के सिलसिले में सामुदायिक पुरुषार्थ का संगठन हो चुका था। फिर भी मैंने शुरू में सामूहिक खेती की सलाह नहीं दी। यही परामर्श दिया कि समानता के आधार पर पुनर्वितरण कर दो और कुछ जमीन सबको मिलकर खेती करने के लिए अलग निकाल लो। सलाह देते समय मैंने रवीन्द्र भाई से कहा कि अभी तो अलग-अलग खेती करो, लेकिन मिलकर खेती करने की चर्चा निरन्तर करते रहो। सब लोग मिलकर गाँवभर की खेती की योजना बनायें, इसके लिए भी प्रायः बैठकें करते रहो। जब व्यक्तिगत खेती के आधार पर योजना बनाने का प्रयास होगा, तो उन्हें पग-पग पर अड़चनें दिखाई देंगी। जब-जब अड़चनों के प्रसंग आयें, तब-तब सामूहिक खेती के विचार समझाना। इस तरह धीरे-धीरे जब उन्हींमें सामूहिकता की माँग पैदा हो, तभी सामूहिक खेती की योजना बनानी चाहिए। यही नीति इलाके के सब क्षेत्रों में अपनायी गयी। यह नीति बाद को लमेद गाँव में कैसे कामयाब हुई, उसकी कहानी आगे कहूँगा।

देश के सभी गाँवों में सामान्यतः तीन प्रकार की भूमि होती है, एक पानी के पास की, दूसरी धान की नीची जमीन और तीसरी वह, जो ऊँची है, जहाँ पानी की कोई व्यवस्था नहीं है। इधर लखमटिया की ऐसी जमीन को 'टाँण' कहते हैं। लखमटिया की जमीन भूमि का वितरण को भी इन तीन भागों में बाँटा गया। हर किस्म की जमीन हर परिवार को परिवार की संख्या के अनुसार पुनर्वितरित कर दी गयी और चार-पाँच एकड़ जमीन सामूहिक खेती के लिए रखी गयी।

ग्रामदान होते ही गाँव में कुछ चहल-पहल का होना स्वाभाविक था। तब से उस गाँव के लोग प्रतिदिन बैठते और आगे का कार्यक्रम सोचते। सबसे पहले उन्होंने अंबर चरखा लाने का तय किया। धीरे-धीरे सभी परिवारों में अंबर चरखे पहुँच गये। परन्तु खादीग्राम के निर्माण के काम में मजदूरी मिलने के कारण यह नियमित नहीं चल सका। इसमें

में पानी के अभाव के कारण खेती में ज्यादा दिन लगे नहीं रह सकते। हम लोगों ने पिछले तीस साल से यही प्रचार किया है कि खेती से जो अवकाश मिले, उसे गाँव के लोग ग्रामोद्योग बढ़ाने में लगायें, तो देश में बेकारी नहीं रहेगी। ललमटिया के ग्रामदान को लेकर इस प्रचार के अनुसार प्रयोग करने का अवसर मिला। जब हम ग्रामोद्योगों की योजना बनाने बैठे, तब हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि पूरे गाँव को काम देने लायक उद्योग नहीं हैं। इसका मुख्य कारण है—मिल-उद्योग से प्रतिस्पर्धा। इसके लिए मैं दस-बारह वर्ष से मिल-उद्योग-बहिष्कार की बात करता आ रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि अगर भारत की बेकारी का अन्त करना है, तो कम-से-कम अन्न-वस्त्रादि दैनिक आवश्यकताओं की चीजों के लिए केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार अनिवार्य है। आश्चर्य की बात यह है कि जो लोग बहिष्कार की बात नहीं मानते, वे सरकार की टीका करते हैं कि सरकार अमुक-अमुक उद्योगों में मिल को बन्द क्यों नहीं करती! अगर हम यह मानते हैं कि सरकारी कानून से ही मिल-उद्योगों को बन्द कराना जरूरी है, तो भू-समस्या भी सरकारी कानून से ही हल होगी, ऐसा माननेवालों के विचारों में कहाँ गलती है? जिन चीजों को समाज के लिए अवांछनीय मानते हैं, उनको हटाने के लिए सरकारी कानून अगर आवश्यक होता है, तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम सब उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विधान-सभा में प्रवेश करने की कोशिश करें! वस्तुतः बेकारी-निवारण के लिए केन्द्रित उद्योग बहिष्कार के राष्ट्रीय संकल्प के सिवा दूसरा कोई अहिंसक उपाय है ही नहीं। लेकिन मेरा विचार कुछ भी हो, आज तो केन्द्रित उद्योग केवल चल ही रहा है; बल्कि बढ़ भी रहा है। इसलिए ललमटिया को बहुत-से उद्योग देकर बेकारी-निवारण करने की चेष्टा बहुत आगे नहीं बढ़ी।

इस बीच में खादी-ग्रामोद्योग कमीशन के सघन-क्षेत्र के संचालक झवेर भाई मिले। उनसे मैंने इस समस्या की चर्चा की। उन्होंने कहा कि आपने योजना ठीक से नहीं बनायी है, ग्रामोद्योगों से पूरा काम मिल

सकता है। साथ ही अपने दो-एक केन्द्रों का नाम बताया, जहाँ ऐसा हो चुका है। मैंने ऐसे कुछ केन्द्रों का विवरण देखने की अवेर भाई से चर्चा कोशिश की। उसमें दो बातें मालूम हुई। पहली बात यह कि वहाँ सिंचाई का प्रबन्ध भरपूर है और लोग पैसे की खेती करते हैं। इससे वहाँ के लोगों का अधिकांश समय खेती के काम में लग जाता है। फिर ऐसे बहुत-से ग्रामोद्योग वहाँ चल रहे हैं, जिनका प्रत्येक गाँव में प्रचलन करने पर न उतना कच्चा माल मिलेगा, न बाजार ही मिलेगा। जैसे काफी तादाद में साबुन बनाना और धुनाई मशीन से पूनियाँ बनाकर भंडारों को सप्लाई करना।

इस तरह विचार करते हुए मुझे यही लगा कि यद्यपि यह जरूरी है कि ग्रामोद्योगों के लिए राष्ट्रीय संकल्प अवश्य हो, लेकिन इस देश की जमीन की जो हालत है, यानी सिंचाई व्यवस्था का

राष्ट्रीय संकल्प जरूरी

जिस प्रकार अभाव है, उसके रहते केवल ग्रामोद्योग न तो देश की बेकारी को दूर कर सकता है और न सारी जनता के जीवन-मान को ऊपर उठा सकता है। बेकारी निवारण तथा जीवन-मान उन्नयन, दोनों के लिए आवश्यक है कि खेती की प्रक्रियाओं में वृद्धि हो और समुचित सिंचाई का प्रबन्ध हो। इसलिए हम लोगों ने अपनी सारी शक्ति इन देहातों में पानी का खजाना जमा करने में ही लगायी। दुर्भाग्य से इस इलाके के भूगर्भ में पानी नहीं है। पानी के सर्वे विभागवालों ने भी कहा कि यहाँ ट्यूबवेल खोदने पर भी पानी नहीं मिलेगा। ऐसी हालत में एकमात्र उपाय यही था कि इधर की वर्षा का एक बूँदभर भी पानी नदी में न जाने दिया जाय और जगह-जगह तालाब खोदकर तथा बाँध बाँधकर उसे जमा किया जाय। इसी बीच एलवाल में देश के करीब-करीब सभी पक्षों के उच्च कोटि के नेताओं ने एकत्र होकर विनोबाजी के आन्दोलन का स्वागत किया और कहा कि जनता तथा सरकार दोनों को इस काम में मदद करनी चाहिए। सरकार ने भी अपनी विकास-योजना के तमाम विभागों को यह हिदायत

कर दी कि वे ग्रामदानी गाँवों के निर्माण में भरपूर मदद करें। वर्तमान ब्लाक डेवलपमेण्ट अफसर पहले से ही अनुकूल थे। सरकारी हिदायतों के कारण वे अधिक उत्साह से इस काम में मदद करने लगे।

कुल मिलाकर तीन बाँध और दो कुएँ बने। इनके बनने से सामूहिक पुरुषार्थ का भी निर्माण हुआ। मैं बता चुका हूँ कि सरकारी विकास-योजनाओं का उद्देश्य गाँववालों में सामुदायिक भावनाओं को जगाकर ही ग्राम-विकास का काम करना है। इसलिए यह नियम बनाया गया कि आधा खर्च गाँव के लोग दें। लेकिन किस तरह ठेकेदारी के कारण कुल योजना का आधा भी मिल नहीं पाता है, इसकी भी चर्चा कर चुका हूँ। विनोबाजी जो कहते हैं कि सामुदायिक विकास भी ग्रामदान से ही चरितार्थ हो सकेगा, उसका वर्णन लखमटिया, खिरिया आदि ग्रामदानी गाँवों के कामों से होता है। गाँव के लोगों ने यह निर्णय किया कि वे सप्ताह के छह दिन अपने व्यक्तिगत काम में लगायेंगे और एक दिन गाँव की किसी सामुदायिक योजना के लिए श्रमदान करेंगे। इस संकल्प के कारण वर्ष-भर के अन्दर विकास-योजनाओं की मदद का लखमटिया ने इस पूर्णता के साथ इस्तेमाल किया कि इन कामों का आकार तथा खर्च देखकर प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के विकास-विभाग के जितने अफसर आते हैं, सबके सब आश्चर्य प्रकट करते हैं।

लखमटिया के ग्रामदान से इलाके में ग्रामदान की हवा बनी, यह बात मैं लिख चुका हूँ। ग्रामदान की घोषणा सुनते ही कई गाँवों के लोग इसके विषय में जानकारी लेने के लिए हमारे पास आते रहे और थोड़े ही दिन बाद पास के लमेत गाँव-वालों के ४० परिवारों ने ग्रामदान करने की इच्छा प्रकट की। वे चाहते थे कि श्रमभारती परिवार की क्रान्ति-यात्रा की बिदाई-भेंट में अपने ग्रामदान की घोषणा करें। तैयारी होने लगी और यात्रा शुरू होने के दिन २२ फरवरी १९५७ को लमेत के कुछ राजपूतों और कुछ मुसहरों ने मिलकर ग्रामदान की घोषणा की। यद्यपि लखमटिया

लमेत पर असर

के समान यह ग्रामदान न तो सम्पूर्ण था, और न परिभाषा के अनुसार उसे 'ग्रामदान' ही कहा जा सकता था; फिर भी मुसहर और राजपूत मिलाकर ४० परिवारों का यह संकल्प ग्रामदान आन्दोलन के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। ललमटिया अपने हाथ से खेती करनेवालों की एक ही जाति के निवासियों का गाँव था, वहाँ आर्थिक विषमता भी विशेष नहीं थी। लेकिन लमेत में तो आर्थिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की विषमता भरपूर थी। ऐसी हालत में जब दोनों जाति के लोगों ने साथ मिलकर संकल्प किया, तो हम लोगों को एक नया संदर्भ मिल गया। इससे राजपूत जैसी उच्च जाति और मुसहर जैसी पददलित जाति, दोनों का आपसी सहकार साधने के लिए दिलचस्प प्रयोग का अवसर मिला। भाई रवीन्द्र सिंह का प्रभाव उस गाँव पर था, इसलिए हम लोगों ने उस गाँव के विकास का भार उन्हीं पर डाला।

पिछले दो वर्षों से हम लोग खादीग्राम का वार्षिकोत्सव अत्यन्त धूम-धाम से मनाते आये हैं। वस्तुतः जिला, प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय सम्पर्क के लिए इस उत्सव को हम लोगों ने मुख्य साधन माना है। दोनों साल तात्कालिक समस्याओं को लेकर विशिष्ट सम्मेलन का आयोजन इसी अवसर पर कर चुके थे। पिछले साल ग्राम-राज सम्मेलन किया था, तो इस साल ग्राम-प्रवेश सम्मेलन करने की सूझी। हमने ऐसा माना था कि पद-यात्रा के निर्णय से श्रमभारती परिवार की सीमा बढ़ी। कम-से-कम एक जिले को अपने परिवार का अंग मानने की कोशिश की जाय, ऐसा हमने सोचा। इस विचार से जिले के किसी केन्द्रीय स्थल पर श्रमभारती के वार्षिकोत्सव का अनुष्ठान करने का निर्णय किया गया।

जिला निवेदक रामनारायण बाबू की व्यवस्था में बरियारपुर का स्थान निश्चित किया गया। इस बार हम लोगों ने उड़ीसा के भाई नव-कृष्ण चौधरी को पौरोहित्य के लिए बुलाया। हमने नवबाबू का नाम इसलिए चुना कि उन्होंने उड़ीसा में ग्रामदान का जो दर्शन कराया,

यह क्रान्ति के इतिहास में अद्वितीय था। हमारे साथी उनके आशीर्वाद से यात्रा का प्रारम्भ करें, यह सबकी आकांक्षा थी।

२२ फरवरी सन् १९५७, शुक्रवार! बापू के महाप्रयाण का दिन। २२ फरवरी माता कस्तूरबा का भी प्रयाण दिवस है। हमने क्रान्ति-यात्रा के प्रयाण के लिए वही दिन अत्यन्त शुभ माना। अतः

प्रार्थना-प्रवचन

यद्यपि वार्षिकोत्सव २४ फरवरी को होना था, फिर भी खादीग्राम परिवार की विदाई २२ फरवरी को ही ठीक समझी। शुक्रवार के दिन खादीग्राम में सूत्र-यज्ञ और सामूहिक प्रार्थना होती है। मुझे कभी कोई विशेष बात कहनी होती है, तो उस दिन प्रार्थना के पश्चात् थोड़ा प्रवचन कर देता हूँ। यह शुक्रवार तो विशेष बात कहने का था ही।

प्रार्थना के बाद मैंने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा :

सन् '५७ का संकल्प पूरा करने के लिए श्रमभारती परिवार के जो लोग बाहर जा रहे हैं, उनका इस साल के लिए यह अन्तिम शुक्रवार है। शुक्रवार संसार का एक महान् पुण्य-दिवस है। बापू का संकल्प था कि सभी सम्प्रदाय मिल जायँ। उनके महाप्रयाण का दिन भी शुक्रवार ही रहा, जो ईसा और मुहम्मद के अनुयायियों के लिए पुण्य-दिवस रहा है। तो आज आपके लिए एक सौभाग्य का दिन है।

ध्यान रहे कि आज के दिन इस युग की महान् क्रान्ति में आप लोग एक विशेष कदम उठा रहे हैं। सभी भाई-बहन और बच्चे भी सोचेंगे कि यह क्या है? यह तो आप सब जानते ही हैं कि क्रान्तिकारियों को महान् शारीरिक कष्ट की ही सौगात मिलती है। यहाँ कुछ भाई-बहन पूछते थे कि यात्रा में बच्चों को दूध मिलेगा क्या? मालूम होता है कि आप लोग क्रान्ति का इतिहास पढ़कर भी भूल जाते हैं। पुराने-जमाने में हिंसात्मक क्रान्तियाँ हुआ करती थीं। उन दिनों क्रान्तिकारी को सपरिवार जंगलों में भटकना पड़ता था। आप लोग तो गाँव-गाँव फिरेंगे। गाँव के लोग आपका स्वागत करेंगे और अपने घरों में

आपको टिकायेंगे। आप जंगलों में भटकेंगे नहीं। फिर भी यदि आपके दिल के एक भी कोने में घबराहट हो, तो आपकी क्रान्तिदेवी का क्या हाल होगा? अगर क्रान्तिकारी के मन में अपने इष्ट के प्रति दुविधा हो या वे तकलीफों से घबरायें, तो वे जड़वत् होकर हार जायँगे। मैं अकसर कहा करता हूँ कि मनुष्य को दो में से एक स्थिति को चुनना होगा। या तो वह दिल्ली के बादशाह को सलाम करे या अपने बच्चे के हाथ से घास की रोटी भी बिल्ली को ले जाते हुए देखता रहे। आप दूध के बारे मे पूछते हैं। दूध नहीं, गेहूँ की रोटी नहीं, ज्वार, बाजरा और मकई की रोटी भी नहीं। क्रान्ति के दौरान मे आपके बच्चों के मुँह से घास की रोटी भी छिनने की नौबत आ सकती है। इसका ध्यान आपको निरन्तर रहे। अगर इन बातों से घबड़ाते हैं, तो अच्छा यही होगा कि हम सब चलकर दिल्ली के बादशाह को सलाम करें, यानी समाज की पुरानी मान्यताओं को स्वीकार करें। लेकिन हमने संकल्पपूर्वक उस रास्ते को छोड़ दिया है।

आप सबने क्रान्ति की राह पर आगे बढ़ने का संकल्प किया है। क्रान्ति के बारे में आपकी दृष्टि साफ होनी चाहिए। पहले लोग समझते थे कि गर्दन काटने से क्रान्ति होती है। आज भी आम मान्यता यही है, लेकिन अब लोग समझ रहे हैं कि गर्दन काटने से क्रान्ति नहीं होती। कम्युनिस्ट लोग भी अब धीरे-धीरे इस बात को समझ रहे हैं। विनोबाजी की पद-यात्रा के कारण सर्वोदय विचारवाले सेवकों में एक दूसरी बात फैल गयी है कि चक्कर काटने से क्रान्ति होती है। अगर चक्कर काटने से क्रान्ति होती, तो देश में सात लाख क्रान्तिकारी मौजूद ही हैं। तो हम अधिक क्या करेंगे! चक्कर काटनेवाले यहाँ तक समझ बैठते हैं कि दफ्तर में बैठकर काम करनेवाले या दूसरे रचनात्मक काम करनेवाले क्रान्तिकारी नहीं हैं। दफ्तर तथा दूसरे स्थायी कार्यक्रम चलानेवालों के मन में भी रह-रहकर यह ग्लानि होती है कि वे क्रान्ति नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः क्रान्ति किसी कर्मकाण्ड में छिपी हुई नहीं है। क्रान्ति तो जीवन-दर्शन, मानसिक वृत्ति तथा कार्य-शैली है।

अतएव जो भाई-बहन यात्रा में जा रहे हैं और जो लोग श्रम-भारती के अहाते में बैठकर काम करनेवाले हैं, उन्हें सोचना होगा कि क्रान्ति आपकी वृत्ति तथा शैली में है। यात्रा करनेवालों की शैली अगर निष्प्राण हो, तो उनकी यात्रा द्वारा क्रान्ति नहीं होगी और दफ्तर में बैठकर काम करनेवालों की वृत्ति तथा कार्यक्रम अगर क्रान्ति के अनुकूल होगा, तो उनके कामों से भी क्रान्ति हो जायगी। जो लोग देहातों में घूमेंगे, उनके रहन-सहन, रङ्ग-ढङ्ग तथा बातचीत से क्रान्ति-दर्शन निकलेगा, तो जनता को भी आप अपने रंग में रँग सकेंगे। आप जनता के घरों में मेहमान होंगे, उसके सुख दुःख में शामिल होंगे; वे लोग औकातभर जो कुछ प्रसाद देंगे उससे आपको सुखी रहना होगा। अपने दूसरे खर्चों के लिए न संचित निधि से लेना है और न किसीसे माँगना ही है। उसे अपने श्रम से पैदा करना है। कांचन-मुक्त समाज के लिए क्रान्ति करनेवाला कांचन-दान पर आधारित नहीं रह सकता। आपको मेहनत से कमाने के लिए दो रास्ते हैं। साहित्य बिक्री का कमीशन तथा किसानों के खेतों की कटनी का, मजदूरी करने का काम। खर्च सामूहिक होगा। मजदूरी करने की कमाई भी सामूहिक रहेगी।

दफ्तरवालों को भी सोचना होगा कि सन् '५७ में उनके ऊपर क्या जिम्मेदारी है। आपकी जिम्मेदारी बढ़ती है। श्रमभारती के इतने लोग बाहर जा रहे हैं। उनका सारा काम आपको सँभालना है। खाली उनका ही काम नहीं, देशभर में औरों के घूमने के कारण आपका काम बढ़ेगा। इसलिए आपको दूना काम करना है। चार घंटे शरीर-श्रम करने के बाद जो बीस घण्टे बचते हैं, वे सब दफ्तर के लिए हैं। हो सकता है कि सोने के लिए कम समय मिले। ऐसे मौके क्रान्ति के इतिहास में बहुत आते हैं। सन् '३० की बात याद आ रही है। गांधी आश्रम मेरठ के अधिकांश कार्यकर्ता जेल चले गये थे। बाकी लोग मस्ती के साथ कुल काम चलाते थे। कई मौके याद आ रहे हैं कि काम करते-करते रात गुजर गयी और प्रार्थना की घंटी बज गयी। अगर आपमें क्रान्ति की

मस्ती है, तो ऐसे मौके पर भी आप मस्त रहेंगे। रामचन्द्र के अनुसरण में लक्ष्मण के दिल में आग थी, तो चौदह वर्ष जागरण पर भी उनकी शक्ति का क्षय नहीं हुआ।

आप बड़े-छोटे सब जा रहे हैं। मुझे भरोसा है कि सत्तावन के अन्त तक आप सब डटे रहेंगे। ज्यादा छोटे बच्चों को तो मैं बीच में वापस बुला लूँगा, लेकिन आप सब भाई-बहन और बड़े बच्चे निरन्तर आगे बढ़ते रहेंगे। अगर किसीकी हिम्मत टूटती है, तो घायल सैनिक को जैसे अस्पताल में लाते हैं, वैसे ही आपको वापस लाऊँगा। आपको मालूम है न कि हिंसक क्रान्ति में सेना की जब लाश गिरती है, तो उसे मोटर पर उठाकर लाया जाता है। हिंसात्मक सिपाही का शरीर मरता है, लेकिन अहिंसात्मक सिपाही का दिल मरता है। मैं यही कामना करता रहूँगा कि आपका दिल हमेशा जिन्दा रहे और आगे बढ़ता रहे तथा मुझे किसीकी लाश (दिल) को उठाकर लाना नहीं पड़ेगा। आज के पुण्य-दिन का आशीर्वाद लेकर आप जा रहे हैं। ईश्वर आप सबको शक्ति दे!

दूसरे दिन सुबह श्रमभारती-परिवार लभेत के ग्रामदान-यज्ञ का प्रसाद लेकर वरियारपुर के लिए रवाना हुआ।

लभेत गाँव में कुछ छोटे किसानों और कुछ छोटे मालिकों तथा गैर-मालिकों ने मिलकर ग्रामदान का संकल्प किया था, यह मैं बता चुका हूँ। आज गाँव में इसकी भेंट का समारोह था। हम लोग सपरिवार जब लभेत पहुँचे, तब गाँव के सारे लोग स्वागतार्थ उत्सुक खड़े थे। स्वागत के बाद हम सब बैठ गये। यद्यपि थोड़े छोटे किसानों ने ही संकल्प किया था, फिर भी गाँव के सब लोग—स्त्री-पुरुष—अत्यन्त उत्सुकता के साथ सभा में उपस्थित थे। गाँव के मुखिया ने स्वागत में कहा : "हम लोगों में से अधिकांश भाई जो छोटे-छोटे किसान हैं, अपने भूमिहीन भाइयों के साथ अपनी जमीन बाँट लेने को तैयार हैं, यद्यपि हमारी जमीन बहुत कम है।" उनका यह अनुपम उदाहरण देखकर गाँव के अल्पसंख्यक 'बड़ों'

ने कहा : "हम इसके खिलाफ नहीं हैं, पर ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए हमारी हिम्मत नहीं होती ! हम यह सारा प्रयोग सहानुभूति से देखेंगे और जब हमें उसकी सफलता पर विश्वास हो जायगा, तब हम भी सबमें शामिल होंगे।" मुखिया ने अन्त में कहा : "छोटे-बड़े, गरीब-अमीर आपका आशीर्वाद चाहते हैं और प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें दृढ़ रहने तथा जो अभी अलग हैं, उनको सम्मिलित होने के लिए बल दे।"

क्रान्ति-सम्मेलन

२४ फरवरी को बरियारपुर में खादीग्राम का वार्षिकोत्सव समारोह था। इस बार के उत्सव ने क्रांति-सम्मेलन का रूप ले लिया था। दूसरे दिन बरियारपुर की पोलिंग में आम चुनाव का वोट पड़नेवाला था। एतदर्थ पार्टियाँ और आम जनता उसीमें मशगूल थी; फिर भी सम्मेलन में अपार भीड़ थी। लोगों में उत्सुकता और जोश था। सभी पार्टियों के लोग हमारा साथ देना चाहते थे। लेकिन उस दिन उन लोगों के भविष्य का निर्णय होनेवाला था, इसलिए वे सभी विवश थे। फिर भी सभा में काफी मात्रा में लोग उपस्थित हुए। कांग्रेस कमेटी के मंत्री ने कहा : "चुनाव के कारण यद्यपि हम कुछ दिन तक आपका साथ नहीं दे सकेंगे, इसका हमें दुःख और लज्जा भी है; फिर भी हम विश्वास दिलाते हैं कि चुनाव के उपरान्त १९५७ को पूरे वर्ष हम आपके क्रान्ति-दल का साथ देंगे।"

सभा के अन्त में भूदान-समिति के संयोजक भाई नारायणजी ने मुझसे कहा कि आप क्रान्ति-पथिकों को आशीर्वाद दें।

क्रान्ति-यात्रियों को आशीर्वाद

मैंने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा : "भाई रामनारायणजी ने मुझसे आशीर्वाद देने के लिए कहा है। मैं क्या आशीर्वाद दूँ ? मैं तो अपने परिवार के लिए आप सब भाई बहनों का ही आशीर्वाद माँगने आया हूँ। श्रमभारती का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष के समान खादीग्राम में न करके जिले के दूसरे किसी गाँव में मनाने की बात इसलिए सोची कि अब हम

जिलेभर के अपने विशाल परिवार के बीच पहुँच जायँ और पूरे परिवार का आशीर्वाद लेकर '५७ की क्रान्ति-यात्रा प्रारम्भ करें। हमारी यह यात्रा जैसा कि मेरे साथी आचार्य राममूर्ति ने बताया, अपने परिवार के लोगों से मिलने की यात्रा है। लेकिन हमारा केवल मिलना ही नहीं होगा, हम अपने विचार भी बतायेंगे।

हम लोग खादीग्राम में जिस श्रम और साम्य की साधना में लगे हुए हैं, वह इस युग के लिए कोई खास बात नहीं है। इतना ही है कि हमने वह पहले शुरू की है। वह काल पुरुष का यानी जमाने का सन्देश है। काल-प्रवाह किधर जा रहा है, उसका भान संसार के साधारण लोगों को नहीं होता है। विनोबा जैसा ही कोई व्यक्ति जन-जन को चेतावनी देने के लिए उठ खड़ा होता है। जब कभी भूकम्प शुरू होता है, तो प्रारम्भ में हरएक को उसका भान नहीं होता। शुरू में जमीन थोड़ी-थोड़ी हिलती है, तब तक भी लोगों को भान नहीं होता है। लेकिन जब एक आदमी समझकर घर के बाहर निकल आता है और चिल्लाना शुरू करता है, तब बाद में उसकी पुकार को सुनकर तथा भूकम्प को देखकर दूसरे लोग भी बाहर निकल आते हैं। जो व्यक्ति पहले बाहर आता है, उसे कोई त्यागी नहीं कहता। उसी तरह वर्ग-विषमता के कारण आज जिस तूफान के आसार दिखाई दे रहे हैं, उसे देखकर हम घर से बाहर निकल आये हैं, यह कोई हमारा त्याग नहीं है। केवल हमने समझदारी की बात की है।

आज हमने सालभर तक गाँव-गाँव के घर-घर में घूमने का संकल्प किया है। वह केवल इस समझदारी को सब तक पहुँचाने के लिए है। हमारे भाई-बहन और बच्चे आपके यहाँ जायँगे और युग की माँग आपके सामने रखेंगे। गांधीजी ने देश को जो मंत्र दिया है, जिसके अनुसार विनोबा आज देश में काम कर रहा है, वह मंत्र सामाजिक विषमता और शोषण के निराकरण का है। वह पूँजीवाद को समाप्त कर श्रमवाद को प्रतिष्ठित करने का मंत्र है। सामाजिक जीवन को पूँजी के आधार पर से

उठाकर श्रम के आधार पर टिकाना है। इसलिए हमने अपने विश्वविद्यालय का नाम 'श्रमभारती' रखा है, क्योंकि विश्वविद्यालय का आधार पूँजी नहीं है, श्रम है। आज तो केवल श्रमभारती ही नहीं, हमारा सारा आन्दोलन ही संचित निधि से मुक्त हो गया है। श्रमभारती तो इस आन्दोलन का छोटा-सा वाहन मात्र है। तब यह सवाल उठता है कि हम जो अपने को क्रान्ति का वाहन मानते हैं, उनका गुजारा कहाँ से हो। सम्पत्ति से या श्रम से ? सम्पत्ति चाहे सरकार की हो, गांधी-निधि की हो या आप सबके घर-घर के बटुए और तिजोरी की हो, वह संचित निधि ही है; अर्थात् श्रमिक के श्रम से कमाया हुआ मुनाफा रूपी धन ही है। हम जो श्रम-प्रतिष्ठा की दीक्षा लेकर निकले हैं, क्या इसी संचित-निधि के आश्रित होकर जियेंगे ? अगर ऐसा किया तो हमारी क्रान्ति टूटेगी ! हम सब कमजोर मनुष्य हैं। हम भीष्म और द्रोण जैसे शक्तिशाली और संकल्पनिष्ठ नहीं हैं। भीष्म और द्रोण को आजीवन पाण्डुओं के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी दुर्योधन के आश्रित होने के कारण कुरुक्षेत्र में कौरवों की ही ओर से लड़ना पड़ा था। तब हमारे जैसे कमजोर मनुष्य अगर पूँजी-आश्रित जीवन-यापन करते रहेंगे, तो बावजूद श्रम-प्रतिष्ठा की आकांक्षा के श्रम और पूँजी के कुरुक्षेत्र में क्या हम श्रम के साथ रह सकेंगे ? इसलिए हमने सोचा है कि हमारा परिवार इस यात्रा में श्रम-आधारित ही रहे।

वैसे तो आप हमारे परिवार के लोग हैं और आपके घर टिकते समय हम सहज ही आपके साथ खाना खायेंगे; पर गुजारे में भोजन ही तो एकमात्र मद नहीं है ? दूसरी भी मदें हैं। उनके लिए हम आपसे न सम्पत्तिदान माँगेंगे, न दूसरी ही किसी संचित-निधि से मदद मागेंगे। हम आपके खेतों में मजदूरी करना चाहेंगे। चैत का महीना आ रहा है। मजदूरों से आप अपनी रबी की फसल की कटनी कराते हैं। हमें विश्वास है कि आप हमें उस काम के लिए लगायेंगे और हमारे परिवार को मजदूरी देंगे। आपको हमसे प्रेम है, तो आपका श्रमदान भी हम ले लेंगे।

अर्थात् आप भी दो-तीन दिन हमारे साथ बैठकर कटनी में हमारी मदद कर दें। यह मदद हमारे विचार के लिए मत-दान ही होगा।

अभी आप कल से राजनैतिक पक्षों के उम्मीदवारों को वोट देने निकलेंगे। हम कोई राजनैतिक पक्षवाले नहीं हैं। हमारा लोकनैतिक पक्ष है, क्योंकि हमारा काम राज से चलनेवाला नहीं है। लोगों से चलने-वाला है। इसलिए हम आपसे वोट माँगने नहीं आते हैं। राजनैतिक पक्षों का चुनाव-आन्दोलन आज समाप्त होता है, तो हमारा लोकनैतिक पक्ष का चुनाव-आन्दोलन आज से आरम्भ होता है।

इस चुनाव में मैं निर्विरोध खड़ा हूँ। राजनैतिक चुनाव में जो निर्विरोध खड़ा होता है, उसे एक भी वोटर पूछता नहीं। यानी कोई उसके लिए वोट देने नहीं जाता है। लेकिन इस चुनाव में जो निर्विरोध खड़ा होता है, उसे हर वोटर वोट देने आता है। अतएव मैं आज आपसे वोट की माँग करना चाहता हूँ। साल मे खरीफ या रबी के अवसर पर आप हमें तीन दिन कटनी करके श्रमदान कर दें। तीन दिन का श्रम-दान हमारे लिए एक वोट होता है।

हम जब कहते हैं कि हम खादीग्राम विश्वविद्यालय श्रमदान से चलाना चाहते हैं, तो बहुत-से मित्र हमे पागल कहते हैं। वे कहते हैं कि इतना बड़ा काम आप श्रमदान से कैसे चलायेंगे ? उसके लिए गांधी-निधि या सरकार से मदद लेनी चाहिए। आखिर श्रम की ताकत ही

कहता हो कि नदी में काफी पानी नहीं है, आप चलिये, मेरे गुसलखाने में। वहाँ चहबच्चा भरा हुआ है।

तो मैं इस जिले के हर वोटर से वोट माँगता हूँ। सब लोग साल में तीन दिन कटनी करके हमें श्रमदान करें। राजनीति के वोटरों से हमारे वोटरों की संख्या अधिक है। २१ साल की उम्र से पहले उनके वोटर नहीं बन सकते। पर जब से हँसिया पकड़ना सीखते हैं, तब से लोग हमारे वोटर होते हैं। अर्थात् सात साल से साठ साल की उम्र तक के सभी लोग हमारे वोटर हैं। इस जिले की जन-संख्या २८ लाख है। उसमें से २० लाख हमारे वोटर हैं। ये २० लाख वोटर जब हमें साल में तीन दिन का समय देंगे, तो खादीग्राम ही क्यों, मैं आपके जिले के २७ थानों में २७ श्रमभारती-केन्द्र बनाकर चला दूँगा।

श्रमभारती-परिवार के भाई-बहन इस जिले के गाँव-गाँव और घर-घर वोट माँगेंगे। जिले के तीन हजार गाँवों में हमारे बक्से रहेंगे। हर गाँव के लिए एक-एक पोलिंग एजेण्ट चाहिए, जो गाँवभर के मत संग्रह करके उन्हें पेटी में डाले। हर गाँव में हमारे जो प्रेमी भाई-बहन हैं, वे अपना नाम पोलिंग-एजेन्सी में लिखाने की कृपा करें।

इसका मतलब यह नहीं कि हम आपसे सम्पत्तिदान नहीं माँगेंगे। माँगेंगे जरूर, लेकिन अपने लिए नहीं, बल्कि उन साधनहीन श्रमिकों के लिए, जिन्हें आप जमीन दे रहे हैं। सदियों से हम लोग उनके श्रम से गुजारा करते आये हैं। उनकी अरबों-खरबों की सम्पत्ति हमने अलग-अलग रूपों से लेकर भोग ली है और भोग रहे हैं। सम्पत्तिदान-यज्ञ उन्हींके धन का थोड़ा हिस्सा उन्हें ही वापस देने की कोशिश मात्र है। अतः सम्पत्तिदान से साधनहीनों को सामान देने का कार्यक्रम चलेगा। मुझे विश्वास है कि इस जिले के भाई-बहन इस यज्ञ में उत्साहपूर्वक आहुति देंगे।

अब मैं फिर से एक बार अपने परिवार की इस क्रांतियात्रा के लिए आप सबका आशीर्वाद चाहता हूँ।"

सभा के बाद श्रम-भारती-परिवार के सब लोगों ने अपना-अपना सामान उठा लिया और सब लोग यात्रा पर निकल पड़े। उस समय का दृश्य देखने लायक था। सारी जनता के नेत्र आँसुओं से तर थे। अत्यन्त समारोह के साथ वहाँ की जनता ने पथिकों को बिदा किया। नवबाबू के साथ हम लोग अगले पड़ाव तक गये, फिर वापस चले आये। इस प्रकार सन् '५७ का वर्ष पद-यात्रा का ही वर्ष रहा। ● ● ●

केन्द्रीय दफ्तर काशी में   : ३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२६-१२-'५८

सन् '५७ की पदयात्रा के कारण सर्व-सेवा-संघ का प्रधान दफ्तर खादीग्राम लाया गया, ऐसा दिखाई देता है, लेकिन खादीग्राम के निवासों का खाली होना दफ्तर लाने का विशेष कारण नहीं था, यह तो एक उपलक्ष्य मात्र था। वस्तुतः दफ्तर आन्दोलन की प्रवृत्तियों के बीच रहे, यह विचार १९५४ में बोधगया-सम्मेलन के समय से ही होता आ रहा है। बिहार में दफ्तर लाने के सुझाव का भी कारण यही था, ऐसा विनोबाजी ने बताया था। उन्होंने कहा था कि आन्दोलन से अलिप्त और दूर रहकर दफ्तर की ओर से विशेष सेवा नहीं पहुँचायी जा सकेगी। दफ्तर को भी आन्दोलन का विचार तथा प्रेरणा नहीं मिल सकेगी। इसलिए दफ्तर बोधगया आये, ऐसा निर्णय हुआ था। बाद को यह तय हुआ कि मुख्य दफ्तर वर्धा ही रहे, आन्दोलन का दफ्तर 'गया' आ जाय। उसी सम्मेलन में मेरे अध्यक्ष होने के कारण दफ्तर की जिम्मेदारी भी मुझ पर ही पड़ी।

केन्द्रीय दफ्तर का प्रश्न

सम्मेलन के बाद मैं खादीग्राम वापस आ गया। कुछ दिन बाद दफ्तर की रूपरेखा पर विचार करने के लिए सभी साथी खादीग्राम पहुँचे। दो दिन तक चर्चा चलती रही। चर्चा के मध्य मित्रों का यह परामर्श रहा कि वर्धा से दफ्तर इसलिए हटाया जा रहा है कि वह विचार तथा प्रवृत्तियों के साथ सम-रस हो सके, तो क्या यह ठीक नहीं होगा कि दफ्तर खादीग्राम में ही रखा जाय। खादीग्राम का तो जन्म ही आन्दोलन के नक्षत्र के साथ जुड़ा हुआ है। यहाँ का जीवन तथा

वातावरण वैचारिक भूमिका की बुनियाद पर बने, ऐसी कोशिश हो रही है।

लेकिन उस समय मैंने इसे ठीक नहीं समझा। खादीग्राम में श्रम के आधार पर एक विशिष्ट जीवन-पद्धति का प्रयोग चल रहा था, वह समय प्रयोग के आरम्भ का ही था। थोड़े लोग थे। किसी जीवन-पद्धति के प्रयोग के प्रारम्भ में ही दफ्तर-प्रवृत्ति को जोड़ देना इष्ट नहीं होगा, ऐसा मैं मानता था। दफ्तर का काम ऐसा है कि कई तरह के लोगों को उसमें शामिल करना पड़ता है। फिर हमारा दफ्तर, चरखा-संघ आदि सभी पुरानी संस्थाओं का सम्मिलित दफ्तर था। उसके कार्यकर्ता आन्दोलन का विचार तथा सन्दर्भ लेकर शामिल नहीं हुए थे। अतएव उनके जीवन में पुराना संस्कार और पुरानी परिपाटी घर किये हुए थी। ऐसी हालत में दफ्तर-प्रवृत्ति और खादीग्राम का प्रयोग एक साथ मिला देने से शायद प्रयोग का काम आगे न बढ़ सके, ऐसी आशंका थी। इसलिए मैंने साथियों से कहा कि फिलहाल खादीग्राम के प्रयोग को अलग रखो और दफ्तर गया में ही रहने दो। बाद में यदि कभी ऐसी परिस्थिति आये, जिसमें दोनों को मिलाने से आगे बढ़ने की सम्भावना हो, तो देखा जायगा।

सन् '५७ में जब ऐसा प्रसंग आया, तो यद्यपि पुरानी बात के सिलसिले से निर्णय नहीं हुआ, फिर भी निर्णय वही हुआ, जो सब लोग पहले चाहते थे। दफ्तर खादीग्राम में आ जाने से, काफी गया से खादीग्राम कार्यकर्ताओं के चले जाने के कारण शुरू में कठिनाइयाँ हुईं, लेकिन कुल मिलाकर लाभ ही हुआ। श्रम का अभ्यास हुआ, खादीग्राम के भीतरी वातावरण तथा आस-पास के गाँवों के श्रमदान, ग्राम निर्माण तथा ग्राम-सम्पर्क से उनके भीतर वैचारिक भूमिका बनी। जो नये आये, वे वहाँ के जीवन-क्रम तथा विचार के आधार पर ही शामिल हुए। धीरे-धीरे उत्पादक श्रम के लिए निष्ठा भी बढ़ती दिखाई देने लगी। ऐसा लगा कि अब दोनों को मिलाकर चल सकेगा।

इसलिए मैंने दफ्तर और श्रम-भारती को अलग न रखकर मिला दिया और खादीग्राम को सर्व-सेवा-संघ के प्रधान केन्द्र के रूप में संगठित करने में लग गया।

सर्व-सेवा-संघ का प्रधान केन्द्र खादीग्राम होने से दफ्तर में थानेवाले पर भी अच्छा असर होता था। प्रधान केन्द्र में शिक्षण तथा अन्य प्रवृत्तियों का चलना आस-पास के देहातों में ग्रामदान तथा ग्राम-निर्माण के वातावरण का होना संघ की दृष्टि से लोगों के लिए एक अच्छा प्रभाव डालनेवाला हुआ। इससे तुम सबको काफी सन्तोष हुआ। लेकिन खादीग्राम को प्रधान केन्द्र बनाने से दिक्कतें भी काफी बढ़ गयीं। डाक-तार की कोई व्यवस्था न होने से दुनिया से हमारा सम्पर्क नहीं के बराबर हो गया। कभी-कभी तार भी एक सप्ताह के बाद पहुँचता था। इस बीच ऐलवाल-सम्मेलन के कारण सरकारी विकास-योजना के साथ सहयोग का कार्य-क्रम भी चल निकला। इससे कठिनाई और भी ज्यादा बढ़ गयी। इससे साथियों को बहुत तकलीफ होने लगी। पत्रों के उत्तर बहुत देर से पहुँचने के कारण सब जगह असन्तोष बढ़ने लगा। इन तमाम परेशानियों के कारण आखिर में यही निर्णय हुआ कि दफ्तर किसी मध्यवर्ती स्थान में रखा जाय। इस निर्णय के अनुसार अगस्त १९५८ में दफ्तर काशी लाया गया।

खादीग्राम से काशी

सहूलियत की दृष्टि से दफ्तर को बनारस में रखने का निर्णय तो किया, लेकिन मुझे इससे समाधान नहीं हुआ। मैं मानता हूँ कि ऐसे क्रान्तिकारी आन्दोलन का दफ्तर पुराने ढंग से केवल दफ्तर के रूप में नहीं रहना चाहिए। वस्तुतः जब सर्व-सेवा-संघ ने आन्दोलन के मार्गदर्शन की जिम्मेदारी अपने ऊपर उठायी, तो उसके प्रधान केन्द्र का स्वरूप ही आन्दोलन के लिए प्रेरणादायी होना चाहिए। बापू ने चरखा-संघ के बारे में कहा था कि हमारे केन्द्र विचार के द्योतक होने चाहिए। उन्होंने

अहिंसक वातावरण का प्रश्न

मुसोलिनी के घर का उदाहरण दिया था। उन्होंने कहा था कि वे जब विलायत गये थे, तब रास्ते में मुसोलिनी से मिलने का उन्हें अवसर मिला था। उनके घर के फाटक से लेकर बैठक तक, जहाँ तक दृष्टि जाती थी, व्याघ्राम्बर और बन्दूक-तलवार आदि शस्त्रास्त्रों की ऐसी शृंखला थी कि वहाँ प्रवेश करते ही लगता था कि यहाँ पर हिंसा का वातावरण है। बापू का कहना था कि उसी तरह हमारे केन्द्र का वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिससे आगन्तुकों के मन में हमारे विचार का उद्बोधन हो सके। खादीग्राम में अगर प्रधान केन्द्र रह सकता था, तो सर्व-सेवा-संघ के प्रधान की हैसियत से हम बापू के उस कथन को चरितार्थ कर सकते थे। लेकिन हम ऐसा कर नहीं सके। इसे मैं अपनी असफलता मानता हूँ। सामान्य सहूलियत के कारण वैचारिक प्रयोगों को आसानी से छोड़ देना कमजोरी ही है। लेकिन हुआ ऐसा ही। सर्व सेवा-संघ में मैं अकेला ही व्यक्ति नहीं हूँ—ऐसे संघों में सामूहिक निर्णय ही असली चीज है। यह भी सामूहिक निर्णय ही था और विनोबाजी की राय भी थी, इसलिए इसे अपनी असफलता मानते हुए भी मुझे असन्तोष नहीं हुआ। ● ● ●

वाराणसी
१-१-'५९

सन् १९५७ में हमारे साथी सालभर की पद-यात्रा के लिए सपरिवार निकल पड़े। विदाई के समय मैंने कहा था कि जिसका दिल भर जायगा, उसे मैं वापस ले आऊँगा। मेरे इस कथन की साथियों को याद रही। वे जल्दी से दिल भरने का परिचय नहीं देना चाहते थे। लेकिन कुछ बहनों का स्वास्थ्य खराब होने लगा, तो उन्हें वापस बुलाना पड़ा। छोटे बच्चों के कारण पदयात्री-टोलियों को तथा गाँव में प्रबन्ध करनेवालों को कठिनाई होने लगी, तो उन्हें भी वापस बुलाया। फिर बरसात के दिनों में सभी बहनों और बच्चों को वापस बुला लिया। वस्तुतः बरसात के दिनों में देहात की पद-यात्रा अत्यन्त कठिन काम है। शायद इसीलिए पुराने जमाने में परिव्राजकों ने चातुर्मास्य की परिपाटी चलायी होगी। वे बरसात के दिनों में किसी एक स्थान पर ही रहते थे।

जो लोग यात्रा में रहें वे जन आधारित हों, ऐसा तय किया गया था। फिर भी तेल-साबुन आदि की कुछ व्यवस्था संघ की ओर से थी।

पदयात्रा के अनुभव

लेकिन यात्रा में और भी अनेक खर्च होते थे, जिनको स्थानीय जनता पूरा नहीं कर सकती थी। जनता में शक्ति नहीं है, ऐसी बात नहीं; बल्कि स्थानीय कार्यकर्ताओं की कमी के कारण यह असमर्थता प्रकट होती थी। इस खर्चे को साहित्य-बिक्री के कमीशन तथा श्रम की कमाई की रकम से पूरा किया जाय, ऐसा सोचा गया। श्रम की कमाई के लिए विकास-योजना के बाँध, तालाब आदि में काम करना ज्यादा सुविधाजनक था। इसलिए हमारे साथी बीच-बीच में ऐसे काम भी उठा लेते थे।

इससे खर्च की रकम की कमाई तो अत्यन्त गौण थी। ऐसी योजनाओं को लेने का असली लाभ यह था कि श्रम-प्रतिष्ठा के विचार के साथ-साथ वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की प्रक्रिया दर्शाने का अवसर मिलता था। ऐसी योजनाओं में स्थानीय लोग हमारे श्रम को मान्य करते थे और काफी तादाद में शामिल भी होते थे। इस तरह श्रम-आधारित पदयात्रा का अनुभव लेते हुए हमारे साथी आगे बढ़ते रहे।

यात्रा चलती रही। भाई राममूर्ति को समाज-विज्ञान का अच्छा अनुभव था, अच्छा अध्ययन था। तीन साल खादीग्राम में रहकर जो अनुभव हुआ और आन्दोलन के बीच रहने से विचार की जो पुष्टि हुई, उससे उनमें विचार समझाने की अच्छी क्षमता आ गयी थी। फलतः पदयात्रा के दौरान में जनसभाओं में जो भाषण करते थे, उनकी शोहरत दिन-दिन बढ़ती गयी। ठीक चुनाव के दिनों में पदयात्रा न हो, ऐसी सलाह बहुत-से मित्रों ने दी थी, लेकिन हमने मान लिया था कि चुनाव के कारण आरोहण की प्रक्रिया में हेर-फेर करने का मतलब है कि चुनाव में निरपेक्षता नहीं है। इसलिए हमने चुनाव के बावजूद पद-यात्रा जारी रखी। उससे लाभ ही हुआ। चुनाव की गन्दगी तथा उसकी होड़ द्वारा उत्पन्न परेशानियों के कारण जनता पक्षनिष्ठ सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से ऊबी हुई थी। उस समय चुनाव की स्मृतियाँ ताजी थीं। परेशानियाँ बनी हुई थीं। जब जनता यह देखती थी कि ये लोग किसी पक्ष में नहीं हैं, किसीकी निन्दा नहीं करते, बल्कि एक रचनात्मक विचार दे रहे है और साथ ही उसके लायक हलका कार्यक्रम भी बता रहे हैं, तो उसका आकर्षण हमारी ओर सहज ही बढ़ जाता था। खादीग्राम में रहते श्रम के आधार पर हम जो कुछ सार्वजनिक सेवा करते थे, उसके बारे में जिले के लोग कभी-कभी सुना करते थे। सन् '५५ के अन्त में जो ग्राम-राज-सम्मेलन हुआ था, उससे खादीग्राम की शोहरत कुछ बढ़ी थी। अब जब हमारे काम का ढग जनता ने देखा तथा

बड़े परिवार में प्रवेश

विचारों का विवेचन सुना, तो उसे बड़ा सन्तोष हुआ। हर पड़ाव पर दो दिन टिकने की परिपाटी रखने के कारण तथा घरों में बँटकर भोजन करने से लोगों से आत्मीयता भी बढ़ी। इन तमाम कारणों से बरियारपुर-सम्मेलन की जन-सभा में कही हमारी यह बात काफी हद तक सार्थक होती थी कि हम अब अपने बड़े परिवारों में प्रवेश कर रहे हैं।

पद-यात्रा से हमें एक और लाभ मिला। हम रचनात्मक कार्यकर्ताओं से पक्ष-निरपेक्ष रहने के लिए कहते हैं। पक्ष-निरपेक्षता दो तरीकों से सध सकती है—हरएक पक्ष को अलगाकर या अपना-

पक्ष-निरपेक्षता

कर। १९५५ में एक माह मैंने कलकत्ता में बिताया था, उसका विवरण लिख चुका हूँ। उन दिनों मैं सर्वोदय के कार्यकर्त्ताओं की बैठकों में जाता था, तो सुनता था कि वे अपने को निर्दलीय पक्ष का कहते थे। मैंने उसी समय उन्हें बताया था कि सर्वोदय अगर सबका उदय यानी सबका शुद्धीकरण चाहता है, तो उसको निर्दलीय न बनाकर सर्वदलीय बनाया जाय। इस संदर्भ में भी पद-यात्रा से हम लोगों को लाभ हुआ। दिसम्बर '५५ में 'ग्राम-स्वराज्य-सम्मेलन' के अवसर पर खादीग्राम के एक ही मंच पर जब सभी पक्षों के लोग समान कार्यक्रम पर सहमति प्रकट कर रहे थे, तब सामने बैठा हुआ, जिलेभर का विराट् जनसमूह सर्वोदय के सर्वदलीय स्वरूप को देखकर गद्गद हो रहा था। आज जब उसी सर्वोदय के मुट्ठीभर सेवक गाँव-गाँव में घूमकर सर्वोदय का विचार-प्रचार कर रहे थे, तब उन्हें हर पक्ष के लोगों का प्रेम मिल रहा था। वे सब उत्साह से सभाओं में आते थे। भाई राममूर्ति से विचार-विनिमय करते थे और मतभेदों के रहते हुए भी काफी दूर तक सहमति जाहिर करते थे। इस प्रकार कुल मिलाकर पद-यात्रा ने मुंगेर जिले में सर्वोदय-विचार का गहरा प्रचार किया तथा व्यापक रूप से लोक-सम्मति हासिल की। ग्रामीण जीवन तथा उनकी समस्याओं के साथ गहराई का सम्बन्ध और परिचय हुआ। वर्ष के अन्त में जब सब लोग लौटे, तो उनके पास अनुभव और प्रेम की

भरपूर पूँजी थी। इससे प्रत्येक साथी को आगे के जीवन के लिए यात्रा-पाथेय संग्रह करने का अवसर मिला।

सर्वोदयी मित्रों की संख्या में वृद्धि

यात्रा की फलश्रुति में दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह रहा कि जिलेभर सर्वोदय-प्रेमी मित्र तथा सेवक बने। हमने फरवरी '५८ में ऐसे मित्र तथा सेवकों का एक माह का शिविर करने का निर्णय किया था। यह समय किसानों की अत्यन्त व्यस्तता का था, क्योंकि इन दिनों रबी की फसल कटने का मौसम शुरू हो जाता है। फिर भी शिविर में १२५ भाई-बहनों ने भाग लिया था। शिविर में प्रशिक्षित सेवक आगे चलकर जिले के काम की शक्ति साबित हुए।

साम्ययोगी परिवार की कठिनाइयाँ

खादीग्राम में श्रम और साम्य का जो प्रयोग मैं कर रहा था, उसका क्रम-विकास मैं बता चुका हूँ। धीरे-धीरे नये लोग, नये कार्यकर्ता आने लगे और चालू परिपाटी के अनुसार साम्ययोगी-परिवार में शामिल होने लगे। इनके शामिल होने में परिवार के साथ पहले से किसी स्नेह-सम्बन्ध का आधार नहीं था। इसलिए जिस पारस्परिक स्नेह के आधार पर परिवार बना था, वह धीरे-धीरे हल्का होता गया और आखिर में इसका रूप बहुत कुछ संस्थागत रिवाज जैसा हो गया। भावना ठीक थी, आचार भी शुद्ध रहता था, लेकिन शुरू में परिवार-भावना में जो स्वाभाविकता थी, वह नहीं रही। सामूहिकता के भीतर कृत्रिमता की झलक दिखाई देने लगी, तो सहज ही मेरे मन में यह शंका पैदा हुई कि हम जो प्रयोग कर रहे हैं, वे वैचारिक दृष्टि से सही होने पर भी क्या सही उपादानों के द्वारा चल रहे हैं ? तुम जानती ही हो कि मेरे मन में जब कोई विचार उठता है, तो मैं अपना सर्वस्व चिन्तन उसीमें लगा देता हूँ। तो उन दिनों मेरा सारा ध्यान परिवार-भावना, साम्य-योग, समवेतन आदि प्रश्नों पर जोरों से गया। क्या समविचार परिवार का आधार हो सकता है ? अगर नहीं, तो कौन-सी

तत्त्व पर परिवार बन सकता है ? पुराने-जमाने मे रक्तगत एकता के आधार पर परिवार बनता था, लेकिन रक्त का तत्त्व भी परिवार बनाने के लिए टिकाऊ नहीं साबित हुआ। फिर कौन-सा तत्त्व है, जिसके आधार पर परिवार बन सकता है ? दूसरा सवाल यह खड़ा हुआ कि परिवार न सही, लेकिन सामूहिक जीवन तो बन सकता है। सहकार और सहभोग तो सामाजिक प्रक्रिया है, उसके लिए परिवार-भावना पैदा होना आवश्यक है क्या ? परिवार-भावना का पैदा होना आवश्यक तो नहीं है, लेकिन सामाजिक सहकार तथा सहभोग के लिए भी किसी-न किसी प्रकार के जुड़ाऊ तत्त्व की आवश्यकता तो है ही। इस प्रकार के अनेक प्रश्न मेरे विचार को आलोड़ित करते थे। खादीग्राम के परिवार का विश्लेषण करने लगा, तो उसमें मुझे कई चीजें दिखाई पड़ीं, जो परिवार बनाने के लिए अनुकूल नहीं थीं। पहली बात यह थी कि सब लोगों में सम-विचार नहीं था। साथी कार्यकर्ता समान आदर्श तथा विचार से प्रेरित होकर जीवन की पूर्व-परिस्थिति को छोड़कर खादीग्राम में एकत्र हुए थे। लेकिन उनके परिवार उस प्रकार के विचार और आदर्श के पीछे नहीं आये थे। परन्तु सामूहिक परिवार में तो वे भी थे। किसी परिवार का मुख्य उपादान स्त्री होती है। खादीग्राम के परिवारों की स्त्रियों में आदर्श तथा विचार की मान्यता न होना, एक बहुत बड़ी कम-जोरी थी। दूसरी स्थिति यह थी कि एकआध को छोड़कर बाकी सबके दो घर हो गये थे, एक खादीग्राम, दूसरा उनका पुराना घर, जहाँ से वे आये थे। लोग खादीग्राम के लिए एक-दूसरे से बँधे हुए थे, लेकिन प्रत्येक की कमर पुराने घर के खूँटे से भी बँधी हुई थी। ऐसी स्थिति में पूरे व्यक्तित्व पर खींचा-तानी की-सी दशा कायम रहती थी। आदर्श और विचार उन्हें एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करते थे और कमरवाली रस्सी विपरीत दिशा की ओर खींचती थी। इस प्रकार के विभाजित व्यक्तित्व के कारण ही पारिवारिक स्वाभाविकता नहीं आ पाती थी। तीसरी बात यह थी कि खादीग्राम के जीवन में सहकारी पुरुषार्थ की बुनियाद नहीं थी, हम

परिवारवाले अपनी जीविका के लिए परस्परावलम्बित नहीं थे। बाहर से उपभोग के लिए जो सामग्री आती थी, उसकी कोई स्वाभाविक मर्यादा नहीं थी। बाहरी सहायता से पली हुई जमात, स्वावलम्बी जमात की स्वाभाविक मर्यादा को समझ नहीं पाती है।

वस्तुतः इन तमाम परिस्थितियों के होते हुए भी हमने जो परिवार बनाने का साहस किया था, वह अत्यन्त कठिन प्रयोग था। फिर भी हमारे साथी जब उसे एक कामचलाऊ सफलता की तरह चलाने लगे, तो उससे मुझे काफी संतोष रहा। इससे देश के लोगों को प्रेरणा भी मिलती थी। पर मेरे मन को उससे पूरा समाधान नहीं था।

स्नेह और सामूहिक पुरुषार्थ

काफी सोचने पर मुझे लगता था कि कुटुम्ब-भावना के लिए कम-से-कम दो चीजें तो आवश्यक हैं। पहला स्नेह-तत्त्व, दूसरा सामूहिक पुरुषार्थ की बुनियाद, जो जीविका के साथ जुड़ी हो। प्रारम्भ में खादीग्राम में जो थोड़े लोग थे, उनमें दो में से एक ही पर प्रमुख तत्त्व था। यानी उनमें परस्पर स्नेह था। यह स्नेह कुछ पूर्व-परिचय के कारण और कुछ साथ मिलकर शुरू में कठिन जीवन बिताने के कारण बना था। बाद में जब नये लोग बनी-बनायी संस्था की सहूलियत में शामिल होने लगे, तो उनमें वह चीज पैदा नहीं हो सकी। मुझे ऐसा लगा कि शायद संस्था में इन तत्त्वों का निर्माण करना संभव नहीं है। गाँव की स्थिति और संस्था की स्थिति में अन्तर होगा ही। गाँव में रहनेवालों के दो घर नहीं होते। आज की पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के बावजूद जीवन-संघर्ष के लिए काफी हद तक परास्परावलम्बन की आवश्यकता है। वंश-परम्परा से साथ रहने के कारण स्नेह सम्बन्ध निर्माण की काफी गुंजाइश होती है। ग्रामदान होने पर जब सम-विचार और सम-आदर्श कायम हो जाता है, तो सामूहिक पुरुषार्थ में उपर्युक्त अनुकूल परिस्थिति मिलकर कुटुम्ब-भावना का अवसर निर्माण कर देती है। ऐसा संस्थाओं में नहीं होता।

यद्यपि उन दिनों मेरे दिमाग को इन उपर्युक्त विचारों ने आलोड़ित

कर रखा था, फिर भी खादीग्राम के प्रयोग को प्रेरणादायी मानकर चलाता था। लेकिन मन में रह-रहकर यही विचार आता था कि इस प्रकार के सामाजिक प्रयोग गाँव की स्वाभाविक जलवायु में ही सफल हो सकते है, इसलिए साथियों को खादीग्राम से निकलकर ग्रामीण जनता में विलीन होने के लिए कहता रहता था।

पदयात्रा में जो बहनें और बच्चे थे, वे जुलाई में खादीग्राम आ गये थे। यहाँ बच्चों के शिक्षण की व्यवस्था न होने के कारण यहाँ की लड़कियों को महिला-आश्रम भेज दिया। बाहर के बच्चों को उनके घर भेज दिया। छोटे बच्चों के शिक्षण की व्यवस्था कर ली। बड़े लड़कों को पदयात्रा में ही छोड़ दिया। यहाँ केवल बहनें ही रह गयी थीं।

निराशा का वातावरण

खादीग्राम के जीवन में काफी ढिलाई आने लगी। साथियों की विचार-निष्ठा के कारण जो कृत्रिमता दबी रही थी वह उनकी अनुपस्थिति में उमड़ने लगी। गया से दफ्तर भी यहाँ आ जाने के कारण अधिकांश कार्यकर्ताओं में भी वह विचार-निष्ठा नहीं रही. इस तरह खादीग्राम के परिवार में विचार-निष्ठ कार्यकर्ताओं की पत्नियाँ और अनेक प्रकार की भावनाओंवाले कार्यकर्ता रह गये। स्पष्ट है कि ऐसी जमात में साम्य-योग, परिवार-भावना आदि की चेष्टा निष्फल होनी ही थी। परम्परा के कारण चीजें वे ही रहीं, लेकिन वे निर्जीव थीं। इसलिए १९५७ में खादीग्राम के जीवन का नैतिक स्तर बहुत गिर गया, जो अन्त-अन्त तक बना रहा। बाहर से जो कोई आता, वह मेरे पास अपना असन्तोष प्रकट करता और सुझाव देता कि इसके लिए कुछ कीजिये। "हम लोग बहुत बड़ी प्रेरणा की आशा से आपके यहाँ आते हैं, लेकिन यहाँ की स्थिति देखकर हमें बहुत निराशा होती है।" मैं उन्हें वस्तुस्थिति का भान कराता था, लेकिन इससे उन लोगों को कैसे समाधान होता? ऐसी ही परिस्थितियों में १९५७ का वर्ष समाप्त हो गया और सन् १९५८ की पहली जनवरी को क्रान्ति-यात्रा से लोग लौट आये।

● ● ●

सम-वेतन और साम्य-योग की साधना : ५ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-१-'५९

भूदान-आन्दोलन विषमता-निराकरण का आन्दोलन है। हम सब लोग इसका प्रचार करते हैं और देशभर में गांधीजी के बताये कार्यक्रम को चलानेवाली रचनात्मक संस्थाओं में काम करनेवाले लोग भी ऐसा ही कहते रहते हैं। लेकिन हमारे सारे समाज में एक बड़ी विसंगति है। हम जिन संस्थाओं में रहते हैं, जहाँ काम करते हैं, जिनके माध्यम से विषमता-निराकरण का सन्देश फैलाते हैं, उन्हीं संस्थाओं में इतनी अधिक विषमता का आधार बना रहता है कि जनसाधारण को भी वह दिखाई देता है। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि ये संस्थाएँ समता की क्रान्ति की कोख में से नहीं जनमी थीं, तो इनसे समता की अपेक्षा क्यों की जाय? यद्यपि इनकी स्थापना बापू की प्रेरणा से हुई थी, फिर भी इनका संगठन राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर हुआ था। सामन्तवाद को माननेवाला या पूँजीवाद का समर्थक भी स्वातन्त्र्य-संग्राम का सैनिक बन सकता था, इसलिए स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए स्थापित संस्थाएँ यदि समता का आधार नहीं रखतीं, तो उसमें एतराज भी क्या हो सकता है? पिछले पचीस सालों में संस्थाओं की विषमता पर किसीने कुछ टीका भी नहीं की है, क्योंकि किसीको उसमें किसी भी प्रकार की कोई विसंगति नहीं दिखाई देती थी। परन्तु जब से भूदान-आन्दोलन शुरू हुआ, विनोबा समता की वाणी लेकर देशभर में घूमने लगे तथा पुरानी रचनात्मक संस्थाएँ उस वाणी का वाहक बनने लगीं, तब से संस्थागत विषमता लोगों को खटकने लगी। संस्था के बाहर और भीतर असन्तोष भी बढ़ने लगा।

गांधी-आश्रम, उत्तर-प्रदेश का वार्षिक सम्मेलन मेरठ में हो रहा था। अपनी परिपाटी के अनुसार गांधी-आश्रम ने उत्तर-प्रदेश के सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओं को आमन्त्रित किया था।

वेतन-विषमता का प्रश्न

एक सदस्य के नाते मैं भी वहाँ मौजूद था। काफी अरसे से बाहर रहने के कारण मैं इन दिनों आश्रम के कामों से अलग हो गया था, लेकिन इस बार के सम्मेलन में मुझे बोलना पड़ा। मैंने देखा कि सम्मेलन में आश्रम के कार्यकर्ता तथा बाहर के लोग वेतन-विषमता पर उत्कट टीका कर रहे हैं। वे आश्रम के संचालकों को परेशान भी कर रहे थे। मैंने शिकायत करनेवालों से पूछा : "आप आश्रम में झाड़ू लगानेवाला रखते हैं, कुछ दूसरे मजदूर भी रखते हैं, शायद घर पर भी मजदूर रखते होंगे, लेकिन अगर मैं आपसे कहूँ कि आप क्यों नहीं उनके बराबर मजदूरी लेते, तो आप तुरन्त जवाब देंगे कि आपकी योग्यता या कार्य-क्षमता उनसे अधिक है। आप कहेंगे कि 'मैं बौद्धिक काम करता हूँ, इसलिए मैं अधिक लेता हूँ', तो आपसे अधिक बुद्धि रखनेवाला या अधिक योग्यता रखनेवाला व्यक्ति अधिक लेता है, तो एतराज क्यों करते हैं ?" इतना कहकर मैंने उनके सामने समता और क्षमता की दो विचारधाराओं का जिक्र किया। मैंने कहा कि पहले मनुष्य क्षमता का कायल था और आज भी आप उसीके कायल हैं, तो जब संस्थाएँ उसके अनुसार ही अपनी वेतन-मर्यादा रखती हैं, तो आपको एतराज नहीं होना चाहिए।

संस्थाओं के स्वरूप तथा शिकायत करनेवालों की मनोभावनाओं के सन्दर्भ में मैंने जो कुछ कहा, सही कहा। लेकिन प्रश्न यह है कि पिछले पचीस-तीस साल से संस्थाओं के स्वरूप ऐसे ही होने पर भी लोगों में असन्तोष नहीं था, पर आज क्यों हो रहा है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वह यह कि जमाना बदल गया है। इस जमाने में मनुष्य विषमता बर्दाश्त नहीं कर सकता। भारत में ही नहीं, सारी दुनिया में आज समता का नारा बुलन्द है। फिर जिन संस्थाओं का दावा यह है कि वे बापू के

स्वप्न के अनुसार अहिंसक समाज-रचना करने के लिए आगे बढ़ रही है, उनसे जनता को अगर विशिष्ट अपेक्षाएँ हों, तो उसमें आश्चर्य क्या है। इस युग में जब विनोबा कहते हैं कि सारी उत्पत्ति की जननी भूमि का समान वितरण किया जाय और गाँव-गाँव में यह सन्देश फैला रहे हैं, तो इसका मतलब है कि वे साधारण जनता को साम्यधर्म की दीक्षा दे रहे हैं। साधारण जनता के लिए जितना धर्माचरण अपेक्षित है, निःसन्देह उस धर्म के पुरोहित के लिए उससे ऊँचे आचरण का विधान होगा। तो यदि गांधीवादी रचनात्मक संस्थाएँ साम्यधर्म के पौरोहित्य का दावा करती हैं, तो उनके आचरणों का प्रकार क्या होगा, यह तुम समझ ही सकती हो। यही कारण है कि हमारी संस्थाओं के बारे में आज देशभर को असन्तोष है।

विनोबा इस परिस्थिति को देख रहे थे। वे रह-रहकर कार्यकर्ताओं से कहते थे कि संस्थाओं में साम्ययोग का कोई-न-कोई कदम उठाना चाहिए। तुम लोगों को मालूम ही है कि वे अपने द्वारा संस्थापित ग्राम-सेवा-मण्डल के लोगों को बार-बार समवेतन की नीति अपनाने को कहते थे, लेकिन दुर्भाग्य से अभी तक वहाँ कार्यान्वित नहीं हो सका। बिहार के लक्ष्मी बाबू अग्रगामी विचार के लिए हमेशा मुस्तैद रहते थे। सन् १९४५ में जब बापू ने चरखा-संघ के नवसंस्करण की बात की थी, तब लक्ष्मी बाबू ही, जो उस समय बिहार चरखा संघ के मन्त्री थे, सबसे पहले आगे बढ़े। सन् १९४८, ४९ में जब मैं केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार की बात करता था और मेरे जैसे छोटे कार्यकर्ता की बात होने के कारण वह बोली मुँह से निकलते-निकलते ही सूख जाती थी, तो यह लक्ष्मी बाबू ही थे, जिन्होंने बिहार में उस आन्दोलन को अपनाया। १९५५ में जब मैंने तन्त्रमुक्ति की बात शुरू की थी, तब बावजूद इसके कि हमारे सभी साथी उस विचार के खिलाफ थे, लक्ष्मी बाबू ने कहा कि यह बिल्कुल सही रास्ता है और सबसे पहले खुद तन्त्रमुक्त होकर आन्दोलन चलाने की बात की। आज लक्ष्मी बाबू नहीं हैं। उनकी बातें रह-रहकर याद आ

रही हैं। वे होते तो कम-से-कम बिहार में चालीसगाँव के प्रस्ताव से आन्दोलन को सर्वजन-आधारित बनाने का विचार चला, उसका रूप कुछ और होता। अब तक लक्ष्मी बाबू ने बिहारभर में तूफान मचा दिया होता। खादीग्राम के साथियों को सर्वजन-आधार पर सेवा करने का मार्ग निकालने में जो कठिनाई हो रही है, वह नहीं होती। लेकिन वे होते तो क्या होता, ऐसी बातें सोचने से क्या लाभ है? लाभ चाहे न हो, याद तो आती ही है।

लक्ष्मी बाबू बिहार खादी ग्रामोद्योग-संघ के अध्यक्ष थे। वे अपनी संस्था में समवेतन का प्रस्ताव लाये। उनका प्रस्ताव किसीको भी मजूर नहीं था। संस्था के मन्त्री ध्वजा भाई तथा संचालक-मण्डल के सभी अन्य सदस्य इसके खिलाफ थे। ध्वजा-भाई ने मेरी राय ली। मैंने भी खिलाफ राय दी।

बिहार खादी-संघ में सम-वेतन

तुम पूछोगी कि खादीग्राम में साम्ययोग में लगे रहने पर भी मैंने समवेतन के खिलाफ राय क्यों दी? तुम सबको मालूम है कि इस दुनिया मे कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं है, हर वस्तु सापेक्ष है, यह मैं मानता हूँ। वस्तुतः मेरी इस मान्यता के कारण बहुत-से मेरे साथी परेशान रहते हैं। वे जब देखते हैं कि समान समस्या के लिए भी अलग-अलग साथियों को अलग-अलग राय देता हूँ, तो वे कभी-कभी घबड़ा भी जाते हैं। संभवतः कभी-कभी वे मेरी मति-स्थिरता पर भी सन्देह करने लगते हैं, लेकिन हर व्यक्ति, संस्था या राष्ट्र का अपना स्वभाव तथा स्वधर्म होता है, यह स्वधर्म और स्वभाव हरएक में अलग-अलग होता है। अगर उनकी कार्य-सूची इसके अनुसार न हो, तो निःसन्देह वह सफल नहीं होगा। खादी ग्रामोद्योग-संघ का भी एक स्वभाव और स्वधर्म था। राष्ट्रवादी आन्दोलन की कोख से जनमी हुई संस्था पचीस साल में प्रौढ़ हो चुकी थी। इसका स्वभाव और स्वधर्म राष्ट्रवादी होना ही स्वाभाविक था, साम्यवादी नहीं। यही कारण है कि मैंने समझा कि साम्य का विचार न पचा सकने के कारण खादी ग्रामोद्योग-संघ के कार्यकर्ता दिक्‌दारा

हो जायेंगे। लेकिन लक्ष्मी बाबू का त्याग, उनकी तपस्या तथा संकल्प-निष्ठा असीम थी। उन्होंने अपने साथियों को समझाना शुरू किया। आखिर विनोबाजी की प्रेरणा तथा लक्ष्मी बाबू के संकल्प के फलस्वरूप खादी संघ के संचालक-मंडल ने मान लिया और वहाँ समवेतन का सिद्धान्त लागू हो गया।

संस्थाओं में परिवार-भावना का निर्माण होना असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन है, यह बात मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन समाज में

सम-वेतन और साम्य-साधना

जब साम्य-प्रतिष्ठा की कोशिश की जा रही है, तो कोशिश करनेवाली संस्था में साम्य होना ही चाहिए, इतना मैं मानता था। अतएव यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से मैंने खिलाफ राय दी थी, फिर भी समवेतन के निर्णय से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। लेकिन समवेतन के निर्णय के साथ-साथ एक दूसरा विचार मेरे मन में उठने लगा। वह यह कि अगर संस्था में सबका समान वेतन हो जाय, तो क्या वह समाज में साम्य-स्थापना का द्योतक है? क्या उतने मात्र से हम कह सकते हैं कि हम साम्ययोग की साधना में लगे हुए हैं? किसी संस्था के लोग अगर यह निर्णय करें कि वे सबको ५००) मासिक वेतन देंगे, तो क्या इसे तुम साम्ययोग साधना मानोगी? अमेरिका में कोई संस्था अगर २०००) का समवेतन रखती है, तो उसे शायद साम्ययोग साधना कहा जा सकेगा; लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं हो सकता है, तो केवल समवेतन से साम्ययोग सध नहीं सकता, यह साफ है। देश, काल तथा पात्र के अनुसार साम्ययोग का प्रकार अलग होगा। हम जिस साम्य की बात करते हैं, वह सामाजिक साम्य है न? तो कोई संस्था अगर साम्ययोग साधने का संकल्प करे, तो उसके लिए कोई वेतन-समता ही काफी नहीं है, बल्कि समवेतन का मान निर्धारित करते समय सामाजिक मान के संदर्भ को सामने रखना होगा। खादीग्राम से सटा हुआ रूलमटिया गाँव है। खादीग्राम के निर्माण के सिलसिले में वहाँ के स्त्री-पुरुष और बच्चों सबको

काम मिलता रहता है, फिर भी हम जब उस गाँव के आँकड़े बटोरने लगे, तो देखा कि उस गाँव की आमदनी ३०)-४०) प्रति परिवार के बीच है। इस हिसाब से तुम उन देहातों की हालत का अन्दाज लगा सकती हो, जिसकी बगल में कोई ऐसा निर्माण-कार्य नहीं हो रहा हो, जिससे गाँववालों को काफी मजदूरी मिल सके। बिहार, हिन्दुस्तान का एक गरीब प्रदेश है, यह तुम्हें मालूम है! अतएव इस प्रदेश में अगर हम कार्यकर्ता १००) मासिक सम-वेतन का निर्णय करें, तो आज की सार्वजनिक संस्थाओं की जो स्थिति है, उसे देखते हुए विषमता-निराकरण की दिशा में एक बड़ा कदम उठाना ऐसा माना जा सकता है, लेकिन अगर उसके आगे विचार न करें, तो हम साम्ययोग साधना की ओर कदम उठा रहे हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। साम्ययोग साधना की ओर यात्रा है—ऐसा तभी माना जा सकेगा, जब हम कोई भी कदम उठायें वह सामाजिक परिस्थिति से अनुबन्धित हो, चाहे प्रारम्भ में पैसे की दृष्टि से हम अधिक पैसे से शुरू करें।

संस्था का आन्तरिक विषमता-निराकरण अपनी जगह पर भारी महत्त्व रखता है। अगर देश की सभी रचनात्मक संस्थाएँ अपने-अपने प्रतिष्ठान् के भीतर यह नियम बना लें, तो आज की विषमता से जर्जरित समाज के सामने एक बहुत बड़ा उदाहरण पेश हो सकेगा। इस कारण समाज में जो प्रेरणा निर्माण होगी, उसकी परिणति से राज्य-संस्था पर भी असर हो सकता है। अगर वह भी वेतन-समता की ओर कदम उठा सके, तो इसका देश में बहुत व्यापक परिणाम होगा, उससे देशभर के सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोणों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। लेकिन संस्थागत विषमता-निराकरण एक चीज है और साम्य-योग साधना दूसरी चीज है। साम्य-योग साधना के लिए यह आवश्यक है कि साधक जिस समाज का नागरिक है, यानी सेवक है, उस समाज के साथ तद्रूप हो अर्थात् अपने को उसकी हैसियत में शामिल करे या उसकी स्थिति को अपने बराबर कर सके।

हो जायेंगे। लेकिन लक्ष्मी बाबू का त्याग, उनकी तपस्या तथा संकल्प-निष्ठा असीम थी। उन्होंने अपने साथियों को समझाना शुरू किया। आखिर विनोबाजी की प्रेरणा तथा लक्ष्मी बाबू के संकल्प के फलस्वरूप खादी संघ के संचालक-मंडल ने मान लिया और वहाँ समवेतन का सिद्धान्त लागू हो गया।

सम-वेतन और साम्य-साधना

संस्थाओं में परिवार-भावना का निर्माण होना असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन है, यह बात मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन समाज में जब साम्य-प्रतिष्ठा की कोशिश की जा रही है, तो कोशिश करनेवाली संस्था में साम्य होना ही चाहिए, इतना मैं मानता था। अतएव यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से मैंने खिलाफ राय दी थी, फिर भी समवेतन के निर्णय से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। लेकिन समवेतन के निर्णय के साथ-साथ एक दूसरा विचार मेरे मन में उठने लगा। वह यह कि अगर संस्था में सबका समान वेतन हो जाय, तो क्या वह समाज में साम्य-स्थापना का द्योतक है? क्या उतने मात्र से हम कह सकते हैं कि हम साम्ययोग की साधना में लगे हुए हैं? किसी संस्था के लोग अगर यह निर्णय करें कि वे सबको ५००) मासिक वेतन देंगे, तो क्या इसे तुम साम्ययोग साधना मानोगी? अमेरिका में कोई संस्था अगर १०००) का समवेतन रखती है, तो उसे शायद साम्ययोग साधना कहा जा सकेगा; लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं हो सकता है, तो केवल समवेतन से साम्ययोग सध नहीं सकता, यह साफ है। देश, काल तथा पात्र के अनुसार साम्ययोग का प्रकार अलग होगा। हम जिस साम्य की बात करते हैं, वह सामाजिक साम्य है न? तो कोई संस्था अगर साम्ययोग साधने का संकल्प करे, तो उसके लिए कोई वेतन-समता ही काफी नहीं है, बल्कि समवेतन का मान निर्धारित करते समय सामाजिक मान के संदर्भ को सामने रखना होगा। खादीग्राम से सटा हुआ लक्ष्मटिया गाँव है। खादीग्राम के निर्माण के सिलसिले में यहाँ के स्त्री-पुरुष और बच्चे सबको

काम मिलता रहता है, फिर भी हम जब उस गाँव के आँकड़े बटोरने लगे, तो देखा कि उस गाँव की आमदनी ३०)-४०) प्रति परिवार के बीच है। इस हिसाब से तुम उन देहातों की हालत का अन्दाज लगा सकती हो, जिसकी बगल में कोई ऐसा निर्माण-कार्य नहीं हो रहा हो, जिससे गाँववालों को काफी मजदूरी मिल सके। बिहार, हिन्दुस्तान का एक गरीब प्रदेश है, यह तुम्हें मालूम है! अतएव इस प्रदेश में अगर हम कार्यकर्ता १००) मासिक सम-वेतन का निर्णय करें, तो आज की सार्वजनिक संस्थाओं की जो स्थिति है, उसे देखते हुए विषमता-निराकरण की दिशा में एक बड़ा कदम उठाना ऐसा माना जा सकता है, लेकिन अगर उसके आगे विचार न करें, तो हम साम्ययोग साधना की ओर कदम उठा रहे हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। साम्ययोग साधना की ओर यात्रा है—ऐसा तभी माना जा सकेगा, जब हम कोई भी कदम उठायें वह सामाजिक परिस्थिति से अनुबन्धित हो, चाहे प्रारम्भ में पैसे की दृष्टि से हम अधिक पैसे से शुरू करें।

संस्था का आन्तरिक विषमता-निराकरण अपनी जगह पर भारी महत्त्व रखता है। अगर देश की सभी रचनात्मक संस्थाएँ अपने-अपने प्रतिष्ठान् के भीतर यह नियम बना लें, तो आज की विषमता से जर्जरित समाज के सामने एक बहुत बड़ा उदाहरण पेश हो सकेगा। इस कारण समाज में जो प्रेरणा निर्माण होगी, उसकी परिणति से राज्य-सस्था पर भी असर हो सकता है। अगर वह भी वेतन-समता की ओर कदम उठा सके, तो इसका देश मे बहुत व्यापक परिणाम होगा, उससे देशभर के सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोणों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। लेकिन संस्थागत विषमता-निराकरण एक चीज है और साम्य-योग साधना दूसरी चीज है। साम्य-योग साधना के लिए यह आवश्यक है कि साधक जिस समाज का नागरिक है, यानी सेवक है, उस समाज के साथ तद्रूप हो अर्थात् अपने को उसकी हैसियत में शामिल करे या उसकी स्थिति को अपने बराबर कर सके।

बिहार खादी ग्रामोद्योग-संघ के लोगों ने समवेतन का निर्णय लेकर कार्यकर्ता सम्मेलन में बोलने के लिए मुझे निमन्त्रित किया, तो मैंने उनसे कहा : "आप लोगों ने जो निर्णय किया है, वह प्रशंसनीय है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। अगर आपकी संस्था विनोबा के आन्दोलन का वाहक बनना चाहती है, तो उसे आगे बढ़कर साम्ययोग-साधना में लगना होगा।" मैंने उनसे पूछा कि डाकुओं या चोरों के गिरोह डाके या चोरी से प्राप्त सामग्री को अपने में समान वितरित कर लेते हैं, तो क्या हम उन्हें साम्य-साधक कह सकेंगे? ऐसा नहीं कह सकेंगे। आज के बाजार भाव के अनुसार एक परिवार के लिए १००) बहुत अधिक नहीं है, इसलिए उन्हें उसे कम करने की कोशिश नहीं करनी है, वरन् अपने केन्द्र के आस-पास के देहातों की सेवा इस प्रकार करनी है, जिससे उनकी आमदनी भी प्रति परिवार १००) मासिक हो जाय। इसलिए उनकी जिम्मेदारी, केवल वस्त्रोद्योग से बेकारों को काम देना नहीं है, बल्कि खेती आदि सभी धंधों में उन्नति कर तथा सामाजिक कुरीतियों को मिटाकर उनके जीवन-स्तर को ऊपर उठाना है।

जनता का स्तर उठाना जरूरी

खादीग्राम में भी जब वेतन-मान की चर्चा होती थी, तब तब मैं यही कहता कि "आप उतना ही वेतन ले सकते हैं, जितना पचीस तीस साल में आस-पास की जनता को ऊपर उठा सकते हैं। अगर उनको जहाँ तक पहुँचाने का भरोसा है, उतना ही आप आज से लेते हैं और उन्हें उठाने की प्राण-पण से कोशिश करने लग जाते हैं, तभी मैं कहूँगा कि आप साम्ययोग की साधना में लगे हुए हैं, क्योंकि आपकी दिशा सामाजिक साम्य प्रस्थापित करने की ओर है।"

जिस समय मेरे दिमाग में इन्हीं विचारों की उथल-पुथल मची हुई थी, उन्हीं दिनों खादीग्राम के साथी पदयात्रा के लिए निकले। इससे फिलहाल मेरा चिन्तन संस्था के संदर्भ से हटकर गाँव के संदर्भ में चला गया। इस चिन्तन ने साम्ययोग की साधना के बारे में भी मुझे नयी बात सुझायी, जिसका उल्लेख फिर कभी करूँगा।

● ● ●

ललमटिया में ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी : ६ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२१-१-'५९

पिछले कई पत्रों में मैंने खादीग्राम के प्रयोगों की चर्चा की। आज भूदान-आन्दोलन की कुछ चर्चा करने का विचार है। १९५१ में अकेले विनोबा तेलंगाना के विध्वंसकारी ताण्डव को शमित करने के लिए उसी प्रकार निकल पड़े, जिस प्रकार बापू नोआखाली की ओर अकेले चल पड़े थे। विनोबा अकेले ही थे। सर्व-सेवा-संघ भी उस समय उनके साथ नहीं था। लेकिन इतिहास की आवश्यकता की पूर्ति तथा विनोबा की तपस्या फलीभूत होने लगी। विचार आगे बढ़ने लगा और ज्यों-ज्यों विनोबा का कदम आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों देश में वायु के वेग में वृद्धि होती गयी। सालभर के भीतर सेवापुरी सम्मेलन के अवसर पर इस हवा ने तूफान का रूप लेकर पूरे भारत को घेर लिया।

सारे भारत की दृष्टि तो इसने आकर्षित कर ली, लेकिन आकर्षण किसके लिए था, यह लोगों की समझ में नहीं आया। लोग आश्चर्य-चकित होकर देखने लगे, क्योंकि मामला अत्यन्त अभिनव था। जिस जमीन के लिए भाई-भाई में फौजदारी हो जाती है, उसे लोग अपने-आप छोड़ रहे हैं, यह कल्पनातीत बात थी। जब बापू ने जेल में बैठकर भाई प्यारेलालजी के प्रश्नों के उत्तर में कहा था कि लोग खुशी से अपनी जमीन छोड़ देंगे, तो बापू के अनेक वाक्यों की तरह इस पर भी लोगों ने ध्यान नहीं दिया था। लेकिन वही चीज आज हो रही है। उस समय लोगों का जो आकर्षण था, वह न विचार के प्रति था और न आन्दोलन के व्यावहारिक स्वरूप के प्रति। वह था इसके नयेपन के प्रति। वह बुद्धिजनित न होकर, आश्चर्यजनित था।

फिर विनोबा धीरे-धीरे भूदान-यज्ञ के मूल विचार को समझाने लगे, तो लोगों की बुद्धि में बात धँसने लगी। कुछ लोग भारत में बढ़ते हुए ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, भ्रष्टाचार और अनेक प्रकार की अनैतिकता के बीच इस नये नैतिक आन्दोलन का स्वागत करने लगे, कुछ लोग इसे भूमि-समस्या के हल के रूप में देखने लगे। कुछ लोग गरीबों के लिए एक स्थायी राहत समझकर इसकी ओर आकर्षित हुए। कुछ लोग भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार समझकर इसे आशीर्वाद देने लगे और कुछ लोग, तो इसे विषमता तथा शोषण-निराकरण का वाहन ही मानने लगे। इस प्रकार अपनी-अपनी भावना के अनुसार लोगों ने विभिन्न पहलुओं से उसका स्वागत किया और इस ओर आकर्षित हुए। देश में बड़ी आशा निर्माण हुई। इसका दर्शन हमें १९५३ के चांडिल-सम्मेलन में हुआ। १९५३ में भूदान ने एक निश्चित राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ले लिया। अनेक नये तरुण और तरुणियाँ इसमें शामिल हुईं। बिहार में लाखों एकड़ भूदान भी मिलने लगा। धीरे-धीरे आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। इस तरह '५३ का वर्ष अग्रगति का साल कहा जा सकता है। '५४ में बोधगया के सम्मेलन के अवसर पर आशा का झरना इस तेजी से बहने लगा कि उसमें से जीवनदान का नया स्रोत निकला। जयप्रकाश बाबू का जीवनदान हुआ। देश में उत्साह बढ़ा और आगे चलकर ग्रामदान का नया विचार निकला। इस प्रकार विनोबा एक के बाद दूसरे कदम पर विजय प्राप्त करते हुए आगे बढ़े और अन्त में सन् '५७ की पूर्ण आहुति ऐलवाल सम्मेलन में सबके आशीर्वाद से हुई। देशभर में सेवकों ने पदयात्रा करके इस विचार का व्यापक प्रचार किया। गाँव-गाँव में लोग मानने लगे कि यह होकर रहेगा।

भूदान-यज्ञ का विकास

मैं जब यह सब देखता था, तो सोचता था कि देशभर में आन्दोलन को व्यापक मान्यता मिल गयी, अब किस चीज का प्रचार किया जाय!

तो मैंने सोचा कि निराकार की आराधना हो गयी, अब साकार प्रतिमा गढ़ने की आवश्यकता है। कुछ ज्ञानी मनुष्य निराकार देवता की बात करते हैं, साधारण मनुष्य ज्ञानी की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाकर उसे मान लेते हैं। मान तो लेते हैं, लेकिन जब प्रत्यक्ष आराधना करने बैठते हैं, तो अंधकार दिखाई देता है। वे देवता के किसी साकार रूप की खोज शुरू करते हैं, जब तक दर्शन नहीं होता, तब तक तसल्ली नहीं हो पाती। मैं सोचता था कि अब जब क्रांति का विचार एक तरह से लोगों ने मान लिया है, तो आवश्यकता इस बात की है कि हम एक कोने में बैठकर विचार की कुछ-न-कुछ प्रतिमा गढ़ लें। नहीं तो आम जनता की पुष्पांजलि नहीं चढ़ेगी। ऐसा सोचकर '५७ के आखिर में ही मैंने यह बात जाहिर करनी शुरू कर दी थी। अन्त में १९५८ की जनवरी में जब खादीग्राम के साथी पदयात्रा से लौट आये, तो उन्हें सम्बोधित करके मैंने जो भाषण किया, उसमें काफी अरसे की अपनी भावना प्रकट की।

उस भाषण में मैंने कहा कि "पिछले दो वर्षों से मैं कहता आया हूँ कि हम कार्यकर्ताओं का अज्ञातवास अवश्य हो। अगर किसी कारण से अज्ञातवास नहीं होता है, तो हमें योजना करके ऐसा करना चाहिए। रामचन्द्रजी को लंकादहन के लिए अज्ञातवास करना आवश्यक था और पाण्डवों को कौरवों के अत्याचार-शमन के लिए यह आवश्यक था, तो उसके लिए अवसर का निर्माण किया गया। क्रान्ति में भी किसी-न-किसी प्रकार के अज्ञातवास की घटना घटनी चाहिए। यदि अज्ञातवास के बिना ही वह आगे बढ़ता जायगा तो वह असफल होगा, क्योंकि क्रान्ति के उफान के समय बहुत-सा कचरा जमा होता है। अतः अज्ञातवास से उसकी सफाई होनी चाहिए, जिससे वह जन-जीवन में गहराई से प्रवेश पा सके।

अज्ञातवास आवश्यक

कार्यकर्ताओं का जीवन भी आत्म-निरीक्षण और आत्म-साधना से शोधित होना चाहिए। कार्यकर्ताओं को जीवन-साधना के लिए

आवश्यक है कि वे जीवन को अन्तर्मुख बनाने के लिए अज्ञातवास करें। क्रान्ति-साधन के लिए यह आवश्यक है कि उसके जीवन में मोटे रूप से भी विकार प्रवेश न करें। तूफानी हवा आने पर सारा वातावरण गन्दा हो जाता है। उसकी सफाई के लिए शान्ति की आवश्यकता होती है। उसी तरह क्रान्ति की तूफानी हवा में जो कूड़ा-कचरा जमा हो जाता है, उसे साफ करने के लिए अज्ञातवास की आवश्यकता हो जाती है, ताकि शुद्ध क्रान्तिकारी विचार आगे बढ़ सके। क्रान्ति के लिए यह जरूरी था कि एक बड़ा जन-आन्दोलन हो, सो वह हुआ। अब समय आया है कि हम अपने और क्रान्ति के लिए अन्तर्मुख हो पायें। क्रान्ति में मानसिक परिवर्तन या विचार के परिवर्तन की जो प्राप्ति हुई है, उसका संगठन करना जरूरी है। सिकन्दर देश जीतकर आगे बढ़ता जाता था, परन्तु पीछे संगठन की कोई योजना नहीं बनाता था, जिससे जीतने पर भी उसके हाथ कुछ न लगा। हम विचार-प्रचार के लिए निकले। जितने लोग हमारे विचार को समझ पाये, वह हमारी प्राप्ति हुई। अब उन विचार समझनेवालों के लिए एक योजना होनी चाहिए और उसी आधार पर उनका संगठन भी बनना चाहिए। तन्त्रमुक्ति का मतलब संगठन-मुक्ति तो नहीं है। केवल हम नये विचार निकालते जायँ, पर उस विचार को जीवन में उतारकर उसको माननेवालों का संगठन न बनायें, तो पिछले विचार खतम हो जायँगे। इसका नतीजा यह होगा कि क्रान्ति की दिशा उलट जायगी, इसे 'प्रतिक्रान्ति' कहते हैं। इसलिए अब हमें किसी-न-किसी समय अज्ञातवास करना जरूरी है। हमें यदि क्रान्ति का वाहक बनना है और आस-पास तथा देश में अपनी क्रान्ति का दायरा बढ़ाना है, तो ऐसा करना आवश्यक है।

इसमें खादीग्राम जैसी संस्था की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। आज सर्वोदय आन्दोलन के विचार के वाहक के रूप में सर्व-सेवा-संघ का प्रमुख स्थान है और श्रमभारती सर्व-सेवा-संघ का प्रधान केन्द्र है। इस दृष्टि से श्रमभारती की क्या जिम्मेदारी है, यह भी सोचना चाहिए।

तालाब में ढेला फेंकने पर जिस तरह छोटी लहर बड़ी लहर में विलीन हो जाती है, उसी तरह खादीग्राम को छोटी लहर और लखमटिया ग्राम आदि को उससे बड़ी लहर मानकर और सम्पूर्ण मुंगेर जिले को एक परिपूर्ण लहर मानकर उसमें काम करना है। इतना ही नहीं, प्रान्त और देश की जिम्मेदारी भी आपके ऊपर आनेवाली है। तो इसके लिए कौन-सा कार्यक्रम अपनाया जाय, यह सोचने की जरूरत है। अतः हमारे आन्दोलन का संगठन मजबूत बनाना ही हमारा पहला काम होगा।

श्रमभारती की जिम्मेदारी

वैचारिक क्षेत्र में हमने जितना हासिल किया है, उसे ठोस बनाने के लिए सर्वप्रथम चरित्र-निर्माण की आवश्यकता है। यह पहला काम नयी तालीम से ही हो सकता है। याने हमारा सारा काम नयी तालीम की प्रक्रिया का होगा। वह काम चाहे जिले में हो, चाहे खादीग्राम के अहाते में, होगा सब नयी तालीम का ही। नयी तालीम के लिए आवश्यक है कि उद्योग के आधार पर समाज का संगठन हो। उसी उद्योग के माध्यम से गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को नयी तालीम की शिक्षा दी जा सकेगी। अतः देखना होगा कि हमारे लिए कौन-सा उद्योग सबसे जरूरी है। इस दृष्टि से कृषि ही हमारे देश के लिए जरूरी हो गयी है, क्योंकि किसी भी देश के सांस्कृतिक विकास में कृषि का सबसे बड़ा हाथ होता है।

नयी तालीम की प्रक्रिया

विनोवाजी ने भी कहा है कि हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ घंटे खेती का काम करना चाहिए, फिर वह देश का प्रधान मंत्री ही क्यों न हो! इस पर नेहरूजी ने कहा था कि यह विचार ठीक है। जो देश कृषि-कार्य को छोड़ देता है, वह थोड़े ही समय में समाप्त हो जाता है। कृपालानीजी ने भी उस दिन यहाँ कहा था कि जो खेती नहीं करता, वह देश का आदमी नहीं है। इसीसे विनोवाजी कह रहे हैं कि

कृषिमूलक ग्रामोद्योग

आन्दोलन कृषिमूलक ग्रामोद्योग प्रधान होना चाहिए। चाहे हम यहाँ काम करें या गाँवों में, खेती हमें करनी ही होगी। हमारा काम नयी तालीम का काम होगा। कहीं हमारा खाद्य-केन्द्र होगा, कहीं बुनियादी शाला होगी और कहीं खाद का केन्द्र होगा। ये सब चीजें हमारे उत्तरोत्तर विकास का माध्यम होंगी, लेकिन कृषि की दिलचस्पी मुख्य होगी। भूदान और ग्रामोद्योग के सन्दर्भ में हमें कृषि और ग्रामोद्योग की साधना करनी होगी। इससे प्रेम तो बढ़ेगा ही; सामाजिक चरित्र के विकास द्वारा कुटुम्ब का निर्माण भी हो सकेगा। इस तरह मानसिक और आध्यात्मिक विकास की जो प्रक्रिया है, वही सामाजिक साधना की भी प्रक्रिया है।

आज समाज दो वर्गों में विभाजित है—उत्पादक और अनुत्पादक यानी व्यवस्थापक वर्ग। एक बुद्धिजीवी और दूसरा श्रमजीवी। नयी तालीम का काम होगा, दोनों वर्गों को मिलाने का। शुरू में समाज के दो वर्ग दोनों के लिए अलग-अलग अभ्यास-क्रम होंगे, परन्तु दोनों का समन्वय भी करना होगा। अलग-अलग अभ्यास-क्रम बनाये बिना समन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों के जीवन का क्षेत्र और स्तर भिन्न-भिन्न है। अतः इन दो स्थितियों के जीवन को शुरू से शिक्षा देकर अन्त तक पहुँचाना है। इसलिए नयी तालीम के दो 'पैटर्न' होंगे। एक आदमी दार्जिलिंग में हो, दूसरा देहली में और दोनों को कलकत्ता जाना हो, तो भी दोनों का रास्ता एक नहीं होगा। जो श्रमजीवी यानी उत्पादक वर्ग है, उसे भी श्रेणीहीन समाज का नागरिक बनाना है और जो बुद्धिजीवी है, शोषक है, उसे भी समाज के श्रमजीवी वर्ग में परिणत कर समाज का सच्चा नागरिक बनाना है। इसलिए यह तय है कि दोनों के लिए दो रास्ते होंगे, दो अभ्यासक्रम होंगे और दो प्रक्रियाएँ होंगी। एक के लिए बुनियादी, उत्तर बुनियादी और दूसरे के लिए ग्रामशाला होगी। ग्रामदान को सफल बनाने के लिए निर्माण आवश्यक है। यह काम ग्रामदानी गाँवों में आसान है। जो

ग्रामदानी गाँव नहीं हैं, पर जहाँ सम्मतिदान मिला है, वहाँ भी तो ग्रामशाला हो सकती है। उस ग्रामशाला के विद्यार्थी पूरे गाँव के लोग होंगे, शिक्षक भी विद्यार्थी होंगे। हमसे लोग पूछते हैं कि ग्रामशाला में सारे लोग पढ़ेंगे, तो शिक्षक कौन होगा ? उसमें विज्ञान की पढ़ाई कैसे होगी ! शुरू में तो शिक्षक बाहर से आयेंगे, पर बाद में जो अधिक जान जायँगे, वे कम जाननेवालों को बतायेंगे। उसमें भी जो अधिक जानकार होंगे, वे बाहर ज्ञान लेने जायँगे और यदि यही प्रक्रिया चली, तो अन्त में एक दिन गाँव के लोग अणुवीक्षण यन्त्र से अपने खेतों के कीटाणुओं का अनुसन्धान भी करेंगे। हमें विश्वविद्यालय का रूप ग्रामशाला में से निकालना होगा। दूसरे यह भी खोजना होगा कि मध्यम-वर्ग को किस तरह उत्पादक वर्ग में परिणत किया जाय। साथ-साथ यह भी देखना पड़ेगा कि उससे उनका समाधान हो रहा है कि नहीं। आज शिक्षा से असमाधान है, तो उसी वर्ग को। इस तरह दोनों को दो रूप में बनाना होगा। एक को बुद्धिजीवी से बुद्धिमान् श्रमिक, दूसरे को श्रमजीवी से बुद्धिमान् श्रमिक। इस प्रकार एकवर्गीय समाज का निर्माण करना होगा। ग्रामशाला के परिणाम से जिले के दूसरे भागों का मार्गदर्शन करना होगा। हमारे दफ्तरों के काम भी शिक्षा के माध्यम होंगे। गोपालन, कताई और ग्रामोद्योग की भाँति दफ्तर के काम के माध्यम से भी शिक्षा देनी होगी। इसके लिए निम्नलिखित आवश्यक काम करने होंगे।

अनुकूल वातावरण आवश्यक

किसी भी शिक्षण-संस्था की पहली आवश्यकता यह है कि वहाँ का वातावरण शिक्षा के अनुकूल हो। गांधीजी ने एक बार चरखा संघ की बैठक में कहा था कि "एक बार मैं मुसोलिनी से मिलने गया, तो वहाँ का सारा वातावरण हिंसा का देखा, हर जगह हिंसक जीवों के भयानक-भयानक चित्र टँगे थे, उसी तरह हमारी शिक्षा-संस्था के भी जो-जो स्थान हों, वे ऐसे लगें कि यहाँ अहिंसक समाज-निर्माण की शिक्षा दी जाती है।" हमारे सब स्थानों का वातावरण सफाई, प्रेम की साधना का ही हो। आज हम

आन्दोलन कृषिमूलक ग्रामोद्योग प्रधान होना चाहिए। चाहे हम यहाँ काम करें या गाँवों में, खेती हमें करनी ही होगी। हमारा काम नयी तालीम का काम होगा। कहीं हमारा खाद्य-केन्द्र होगा, कहीं बुनियादी शाला होगी और कहीं खाद का केन्द्र होगा। ये सब चीजें हमारे उत्तरोत्तर विकास का माध्यम होंगी, लेकिन कृषि की दिलचस्पी मुख्य होगी। भूदान और ग्रामोद्योग के सन्दर्भ में हमें कृषि और ग्रामोद्योग की साधना करनी होगी। इससे प्रेम तो बढ़ेगा ही; सामाजिक चरित्र के विकास द्वारा कुटुम्ब का निर्माण भी हो सकेगा। इस तरह मानसिक और आध्यात्मिक विकास की जो प्रक्रिया है, वही सामाजिक साधना की भी प्रक्रिया है।

आज समाज दो वर्गों में विभाजित है—उत्पादक और अनुत्पादक यानी व्यवस्थापक वर्ग। एक बुद्धिजीवी और दूसरा श्रमजीवी। नयी तालीम

का काम होगा, दोनों वर्गों को मिलाने का। शुरू में

समाज के दो वर्ग दोनों के लिए अलग-अलग अभ्यास-क्रम होंगे, परन्तु

दोनों का समन्वय भी करना होगा। अलग-अलग

अभ्यास-क्रम बनाये बिना समन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों के जीवन का क्षेत्र और स्तर भिन्न-भिन्न है। अतः इन दो स्थितियों के जीवन को शुरू से शिक्षा देकर अन्त तक पहुँचाना है। इसलिए नयी तालीम के दो 'पैटर्न' होंगे। एक आदमी दार्जिलिंग में हो, दूसरा देहली में और दोनों को कलकत्ता जाना हो, तो भी दोनों का रास्ता एक नहीं होगा। जो श्रमजीवी यानी उत्पादक वर्ग है, उसे भी श्रेणीहीन समाज का नागरिक बनाना है और जो बुद्धिजीवी है, शोषक है, उसे भी समाज के श्रमजीवी वर्ग में परिणत कर समाज का सच्चा नागरिक बनाना है। इसलिए यह तय है कि दोनों के लिए दो रास्ते होंगे, दो अभ्यासक्रम होंगे और दो प्रक्रियाएँ होंगी। एक के लिए बुनियादी, उत्तर बुनियादी और दूसरे के लिए ग्रामशाला होगी। ग्रामदान को सफल बनाने के लिए निर्माण आवश्यक है। यह काम ग्रामदानी गाँवों में आसान है। जो

ग्रामदानी गाँव नहीं हैं, पर जहाँ सम्मतिदान मिला है, वहाँ भी तो ग्रामशाला हो सकती है। उस ग्रामशाला के विद्यार्थी पूरे गाँव के लोग होंगे, शिक्षक भी विद्यार्थी होंगे। हमसे लोग पूछते हैं कि ग्रामशाला में सारे लोग पढ़ेंगे, तो शिक्षक कौन होगा? उसमें विज्ञान की पढ़ाई कैसे होगी? शुरू में तो शिक्षक बाहर से आयेंगे, पर बाद में जो अधिक जान जायेंगे, वे कम जाननेवालों को बतायेंगे। उसमें भी जो अधिक जानकार होंगे, वे बाहर ज्ञान लेने जायँगे और यदि यही प्रक्रिया चली, तो अन्त में एक दिन गाँव के लोग अणुवीक्षण यन्त्र से अपने खेतों के कीटाणुओं का अनुसन्धान भी करेंगे। हमें विश्वविद्यालय का रूप ग्रामशाला में से निकालना होगा। दूसरे यह भी खोजना होगा कि मध्यम-वर्ग को किस तरह उत्पादक वर्ग में परिणत किया जाय। साथ-साथ यह भी देखना पड़ेगा कि उससे उनका समाधान हो रहा है कि नहीं। आज शिक्षा से असमाधान है, तो उसी वर्ग को। इस तरह दोनों को दो रूप में बनाना होगा। एक को बुद्धिजीवी से बुद्धिमान् श्रमिक, दूसरे को श्रमजीवी से बुद्धिमान् श्रमिक। इस प्रकार एकवर्गीय समाज का निर्माण करना होगा। ग्रामशाला के परिणाम से जिले के दूसरे भागों का मार्गदर्शन करना होगा। हमारे दफ्तरों के काम भी शिक्षा के माध्यम होंगे। गोपालन, कताई और ग्रामोद्योग की भाँति दफ्तर के काम के माध्यम से भी शिक्षा देनी होगी। इसके लिए निम्नलिखित आवश्यक काम करने होंगे।

अनुकूल वातावरण आवश्यक

किसी भी शिक्षण-संस्था की पहली आवश्यकता यह है कि वहाँ का वातावरण शिक्षा के अनुकूल हो। गांधीजी ने एक बार चरखा संघ की बैठक में कहा था कि "एक बार मैं मुसोलिनी से मिलने गया, तो वहाँ का सारा वातावरण हिंसा का देखा, हर जगह हिंसक जीवों के भयानक-भयानक चित्र टँगे थे, उसी तरह हमारी शिक्षा-संस्था के भी जो-जो स्थान हों, वे ऐसे लगें कि यहाँ अहिंसक समाज-निर्माण की शिक्षा दी जाती है।" हमारे सब स्थानों का वातावरण सफाई, प्रेम की साधना का ही हो। आज हम

दूसरों की पीठ-पीछे टीका करते हैं। इससे प्रेम की साधना नहीं होगी। इसी तरह सफाई-व्यवस्था आदि में नियमितता होनी चाहिए।

आज हम सामाजिक प्राणी के रूप में नहीं रहते। इस घेरे के अंदर जिस कार्यक्रम पर मजदूरी मिलती है, उसी पर हम ध्यान देते हैं और जिस पर मजदूरी नहीं मिलती, उस पर कोई ध्यान नहीं देते। उसे हम नियमित रूप से करते भी नहीं। जैसे प्रार्थना के लिए मजदूरी नहीं मिलती, तो उसमें इने-गिने लोग ही आते हैं। वही हाल सूत्र-यज्ञ का भी है। हम सामाजिक प्राणी हैं या मजदूर। आज हमें सोचना है कि हम लोगों को यदि उत्पादक नागरिक बनना है, तो जिस चीज के लिए हमें मजदूरी नहीं मिलती, उसके लिए भी चिन्तन करें। यों तो जो केवल मजदूर हैं और मजदूरी की चिन्ता करते हैं, वे भी नागरिक हैं और वोट देते हैं। लेकिन वे सामाजिक नागरिक नहीं हैं। गांधीजी ने स्वराज्य की परिभाषा में कहा था कि "वोट वे ही दे सकते हैं, जिन्होंने शरीर-श्रम से समाज की सेवा की हो। जो लोग शोषण करते हैं, वे नागरिक नहीं हैं। जिनका सामाजिक चरित्र नहीं है, वे भी नागरिक नहीं हैं। नागरिकता के लिए ये सब बातें आवश्यक हैं। इसलिए हम श्रम करके उत्पादन करें, चरित्र-निर्माण करें तथा अपने-आपको नागरिक सिद्ध करें। हम अपने-आप अपना नाम वोटर-लिस्ट में लिखायें, यानी अपनी जिम्मेदारी के लिए सचेष्ट हों। नयी तालीम के वातावरण में जो हैं, वे सबके सब गुरु हैं। इसलिए समाज में जिस काम के लिए मजदूरी नहीं मिलती है, उस काम की जिम्मेदारी कितनी है, इसका भी हम ध्यान रखें। गुरु में गुरुत्व तो होना चाहिए।"

इस भाषण में मैंने यह भी बता दिया कि १९५७ की फलश्रुति के फलस्वरूप '५८ से हमें किस दिशा में जाना है तथा किस कार्यक्रम को अपनाना है। मेरे स्वभाव तथा विचार के अनुसार इस भाषण के बाद मुझे खादीग्राम से निकलकर कहीं दूसरी जगह जाना चाहिए था, क्योंकि मैं मानता हूँ कि उस दिन मैंने जितनी बातें कही थीं, उसके अलावा

और कुछ कहने को रह नहीं गया था। खादीग्राम के साथियों के लिए अगले ५-१० वर्ष की खुराक उसमें मौजूद है। लेकिन प्रधान केन्द्र खादीग्राम में होने के कारण स्वभावतः मेरा मुख्य स्थान यहीं रह गया। फिर उसके बाद के कार्यक्रम ने भी मुझे यहीं रोके रखा। श्रमभारती के साथी पदयात्रा के बाद लौटे। दफ्तर के साथी यहाँ थे ही। दोनों के स्वभाव, रुचि तथा दृष्टिकोणों में भिन्नता थी। भिन्नता में स्वाभाविक सामञ्जस्य प्रकृति का स्वभाव है। लेकिन दुर्भाग्य से मनुष्य सभ्यता के नाम पर प्रकृति के बाहर एक स्वतन्त्र जन्तु बन गया है। इसलिए भिन्नता में भी सामञ्जस्य उसका स्वभाव नहीं रह गया है। अतः भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में सामञ्जस्य-संपादन के लिए प्रकृति पर छोड़ना संभव नहीं होता। किसीको बैठकर सामञ्जस्य के लिए कोशिश करनी पड़ती है। इसलिए भी मैं कुछ दिन के लिए खादीग्राम में बँध गया।

खादीग्राम का बन्धन

प्रतिवर्ष खादीग्राम का वार्षिकोत्सव २६ जनवरी को मनाया जाता है। सन् '५७ की सफलता के बाद इस वर्ष का सम्मेलन विशेष महत्त्व रखता था। केवल देशभर के आन्दोलन के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि खादीग्राम के साथी सालभर पदयात्रा कर जिलेभर से प्रेम तथा सद्भावनाओं की जो पूँजी बटोरकर लाये थे, उस कारण भी इस उत्सव का विशेष महत्त्व था। राजेन्द्र बाबू ने खादीग्राम आने की इच्छा प्रकट की थी। इस अवसर पर वे आ जायँ, तो अपने नये अध्याय के लिए परिवार के सबसे बड़े बुजुर्ग का आशीर्वाद मिल जायगा, ऐसा सोचकर मैंने उनसे प्रार्थना की। वे मान गये। सम्मेलन के महत्त्व का यह भी एक कारण था। सालभर घूमने के फलस्वरूप सर्वोदय के काम में समयदान करने के इच्छुक ढाई-तीन सौ नाम भाई राममूर्ति के पास जिलेभर से आये हुए थे। काम शुरू करने से पहले उनका एक माह का शिविर करना अच्छा होगा और यह शिविर सम्मेलन से पहले हो, ऐसा निश्चय

प्रदर्शनी करने का विचार

किया था। स्वभावतः सम्मेलन एक विशिष्ट रूप लेनेवाला था। कुल मिलाकर वार्षिकोत्सव अत्यन्त महत्त्व का होने के कारण मैंने यहाँ एक नयी बात करने की सोची और वह थी ग्राम-स्वराज्य-प्रदर्शनी।

सन् १९३० के राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में विलायती माल बहिष्कार का कार्यक्रम मुख्य था। हम लोगों ने विदेशी वस्तु बहिष्कार का आन्दोलन काफी तेजी से चलाया था। गांधीजी के नेतृत्व के कारण स्वतन्त्रता-संग्राम के दो पहलू थे। एक पहलू अवांछनीय परिस्थिति तथा वस्तुओं का निराकरण, दूसरा पहलू वांछनीय के अधिष्ठान का। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के साथ जनता में स्वदेशी भावना का निर्माण तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रसार का कार्यक्रम जुड़ा हुआ था। इसी सिलसिले में जवाहरलालजी की प्रेरणा से इलाहाबाद में स्वदेशी लीग बनी थी और उन्हींके निवासस्थान आनन्द भवन में एक स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। उस प्रदर्शनी में मैंने प्रमुख भाग लिया था। तभी से प्रदर्शनी के काम में मेरी रुचि बढ़ती गयी और क्रमशः उत्तर प्रदेश में लोग मुझे प्रदर्शनी विशेषज्ञ कहने लगे। इलाहाबाद स्वदेशी प्रदर्शनी में मैं प्रतिवर्ष भाग लेता रहा और बाद में उत्तर प्रदेश के कई जिलों में प्रदर्शनी का आयोजन होने पर हर जगह जाया करता था।

प्रदर्शनी की पुरानी पद्धति

उन दिनों प्रदर्शनी का मतलब यह था—घेरे के अन्दर कुछ दूकानें बनाना और उनमें तरह-तरह की स्वदेशी वस्तुओं की दूकानें लगवा देना; एक बड़े से हाल में तरह-तरह की स्वदेशी वस्तुओं के नमूने रख देना तथा लोगों को आकर्षित करने के लिए खेल-कूद तथा आतिशबाजी का आयोजन करना। प्रदर्शनी की यह तर्ज पुरानी है। हम लोग भी उसी तर्ज का अनुसरण करते रहे। मैं इस प्रकार की प्रदर्शनी के आयोजन में सम्मिलित तो रहता था, परन्तु मन को तसल्ली नहीं होती थी। सोचता था कि यह ठीक है कि हर प्रकार की स्वदेशी वस्तु एक जगह सजा देने से देश की जनता को प्रेरणा अवश्य मिलेगी। इतने स्वदेशी वस्तुओं

का निर्माण हमारे देश में होता है, यह जानकर लोगों के दिल में राष्ट्र-गौरव की अनुभूति भी होगी। यह सब अपनी जगह पर महत्त्व रखता है, लेकिन प्रदर्शनी का उद्देश्य बाजार तो नहीं है। यद्यपि पूँजीवादी दृष्टि से बाजार का ही महत्त्व अधिक होता है, फिर भी जिस प्रदर्शनी को हम लोग संघटित करें, उसमें भी बाजार की ही दृष्टि रहे या और कुछ? इस प्रकार के प्रश्न रह-रहकर मेरे मन में उठते थे और क्रमशः मैं इस परिणाम पर पहुँचने लगा कि प्रदर्शन का लक्ष्य बाजार कतई न होकर उसका एकमात्र ध्येय शिक्षण का ही होना चाहिए। इसलिए बाद को लखनऊ आदि कई स्थानों की प्रदर्शनियों के संचालकों के साथ मैं इस प्रश्न पर चर्चा करता रहा और जहाँ सम्भव होता था, शिक्षण की कुछ-न-कुछ बातें शामिल करा देता था। शिक्षण का जरिया मुख्यतः पोस्टर ही होता था। पाँच-छह वर्ष तक इसी प्रकार चला।

सन् १९३६ में लखनऊ मे कांग्रेस का अधिवेशन था। कांग्रेस के अधिवेशन के साथ प्रदर्शनी का सिलसिला चल पड़ा था। उत्तर प्रदेश में कांग्रेस होने के कारण प्रदर्शनी की खास जिम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी। गांधी आश्रम के ही साथी गिरधारी भाई उसके मन्त्री थे। इसलिए भी मेरी जिम्मेदारी अधिक हो गयी थी। अपनी जिम्मेदारी होने के कारण मैंने अपने विचार को सार्थक करने में इसका भरपूर उपयोग किया। प्रदर्शनी का नक्शा ऐसा बनाया, जिससे लोगों को मालूम हो कि शिक्षण ही प्रदर्शनी का उद्देश्य है। दूकानें थीं, लेकिन उनका स्थान गौण रखा गया। शिक्षण के लिए देश में जितने उद्योग चलते हैं, उन सबकी उत्पादन-प्रक्रियाओं का प्रदर्शन किया गया। सारी प्रदर्शनी को शिक्षण के चार्टों से भर दिया। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह की गयी कि प्रदर्शनी के एक मुख्य भाग में शान्तिनिकेतन कला-भवन के आचार्य नन्दलाल बाबू के नेतृत्व में एक उच्चकोटि के कला-भवन का संगठन किया गया। प्रदर्शनी के फाटक तथा अन्य सजावट में उन्हींकी देखरेख

लखनऊ की प्रदर्शनी

में भारतीय कला का भी प्रदर्शन हुआ। इस तरह लखनऊ कांग्रेस की प्रदर्शनी में देश के सामने लोक-शिक्षण का एक नया रूप आया। कुमारप्पाजी, दादा (कृपालानीजी) और दूसरे बुजुर्ग बहुत खुश हुए। जवाहरलालजी को भी प्रदर्शनी बहुत पसन्द आयी। उत्तर प्रदेश की विभिन्न प्रदर्शनियों को जवाहरलालजी का आशीर्वाद प्राप्त था। वे जब घूमकर सब कुछ देख चुके और इलाहाबाद स्वदेशी लीग के बुजुर्ग मन्त्री श्रीमोहनलाल नेहरू से अत्यन्त हर्ष के साथ पूछने लगे कि "कहो, कैसा है?" तो उन्होंने कहा "Well, this is the Real exibition." (हाँ, यह असली प्रदर्शनी है!) जवाहरलालजी ने भी उनकी बातों की ताईद की। उसके बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले में जो प्रदर्शनियाँ होती थी, उनकी दिशा शिक्षण-प्रक्रिया की ओर ही बढ़ी। तब से कांग्रेस प्रदर्शनियों की भी यही दृष्टि रही है।

अनिलसेन गुप्त से चर्चा

श्री अनिलसेन गुप्त सर्व-सेवा-संघ की ओर से प्रदर्शनियों का संचालन करते हैं। उनकी इच्छा थी कि खादीग्राम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर यहाँ भी एक प्रदर्शनी करें। उन्होंने मुझसे इजाजत माँगी। मैंने उनसे कहा कि अब प्रदर्शनियाँ भीड़-भाड़ का उपकरण हो गयी हैं, इसलिए मुझे उनमें बहुत दिलचस्पी नहीं है। मेरी इस बात से अनिलभाई और दूसरे साथियों को कुछ आश्चर्य हुआ। सबको मालूम था कि प्रदर्शनियों में मेरी दिलचस्पी बहुत अधिक है। सर्व-सेवा-संघ की ओर से प्रदर्शनियों का संगठन करने के लिए दिल्ली से अनिलभाई को मैंने ही बुलाया था और फिर सर्वोदय-सम्मेलन के साथ अच्छी प्रदर्शनी हो, इसके लिए भी प्रोत्साहित किया था। अतः मैंने जब ऐसी बात कही, तो उससे आश्चर्य होना स्वाभाविक था। मैंने ऐसा क्यों कहा, यह जानने की तुम्हें भी उत्सुकता होगी। इसलिए इस बारे में यहाँ चर्चा कर लेना अच्छा होगा।

खादी-ग्रामोद्योग बोर्ड की स्थापना के बाद खादी जगत् के वयोवृद्ध

कार्यकर्ता श्री जेराजाणी भाई की प्रेरणा से दिल्ली में एक विराट् प्रदर्शनी का आयोजन हुआ था। यद्यपि उस प्रदर्शनी ने हमारे राजकीय नेताओं को तथा ग्रामोद्योगी अर्थनीति को न माननेवाले देश के अनेक विद्वानों को प्रभावित किया था, फिर भी उसका आडम्बर ऐसा था कि मैं मानता था कि दिल्ली के लोगों को प्रेरणा देने के लिए ऐसी प्रदर्शनी भले ही अनुकूल हो, लेकिन आम जनता इस प्रकार की भूलभूलैया में न कुछ सीख सकेगी, न कुछ प्रेरणा ले सकेगी। पूर्व संस्कार तथा शिक्षा के कारण अनिलभाई को भी ऐसे आडम्बर में रुचि है, यह तुम लोगों को मालूम है। खादीग्राम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर हम जो वातावरण पैदा करना चाहते हैं, उसके साथ अनिलभाई की कल्पना की प्रदर्शनी का मेल नहीं बैठेगा, ऐसा मुझे लगता था। दूसरी बात यह थी कि इस ग्रामदान के युग में प्रदर्शनियाँ बाजार के लिए तो नहीं ही हों, लेकिन केवल शिक्षण के लिए भी अलग से प्रदर्शन हो, उसका भी समय शायद समाप्त हो गया है, ऐसा मैं मानता था। मेरा विचार था कि अब हम लोग जिस किसी प्रदर्शनी का आयोजन करें, वह शिक्षाप्रद तो हो ही, साथ-साथ मुख्य रूप से ग्राम-स्वराज्य के संदर्भ में निर्माण की प्रदर्शनी हो। अतएव मैंने अनिलभाई से कहा कि अब तक जो घेरा डालकर अलग से प्रदर्शनी होती थी, उसके बदले ललमटिया गाँव को ही प्रदर्शनी में परिणत कर सको, तो उसमें मुझे दिलचस्पी है। पिछले दो-तीन साल से मैं कहता आया हूँ कि नयी तालीम संस्था के घेरे से निकालकर पूरे गाँव को ही शाला बनाये बिना, इसकी सिद्धि नहीं हो सकती है और आज जब मैं कहने लगा कि प्रदर्शनियों को भी किसी घेरे में न रखकर गाँव को ही प्रदर्शनी के रूप में परिणत किया जाय, तो कुछ लोगों को शायद यह ख्याल होगा कि इधर मेरे दिमाग में गाँव का खब्त सवार हो गया है, पर बात ऐसी नहीं है।

अगर व्यष्टिवादी युग में राजा, पुरोहित तथा गुरु व्यक्ति थे, और बाद को संस्थावादी युग में राज्य, पुरोहित संस्था तथा सार्वजनिक शिक्षा-शालाओं की संस्थापना हुई, तो इस समाजवादी युग में मनुष्य की

आकांक्षा, अगर राज्यसंस्था का भी विलोपन है, तो साथ-साथ कल्याण-संस्था, शिक्षणसंस्था आदि के विलोपन की भी आकांक्षा बनेगी न ! अतः यदि हम कहते हैं कि प्रदर्शनियाँ शिक्षण का माध्यम हैं, तो प्रदर्शनियों का प्रकार कैसा होना चाहिए, इसका तुम लोग सहज ही अनुमान कर सकती हो ।

शुरू में अनिलभाई को यह विचार समझने में कठिन मालूम हो रहा था, लेकिन काफी चर्चा के बाद वे मान गये और धीरे-धीरे समझने भी लगे । और आखिर में जब उन्होंने काम शुरू किया, तो इस प्रकार की प्रदर्शनियों की संभावनाओं को देखकर वे काफी प्रोत्साहित हुए । अनिल-भाई विचार तो समझ गये और उत्साह से काम पर लग भी गये, लेकिन उनकी आडम्बर-प्रियता रह-रहकर सामने आने लगी । यद्यपि मैंने उसे बहुत नियन्त्रित किया, फिर भी यह ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी काफी खर्चीली और आडम्बरपूर्ण रही । यह सब होते हुए भी देश के बड़े-बड़े कार्य-कर्ताओं को प्रदर्शनी का आकर्षण था और नयी दिशा की सूचिका होने के कारण उन्हें उससे काफी संतोष रहा ।

मैंने कहा कि प्रदर्शनी द्वारा हमें ग्राम-स्वराज्य का चित्र देने की कोशिश करनी चाहिए । जिस गाँव में ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी करनी हो, वहाँ कम-से-कम सालभर तैयारी करनी चाहिए ।

प्रदर्शनी में ग्राम-स्वराज्य का चित्र रहे

गाँव की सारी योजना आगे के लिए बननी चाहिए । पूरे गाँव की खेती की योजना क्या होगी, उसका नक्शा तैयार हो, उसके लिए गाँव के लोगों को तालीम दी जाय और वे स्वयं योजना बना सकें, ऐसी शक्ति निर्मित की जाय । गाँव में अगर घर-घर में अम्बर चरखा चलवाना हो, तो उसकी तालीम हर घर को दी जाय और चरखे की स्थापना हो । जितने गृहोद्योग तथा ग्रामोद्योग उस गाँव में चलाने हो, उतने उद्योगों के लिए उसी गाँव के लोगों को प्रशिक्षित किया जाय । कुछ घरों को विशेष-विशेष उद्योगों के अनुकूल बनाया जाय । ग्रामोद्योग के लिए निर्दिष्ट

स्थान हो और उसमें काम करने के लिए गाँव के लोगों को तैयार किया जाय। स्पष्ट है कि भारत की अर्थनीति बहु-धन्धी परिवारमूलक ही होगी यानी परिवारों को खेती के साथ कोई-न-कोई एक उद्योग चलाना ही होगा। इसलिए प्रदर्शनी में इसका दर्शन होना चाहिए कि गाँव के प्रत्येक घर में कुछ-न-कुछ उद्योग चल रहा है। मैंने अनिलभाई को बताया कि "तुम लोग प्रदर्शनियों में हरएक उद्योग की प्रक्रिया दिखाते हो, उसके लिए एक-एक स्थायी 'शेड' तैयार करते हो और उसे एक पंक्ति में जमाते हो ताकि लोग एक तरफ से देख सकें। वही बात घर-घर में करो न? ललमटिया के लिए १५ वर्ष की एक योजना बना डालो। १५ वर्ष बाद खेती की योजना क्या होगी, घर-घर में कौन-कौन-से उद्योग चलेंगे, पूरे पारिवारिक उद्योग कौन-कौन-से होंगे और किस-किस घर में वे चलेंगे, *ग्रामोद्योगों में से कौन-कौन उद्योग चलेंगे और उद्योग-केन्द्र का स्थान* कहाँ होगा, शिक्षणों के लिए बालवाड़ी तथा ग्रामशाला किस स्थान पर होगी इत्यादि सभी बातों को निर्धारित कर लो। उन्हीं स्थानों पर उन चीजों को जमा दो, तो यह तुम्हारी ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी हो गयी।"

ललमटिया में प्रयोग

ललमटिया के ग्रामदान की घोषणा होने के बाद से ही हम लोगों ने उस गाँव के नौजवानों को विभिन्न उद्योगों की ट्रेनिंग देना शुरू कर दिया था। उसमें से कुछ लोग कुम्हारी का काम, कुछ सरंजाम बनाने के लिए लोहारी और बढ़ई का काम, कुछ बुनाई का काम और कुछ लोग तेल पेरने का काम सीख रहे थे। अम्बर चरखे का परिश्रमालय चल ही रहा था। इस तरह ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी का काफी उपादान पहले से तैयार था। मैंने कहा कि जिस-जिस घर के लड़के जो-जो उद्योग सीख रहे हैं, उस-उस घर में उसी-उसी चीज का प्रदर्शन किया जाय। अगर वे लोग अपनी-अपनी कला में माहिर नहीं हो पाये हैं, तो प्रदर्शनी के लिए अच्छे कलाकार उन्हीं घरों में बिठाकर सीखने वालों से उनके सहायक के रूप में काम कराया जाय। जिन उद्योगों

में अभी तक कोई सीखनेवाला नहीं है, उनके लिए भी आगे सिखानेवालों को निश्चित किया जाय और उन-उन घरों में उन-उन कलाओं का प्रदर्शन किया जाय। खेती के लिए भी दो प्लॉट चुने गये। उन्हीं प्लाटों को गाँव की पूरी जमीन मानकर आज जिस अनुपात में खेती होती है, उसी अनुपात में विभाजित करके फसल उगायी गयी और दूसरे प्लॉट में पाँच साल बाद की योजना के अनुसार फसल लगायी गयी, ताकि लोग मुकाबला कर सकें।

ललमटिया में ४० घर हैं। चालीसों घरों में किसी-न-किसी उद्योग की प्रदर्शनी की योजना बनी। फिर सवाल यह था कि उद्योगों का प्रदर्शन करने के लिए घर कैसा बनाया जाय? हमने सोचा कि दस दिन के लिए स्टॉल बनाया जाय, फिर उसको उजाड़ा जाय, उसके बदले में स्थायी घर बनाना चाहिए। हमने हिसाब जोड़कर देखा कि जितने पैसे में चटाई, बोरा आदि खरीदने, मजदूरी देकर स्टाल खड़ा करने, फिर उसे तोड़ने आदि में जो खर्च होता है, उतने ही पैसे से स्थायी घर की सामग्री खरीदी जा सकती है। हमने गाँववालों से कहा कि उन्हें सामग्री दे दी जायगी, वे अपने-अपने घर से सटाकर अपने पैसे तथा श्रम से स्टाल बना लें। उन्होंने वैसा ही किया भी। इस तरह जो खर्च प्रदर्शनी-निर्माण में होता, उसका स्थायी उपयोग गाँव के लिए हो गया। इसी प्रकार कई बातें हुईं, जिनके कारण प्रदर्शनी से काफी लोग प्रभावित हुए। दिन-ब-दिन उसकी ख्याति फैली और अन्त में वार्षिकोत्सव के दिन तीस चालीस हजार आदमी इकट्ठे हो गये। इस जंगल में इतने आदमियों का जमाव वस्तुतः अपूर्व था!

अनोखे ढंग की प्रदर्शनी

प्रदर्शनी हुई और वह अपने ढंग की अनोखी रही; फिर भी मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। दूसरी प्रदर्शनियों की तुलना में काफी सादगी थी, फिर भी मैं जितनी सादगी चाहता था, उतनी सादगी से अभी हम दूर थे। प्रदर्शनी के बीच खादी-ग्रामोद्योग के अध्यक्ष वैकुण्ठभाई की अध्यक्षता

में कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हुआ। उसमें मैंने कहा : "प्रदर्शनी के तरीके में यह नया मोड़ बहुत अच्छा हुआ, मुझे इससे खुशी है, परन्तु कार्यकर्ताओं को समझना है कि ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी अगर इतनी खर्चीली होगी, तो वह ग्राम-स्वराज्य को बनाने की जगह बिगाड़ ही देगी। लेकिन पहले प्रयास के नाते यह अच्छी है।"

यह कहकर अम्बर चरखे के प्रयोग का उदाहरण बताते हुए मैंने कहा कि "चार साल पहले दिल्ली की प्रदर्शनी में जो अम्बर चरखा दिखाया गया था, उसका दाम ५००) था। तमाम पुर्जे लोहे के थे। कृष्णदासभाई के नेतृत्व मे कार्यकर्ताओं ने उसे सादा बनाने का प्रयास किया और आज हम चालीस रुपया में चरखा बनाने की परिस्थिति में पहुँच गये है। आज अगर प्रदर्शनी में पचास हजार खर्च होते हैं, तो चार या तीन हजार में इतनी ही उपयोगी प्रदर्शनी करने तक इसे पहुँचना है।" इतना कहकर मैंने उन्हे ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी की मूल कल्पना समझायी।

प्रदर्शनी का भला-बुरा असर

खादीग्राम का वार्षिकोत्सव तथा प्रदर्शनी समाप्त हुई। प्रान्त तथा जिले में इसका काफी प्रभाव पड़ा, परन्तु ललमटिया पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। प्रदर्शनी के सिलसिले में उन्हे बाहर से इतना पैसा मिला कि उनके भीतर यह धारणा बन गयी कि उन्हे कुछ करना नहीं है, सारा काम खादीग्रामवाले करेंगे। यहाँ तक हुआ कि जहाँ पहले गाँव के सारे लोग कहीं-न-कहीं मजदूरी ढूँढ़कर गुजारा करते थे, वहाँ अब किसीके घर में एक लड़का बेकार रहता था, तो वे शिकायत करते थे कि खादीग्रामवाले काम नहीं दे रहे हैं। ललमटिया पर ऐसी प्रक्रिया होगी, इसकी चेतावनी मैं शुरू से ही साथियों को देता रहा, पर वे मानते नहीं थे। इसलिए मैंने समझा कि जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ। एक गाँव के निर्माण-कार्य में कठिनाई बढ़ी, लेकिन उससे साथियों को बहुत बड़ा अनुभव मिला। वे समझ गये कि गाँव में सामूहिक पुरुषार्थ का उद्बोधन किये बिना बाहरी मदद हानिकारक होती है। वे यह भी

समझ गये कि जो कुछ बाहरी मदद दी जाय, वह भी क्रमशः उनकी चेतना निर्माण के साथ साथ ही दी जाय। ललमटिया के खर्च ने जिस प्रकार देश को प्रदर्शनी के बारे में नयी दिशा दी और कार्यकर्ताओं को ग्रामदानी गाँव के निर्माण-कार्य की सही नीति का दिग्दर्शन कराया, उसे देखते हुए यह सौदा महँगा नहीं पड़ा। मुझे इससे तसल्ली ही हुई।

● ● ●

नयी तालीम की समस्या : ७ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२२-३-'५९

वार्षिकोत्सव के बाद हम सब सन् '५७ में स्थगित किये हुए नयी तालीम के काम को फिर से चालू करने की पूर्व तैयारी में लग गये, क्योंकि मई से हमारे सत्र का आरम्भ होता है। कृषिमूलक शिक्षाक्रम में मई से सत्र शुरू करना अनिवार्य हो जाता है।

नयी तालीम का समाधानकारी रूप आवश्यक

सन् '५७ की पदयात्रा के बीच पुराने शिक्षकों में कुछ बीमार पड़ गये और कुछ चले गये। साथ ही पदयात्रा के सिलसिले से कुछ नये तरुण भी हमारे साथ शामिल हुए। इसलिए हमें फिर से एक-दो गिनना पड़ा। एतदर्थ दो माह का समय जो मिल गया, वह लाभकारी हुआ। इस बीच तुम लोगों ने तालीमी संघ का नया प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। तुम्हें याद होगा कि उस प्रस्ताव के बाद मैंने कहा था कि यद्यपि नयी तालीम के लिए आज के सन्दर्भ में कोई दूसरा मार्ग नहीं है, फिर भी शिक्षण के बारे में देश में जो निराशा फैली हुई है, उसे देखते हुए पुराने ढग की संस्थागत नयी तालीम का समाधानकारक रूप निकालने की आवश्यकता है। यह ठीक है कि गाँव के समग्र जीवन के माध्यम के बीच नयी तालीम का स्वरूप निखर नहीं सकता है। लेकिन आज की शिक्षित जनता इस विचार को तुरत ग्रहण नहीं कर सकती है। उसकी शिक्षा और दीक्षा इस ढग से हुई है कि भारतीय जनता के संदर्भ में किसी बात को समझना उसके लिए कठिन है। उसमें से जितने लोग बुद्धि से विचार को समझते भी हैं, वे भी पूर्व संस्कार के कारण जब ग्रामशाला को देखेंगे, तो उन्हें समाधान नहीं होगा। विचार को मान्य कर अगर वे उस ओर कदम भी रखना चाहेंगे, तो भी वे आज जहाँ खड़े हैं,

वहीं से चलना शुरू कर सकेंगे। यानी उनका एक कदम आज जहाँ है, वहीं रहेगा। उनका कदम आगे बढ़ेगा भी, तो उतना ही आगे बढ़ेगा जितनी उनके पैर की लम्बाई है, अर्थात् जितनी दूर वे सोच सकते हैं, उतनी ही दूर कदम रख सकेंगे। पुराने ढंग की संस्थागत नयी तालीम की पद्धति पुरानी तालीम से नयी तालीम की ओर बढ़ने के लिए बीच का एक कदम है, ऐसा तुम लोगों को मानना ही पड़ेगा। यह भी सही है कि कारण कुछ भी हो, बीच के इस कदम का चित्र हम अब तक ऐसा नहीं बना पाये हैं, जिससे विकल्प के लिए अधीर होते हुए भी पुरानी तालीम के लोगों को समाधान दे सकें। इसलिए मैंने भाई राममूर्ति से कहा कि अब तुम लोगों को देश के शिक्षित मध्यम वर्ग को समाधान देने लायक नयी तालीम के पहले चित्र को निकालना है। खादीग्राम में ऐसा चित्र निकल सकेगा; इसका मुझे भरोसा था; क्योंकि सन् ५५, ५६ मे जो काम हुआ था, उससे मध्यम वर्ग के मित्रों को काफी समाधान था। इसलिए इस लक्ष्य की पूर्ति में भाई राममूर्ति में काफी शक्यता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

भाई राममूर्ति गाँव में बैठने को उत्सुक

सन् '५७ की पदयात्रा के बीच भाई राममूर्ति का एक पत्र इस आशय का मिला कि अब वे अनुभव कर रहे है कि उनका स्थान खादी-ग्राम में नही है। वे गाँव में ही जमना चाहते थे। पदयात्रा के दरमियान गाँव का जो अनुभव हुआ, उससे ऐसा विचार आना स्वाभाविक था, क्योंकि क्रान्ति के सन्दर्भ में नयी तालीम का विचार करनेवालों के लिए ऐसे नतीजे पर पहुँचना अनिवार्य है। राममूर्ति भाई का इस प्रकार का सोचना अन्य कारण से भी हो सकता है। वे ऐसा भी सोचते होगे कि खादीग्राम में प्रधान केन्द्र आने पर वे यहाँ नयी तालीम के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बना सकेंगे। कारण जो भी हो, गाँव में ही काम करने का विचार सही था। राममूर्ति भाई के पत्र का मैंने स्वागत किया। मैं तो चाहता ही था कि मेरी इच्छा के

अनुसार साथियों को स्वयं अनुभव से प्रेरणा मिले। इससे अच्छी बात क्या हो सकती है?

लेकिन मैंने पत्र को रख लिया और उसके अनुसार आगे नहीं बढ़ा, क्योंकि विचार करने पर ऐसा लगा कि अभी उसका समय नहीं आया है। इस प्रकार सोचने के दो मुख्य कारण थे। पहला कारण यह था कि उनके पत्र से मुझे ऐसा लगा कि प्रधान केन्द्र आ जाने से शायद उन्हें लगता था कि भिन्न दृष्टि के लोगों के साथ वे सामञ्जस्य नहीं रख सकेंगे। सर्वोदय-क्रान्ति के आरोहण में ऐसा भय ठीक नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ। नाना प्रकार की दृष्टियों तथा विचारों में सामञ्जस्य साधना सर्वोदय की मूल साधना है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिए हर दृष्टि तथा स्वभाव के लोगों के खादीग्राम में होते हुए भी एक टीम से काम चले, इस साधना में मैं पड़ना चाहता था। यद्यपि यह कारण महत्त्व का था, फिर भी वह मुख्य नहीं था। यह बात तो मेरे दिमाग में क्षणिक ही थी। वास्तविक कारण यह था कि मैंने देखा कि आज गाँव की परिस्थिति ऐसी नहीं है कि वह साथियों को पचा सके। ग्रामसेवा के लिए गाँव में बैठने की शर्त यह होनी चाहिए कि सेवक वहाँ का नागरिक बनकर ग्रामवासियों में विलीन हो जाय। जब से बापू ने चरखा-संघ के सामने यह प्रस्ताव रखा था, तबसे हजार कामों के बीच भी यह विचार सतत जाग्रत रहता था। दस साल पूर्व मैं स्वयं ही उस तरह बैठना चाहता था। रणीवाँ से भगवती भाई को यही कहकर गाँव में भेजा था और वे इस दिशा में काफी सफल भी हुए थे। १९५६ में खादीग्राम के साथियों के सम्मुख भी यही विचार रखा था कि वे निर्विमुक्त होकर गाँव में बैठें।

पिछले तीन साल से बिहार भीषण अकाल से पीड़ित हो रहा था। देशभर में यह प्रदेश अत्यन्त चिन्ता का विषय हो गया था। लगातार

शाला का पुनर्गठन

तीन वर्ष अकालग्रस्त होने के कारण सन् '५७-'५८ की स्थिति अत्यन्त भयंकर हो गयी थी। ऐसी हालत में नये सिरे से कार्यकर्ता ग्राम-आधारित बनकर गाँव में बैठें, यह प्रस्ताव

हमें व्यावहारिक नहीं लगा। केन्द्रीय कोष के सहारे एक बार बैठ जाने से आगे चलकर गाँव का सहारा मिलेगा, यह मैं नहीं मानता था। आज ही नहीं, बल्कि १९४५ में बापू ने चरखा-संघ के सामने जब यह योजना रखी कि पहले साल चरखा-संघ कार्यकर्ताओं का पूरा खर्च देगा और हर साल २५ प्रतिशत कम करता जायगा, ताकि पाँच साल में वे पूर्णरूप से ग्रामाधारित हो जायँ। उस समय भी मैंने कहा था कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह व्यावहारिक नहीं है। मैं मानता था कि गाँव-गाँव मे हम यह विचार फैलायें और जो गाँव तैयार हों, वहाँ कार्यकर्ता शुरू से ही ग्रामाधारित होकर बैठें। यही कारण था कि जब मैं वर्धा से रणीवाँ लौटा, तो अपने साथियों से पूछा कि इस शर्त पर गाँव में बैठने को कौन तैय्यार है। अकेले भगवती भाई के तैयार होने पर उसी शर्त पर एक ही कार्यकर्ता भेजना अच्छा समझा, बजाय इसके कि चरखा-संघ के प्रस्ताव के अनुसार हम ज्यादा कार्यकर्ता भेजते। मेरे इस विचार के कारण गांधी आश्रम के साथी मेरा काफी मजाक करते थे, लेकिन मुझे यही सही लगता था। यही मुख्य कारण था कि उस समय ग्रामाधारित नयी तालीम के प्रयोग की बात छोड़ दी और राममूर्ति भाई तथा उनके साथी खादीग्राम लौटकर नये सिरे से नयी तालीम शाला के पुनर्गठन मे लग गये।

इस बार के प्रयोग में मैं स्वयं दिलचस्पी लेने लगा और गहराई से काम का निरीक्षण करता रहा। मैं मानता हूँ कि श्रमजीवी लोगों और बुद्धिजीवी लोगों के बच्चों के लिए दो प्रकार का शिक्षाक्रम होना चाहिए, ताकि दोनों अन्ततोगत्वा क्रमशः निकट आकर एक वर्ग में विलीन हो सकें, अर्थात् दोनों का वर्ग-परिवर्तन हो सके। लेकिन मैंने सोचा कि पूर्व बुनियादी की उम्र के बच्चे नये हैं, उनके संस्कार पक्के नहीं हैं, इसलिए सम्मिलित तालीम की प्रक्रिया वहाँ से शुरू की जा सकती है। ऐसा सोचकर हमने बालमन्दिर खादीग्राम में न रखकर ललमटिया में रखने का निर्णय किया, ताकि ललमटिया के उत्पादक वर्ग के बच्चे और

खादीग्राम के बुद्धिजीवियों के बच्चे एक साथ तालीम पा सकें। यह निर्णय केवल बच्चों की दृष्टि से किया ऐसी बात नहीं, वरन् अपने प्रयोग के लिए भी किया था। दो वर्ग के लिए दो प्रकार चाहिए, इसे तो विचार से ही मानता था। श्रमशाला और बुनियादी-शाला को मिलाकर यह प्रयोग सही स्थिति में प्रयोग है, ऐसा नहीं कहा जा सकता था; क्योंकि श्रमशाला के १०, १२, १३ वर्ष की आयु तक के लड़के पुरानी नयी किसी भी प्रकार की तालीम पाये हुए नहीं थे। हमारे यहाँ पहले से ही शिक्षा पाये हुए बच्चे थे। इसलिए अगर उन्हें एक साथ मिलाकर एक ही प्रकार के शिक्षण में सफल नहीं हुए, तो उसे हम आखिरी प्रयोग नहीं कह सकते। अगर यह सफल हो जाय, तो तालीम के इतिहास में चार-पाँच साल की बचत हो सकेगी।

प्रयोग की असफलता

लेकिन कुछ दिन के अनुभव से मालूम हुआ कि मेरा सोचना गलत था। खादीग्राम के बच्चों को लाख कोशिश करने पर भी ललमटिया के बच्चों से मिलाने में हम असमर्थ रहे। राममूर्ति भाई खुद जाकर समस्या का हल निकालने की कोशिश करते रहे, फिर भी सफलता नहीं मिली। हमारे बच्चे उन्हें पास आने ही नहीं देते थे। यदि वे आते भी, तो डाँटते थे। इन बातों को देखकर मैं सोचता था कि अगर यह स्थिति है, तो जिस ग्रामदानी गाँव में दोनों वर्ग रहते हैं, उनका शिक्षण कैसे होगा? ग्रामदान से भूमिवान तथा भूमिहीन समान हैसियत में आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में अगर बाल-मन्दिर के प्रारम्भ से ही बच्चों को अलग रखा जाय, तो कुटुम्ब-भावना आदि की बातें निरी ढोंग नहीं हो जायँगी? अगर शिक्षण-प्रक्रिया में इस प्रकार भेदासुर को प्रवेश दे दिया जाय, तो क्या अनन्त काल तक वर्ग-निराकरण की सफलता की प्रतीक्षा नहीं करनी होगी? इन सवालों से उन दिनों मेरा मन आलोड़ित रहता था। अपने सामने ऐसा मिश्रित जनसंख्यावाला कोई ग्रामदानी गाँव नहीं था, जहाँ चलकर प्रयोग कर सकता था।

इसी चिन्तन के सिलसिले में मुझे अपना बचपन याद आया। हम भी बुद्धजीवी वर्ग के बच्चे थे। वह भी शहर के। और फिर बिहार में बंगाली परिवार के बच्चे! तुम्हें शायद मालूम ही है कि हमारे बचपन में बिहार के प्रवासी बंगाली अपने को कुछ उत्कृष्ट जीव मानते थे। बिहारियों को वे नीची नजर से देखते थे, फिर भी हम लोग अपने बचपन में अपने ही नौकरों के बच्चों के साथ खेलते थे। बड़े चाहे जो हों, हम लोग तो दोस्त ही थे। तो क्या यह फर्क काल के फर्क के कारण है? स्वराज्य के बाद देश की सामान्य हैसियत के लोगों को भी जब राज्याधिकार मिलने लगा, तो देश के वातावरण में रईसी वृत्ति का बोलबाला हो गया। दो सामान्य गृहस्थ साथी थे। उनमें से एक विधायक बन गये, शायद डिप्टी, मिनिस्टर आदि भी कुछ बन गये। एक दिन में वे रईस हो गये, उनका आडम्बर बढ़ गया। उनके जो साथी थे, वे साथी नहीं रहे, ऐसा कैसे हो सकता है? लेकिन साथी रहने के लिए यह आवश्यक था कि वे भी समान आडम्बर से रहें। इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवाले साथी अंग्रेजों के चले जाने पर उन्हीं के जामे में अपने को प्रविष्ट करा लेने के कारण कुछ अचानक रईस हो गये और बाकी उनके साथी होने के नाते रईसी के आकांक्षी बने। इस तरह हमारे बचपन के दिनों में और आज में फर्क यह हुआ कि आज के बुद्धिजीवी साधारण गृहस्थ के रूप में रहना पसन्द नहीं करते। संस्थाओं में इस हवा का आना स्वाभाविक था। इस प्रकार का विचार बीच-बीच में आता था, लेकिन मन को तसल्ली नहीं होती थी। अपने से प्रश्न करता था कि क्या ललमटिया के बाल-मन्दिर के अनुभव की यही कैफियत है, या और कुछ? इसके साथ-साथ आज जो सैकड़ों प्राइमरी स्कूलों की तादाद बढ़ रही है, उन पर भी दृष्टि जाती थी। आज मजदूर तथा खुद मेहनत करनेवाले छोटे किसानों के बच्चे बड़ी संख्या में इन प्राइमरी स्कूलों में भरती होते हैं। जब उन स्कूलों में दोनों वर्ग के बच्चों को

पुरानी और नयी स्थिति

शान्ति से बैठकर पढ़ते देखता हूँ, तो कैसे युग को दोषी कहूँ ? यह सही है कि इन प्राइमरी स्कूलों के मध्यमवर्गीय बच्चों में वर्ग-चेतना है, लेकिन वहाँ वह चेतना उतने उत्कट रूप से प्रकट नहीं होती, जितने उत्कट रूप से ललमटिया में होती थी। अगर प्राइमरी स्कूल के दोनों वर्गों के बच्चे, जिनकी आयु अधिक होने के कारण वर्ग-चेतना अधिक दृढ़ हो गयी है, शान्ति से साथ-साथ पढ़ सकते हैं और आपस में मिलकर खेल सकते हैं, तो मनोविज्ञान कहता है कि बाल-मन्दिर के छोटे बच्चों को तो और अधिक हिल-मिलकर रहना चाहिए। फिर भी यहाँ अगर भिन्न अनुभव आता है, तो यह मानना पड़ेगा कि हम लोगों के अन्दर ही कहीं दोष है।

दोष का उद्गम कहाँ ?

स्वभावतः मैं उस दोष के उद्गम को ढूँढ़ने लगा। सोचते-सोचते हमें उसी स्थान पर पहुँचना पड़ता है, जहाँ हम परिवार-भावना-निर्माण के संदर्भ में पहुँचते हैं, यानी हम संस्था के कार्यकर्ता कृत्रिमता के कारण एक विकृत मानव के नमूने हैं। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि संस्था के कार्यकर्ता मानव-समाज के बाहर रहते हैं। सामाजिक सुख-दुःख उनकी चेतना को छूता नहीं। देश में अकाल पड़ने पर उनके भोजनालय पूर्ववत् चलते हैं, केवल भोजनालय ही नहीं, बाकी सारे खर्चे भी वैसे ही चलते हैं, जैसे देश की खुशहाली के दिनों में चलते थे। विभाजित व्यक्तित्व के कारण वे न घर के रहते हैं, न संस्था के। वे न नौकर है, न मालिक। संस्था के सम्बन्ध में मालिक के समान चिन्ता नहीं और नौकर के जैसा डर नहीं। तुम्हें याद होगा कि १९४५ में मैं जब सेवाग्राम में तुम्हारा मेहमान बनकर रहता था, तब अक्सर कहा करता था कि हम लोग देहातों में संस्थाएँ बनाकर उसी ढंग से रहते हैं, जिस ढंग से अंग्रेज हिन्दुस्तान में 'सिविल लाइन्स' बनाकर रहते है।

फिर सोचता था कि इसका कुछ और भी कारण हो सकता है। खादीग्राम के साथी वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति के विचार से प्रेरित होकर

आये। उनकी पत्नियाँ तो आयी नहीं, उन्हें आना पड़ा। विचारमान्य न होने पर भी पति के साथ पत्नी का आना लाजिमी था। हुजूर और मजूर का विचार बिना माने ही इस जीवन में आने की प्रतिकूल प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। इसलिए उन्हें इन विचारों से घृणा थी, जिसका असर भी इन बच्चों पर पड़ता था। साधारण संस्थाओं में ऐसी परिस्थिति नहीं होगी। तुम्हें इस बात से आश्चर्य होगा अवश्य, लेकिन तुम खुद विचार के पीछे आयी हो, इसलिए सम्भवतः तुम्हें इनके मानस का अनुभव न हो। लेकिन शिक्षाशास्त्री होने के कारण इस बात को ठीक से समझ जाओगी, ऐसा मैं मानता हूँ।

इन दोनों कारणों में से कौन-सा कारण काम करता रहा है, यह कहना कठिन है। लेकिन शायद दोनों ही कारणों के मिलन से ललमटिया के बाल-मन्दिर की ऐसी स्थिति बनी, ऐसा मैं मानने लगा। इसलिए ललमटिया के अनुभव ने मुझे परेशान नहीं किया, बल्कि संस्था के घेरे में नयी तालीम की सफलता पर मेरी शंका बढ़ने लगी।

मध्यम वर्ग को समाधान हो तथा पुरानी तालीम से सिर्फ एक ही कदम आगे हो, ऐसी तालीम का प्रयोग होना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर खादीग्राम में फिर से बुनियादी शाला को प्रारम्भ किया। इस बार केवल बुनियादी को ही आगे रखा। उत्तर बुनियादी शुरू नहीं की। इस काम को भी इस बार मैंने अधिक गहराई से देखना शुरू किया, तो कुछ बातें स्पष्ट दिखाई दीं। जैसे शिक्षकों का श्रम तथा उद्योग की साधना काम शुरू करने से पहले होनी चाहिए। लोग पुरानी तालीम से पढ़कर आते हैं, उनको न श्रम का अभ्यास रहता है और न उद्योगों की जानकारी। विषयों में भी एकआध विषय का ही अध्ययन रहता है, क्योंकि पुरानी तालीम एकांगी विचार को मानती है। सर्वांङ्गीण ज्ञान होना चाहिए, यह मान्यता अवश्य है, पर एक मनुष्य एक ही विषय में दक्ष हो, ऐसा ही मानते हैं। इसलिए वे नयी तालीम के शिक्षक के

बुनियादी शाला फिर खोली

रूप में असफल होते हैं। समवाय-पद्धति से तालीम देने के लिए यह जरूरी है कि शिक्षक को समाजोपयोगी सभी विज्ञानों का इतना बुनियादी ज्ञान रहे कि जिससे मौके पर अगर पूर्ण जानकारी न हो, तो पुस्तकालय में अध्ययन करके उसे हासिल कर सके। मैं जब इस प्रकार कहता हूँ, तो बहुत-से शिक्षाशास्त्री प्रश्न करते हैं : "क्या यह संभव है कि एक शिक्षक इतने विषयों की जानकारी रखे, उसके दिमाग में इतनी जगह कहाँ से आयगी !" उनका कहना है कि हर विषय के अलग-अलग शिक्षक रहें और बच्चों को अपना-अपना विषय सिखायें। मैं जब उनसे पूछता हूँ कि "आप बच्चों को सभी विषय सिखाने के पक्ष में हैं न !" इस पर वे सहमति प्रकट करते हैं। मैंने शास्त्र नहीं पढ़े है। लेकिन मेरी समझ में यह शास्त्र नहीं आता है कि 'छोटे बच्चों के छोटे मस्तिष्क में कुल विषय रखने का स्थान है और एक बड़े शिक्षक के विकसित मस्तिष्क में कुल विषयों के लिए जगह नहीं हो सकती।' यह तो कहा जा सकता है कि हर मनुष्य हर विषय का विशेषज्ञ नहीं हो सकता है। इसे मैं आसानी से मान सकता हूँ। लेकिन उसे हर विषय का कामचलाऊ ज्ञान भी नहीं हो सकता है, यह मानना मेरे लिए कठिन है। कोई कह सकता है कि हर मनुष्य इतना मेधावी नहीं हो सकता है, इसे भी मैं मानने को तैयार हूँ। मैं कहूँगा कि "हर मनुष्य शिक्षक भी नहीं हो सकता। जो गुरु होगा, उसमें गुरुत्व तो होना चाहिए ? जैसे मिठास के बिना शक्कर हो ही नहीं सकती, नमकीनपन के बिना नमक हो नहीं सकता, उसी प्रकार गुरुत्व के बिना गुरु हो नहीं सकता।"

शिक्षकों में कमी

विषयों के बारे में कम-से-कम इतना तो है कि शिक्षक एक-दो विषय की जानकारी रखते हैं। लेकिन उद्योग के बारे में तो वे शून्य ही होते हैं। केवल शून्य ही होते हैं, ऐसा नहीं, अपितु जब उन्हें कहा जाता है कि वे पहले छह घण्टा खेती और कताई का अभ्यास करें, तो इसमें वे अपनी विद्वत्ता का अपमान देखते और कहते हैं कि हम तो तालीम देना चाहते

हैं, वह भी नयी तालीम की पद्धति से। वे अपने को विद्वान् मानते हैं और उस कारण बुद्धिमान् भी। वे यह भी मानते हैं कि नयी तालीम का मतलब है, उद्योग द्वारा शिक्षा। उद्योग द्वारा शिक्षण ही नयी तालीम है तथा उद्योग में पूर्ण दक्षता प्राप्त करना अनावश्यक मानते हुए भी वे बुद्धिमान् और विद्वान् हैं, मनोविज्ञान के इस गूढ़ तत्त्व को समझना मेरे जैसे अनपढ़ आदमी के लिए कितना कठिन है, यह तुम समझ सकती हो। इस प्रकार हमने देखा कि नयी तालीम के शिक्षक तैयार करना एक अत्यन्त जटिल समस्या है। आज नयी तालीम की जो प्रगति नहीं हो रही है और हमारी चेष्टाएँ असफल हो रही हैं, उसका मुख्य कारण यही है। खादीग्राम में नयी तालीम का काम चलता है। आजकल पढ़े-लिखे लोग भी मुझे 'तालीमवाला' मानने लगे हैं। इसलिए पिछले तीन साल में बहुत-से पढ़े-लिखे लोग मेरे पास आये। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि श्रम का अभ्यास करना होगा, उद्योग सीखना होगा, सो वह भी ऐसे लोगों से जिन्हें मूर्ख की संज्ञा दी जा सकती है, तो एक-एक करके सब चले गये।

मायावी संसार की लीला

मैं जब साथियों से तथा दूसरे विद्वान् जनों से बात करता हूँ, तो वे कहते हैं कि नयी तालीम के सिद्धान्त तो तर्कशुद्ध तथा अत्यन्त वैज्ञानिक है, लेकिन कहीं उसे सफल करके दिखाइये, तो हम भी आयें। अर्थात् देश के विद्वान् मानते हैं कि नयी तालीम शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से वैज्ञानिक है, आर्थिक दृष्टि से आवश्यक है और अनिवार्य रूप से इसकी सामाजिक प्रयोजनीयता है, लेकिन पहले मूर्खों को बटोरकर उनके द्वारा इस वैज्ञानिक प्रयोग को सफल कर लें, तब वे इसमें शामिल होंगे। इतने पर भी वे विद्वान् ही रहेंगे। हम सब उन्हें ऐसा ही मानते भी हैं। इस मायावी ससार की यही लीला है। तमाशे की बात तो यह है कि अगर कहीं कदाचित् कोई अच्छा पढ़ा-लिखा इस काम को अपनाता है, तो अपने बच्चों को पब्लिक स्कूल में भरती कराकर दूसरों के

बच्चों को लेकर इस तालीम का प्रयोग करता है। वे इसलिए ऐसा करते हैं कि उन्हें नयी तालीम पर श्रद्धा है। श्रद्धा न होती, तो वे अपने को इस काम में लगाते क्यों ?

बापू ने सम्भवतः इस परिस्थिति को देखा था। बापू की तीक्ष्ण दृष्टि निःसन्देह इस स्थिति को समझ चुकी थी। इसीलिए उन्होंने कहा था कि नयी तालीम के शिक्षक विश्वविद्यालय में नहीं मिलेंगे, बल्कि गाँव के लोहार, बढ़ई, बुनकर, दस्तकार और कलाकारों में से नयी तालीम के शिक्षक प्राप्त करने होंगे। परन्तु यहाँ दूसरी कठिनाई है। वह यह कि उन्हें विषयों की जानकारी नहीं है। दूसरे, नयी तालीम के पीछे जो सामाजिक मान्यता है, वह उन्हें मान्य नहीं है। आखिर नयी तालीम कोई कोरी शिक्षण-कला तो है नहीं, वह एक जीवन-दर्शन है, सामाजिक क्रान्ति का वाहन है। वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया के रूप में ही नयी तालीम का स्थान है। यही कारण है कि बापू, विनोबा से लेकर हम सब लोग कहते हैं कि नयी तालीम द्वारा हम जहाँ शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति करते हैं, वहाँ इससे समाज में भी अहिंसक क्रान्ति करना चाहते हैं। गाँव के कलाकारों की सामाजिक मान्यताएँ भिन्न हैं। उत्पादक श्रम का समाज में छोटा स्थान है, ऐसा वे मानते हैं। वे भी अपनी लड़की के लिए जब वर ढूँढ़ने निकलते हैं और कहीं अमीर घर में वर पा लेते हैं, तो अपने साथी और रिश्तेदारों से खुश होकर कहते हैं कि हमने ऐसा अच्छा वर ठीक किया है, जिसके घर मेरी बेटी को एक गिलास पानी भी अपने हाथ से उठाकर नहीं पीना पड़ेगा। ऐसी मान्यताएँ रखनेवाले दस्तकार शिक्षक कैसे होंगे ? रणीवाँ में और उसके बाद खादीग्राम में मैंने यह प्रयोग किया। लेकिन देखा कि पढ़-लिखकर शिक्षक बन जाने से वे अपने हाथ से उतना भी काम करना नहीं चाहते, जितना मध्यम-वर्ग से आये हुए पढ़े-लिखे लोग करने को तैयार रहते हैं। इस कारण मैंने गाँव के दस्तकारों को शिक्षक बनाने का प्रयास छोड़ दिया है। मैं

शिक्षक कहाँ मिलेंगे ?

मानता हूँ कि जब तक उच्च कोटि के पढ़े-लिखे मेधावी नवजवान विचार तथा संकल्पपूर्वक सालों तक श्रम की साधना नहीं करेंगे तथा उद्योग का अभ्यास और जानकारी प्राप्त करने को तैयार नहीं होंगे, तब तक नयी तालीम शिक्षा-क्षेत्र में आकर्षक वस्तु के रूप मे रह जायगी। इसका सफल प्रयोग कहीं नहीं होगा।

अतएव नयी तालीम के शिक्षकों में काम शुरु करने से पहले निम्नलिखित क्रम होना आवश्यक है :

तीन बातें आवश्यक

(१) नयी तालीम यानी अहिंसक समाज-रचना के लिए वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया को मानकर ही क्षेत्र में उतरें। पुरानी मान्यताओं को रखते हुए किसीको नयी तालीम के क्षेत्र में आना ही नहीं चाहिए।

(२) कम-से-कम साल-दो साल तक उत्पादक श्रम का अभ्यास तथा कृषि और किसी-न-किसी एक उद्योग का गहरा ज्ञान प्राप्त करना।

(३) औद्योगिक ज्ञान-प्राप्ति के साथ मौके पर समवाय-पद्धति से सामान्य विज्ञान तथा समाज-विज्ञान का व्यापक अध्ययन करना।

ये तीन बातें हो जायँ, तो नयी तालीम के शिक्षक तालीम के काम को सफलतापूर्वक कर सकेंगे।

हाँ, एक बात और। विचार की मान्यता से भी पहले जरूरी यह है उसकी प्रकृति की ओर बच्चे आकर्षित हों, ऐसे स्वभाव का होना। कोई

शिक्षक का स्वभाव

कह सकता है कि अगर स्वभाव की शर्त लगायी जाय, तो वही हाल होगा कि 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी!' लेकिन बात ऐसी नहीं है। अगर हम इस बात को समझ लें कि शिक्षण-कला, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि से अधिक बारीक ललित कला है, और देश में जिस तरह संगीत सिखाने के लिए कण्ठ तथा ताल-बोधवाले लोग ढूँढ़े जाते हैं, उसी तरह शिक्षण, प्रशिक्षण के लिए शिक्षण, प्रकृति का मनुष्य ही खोजा जाय,

तो देश में जितने शिक्षक चाहिए, उतनी संख्या में उस प्रकृति के मनुष्य मिल जायँगे। आज तो इस प्रकृति के हजारों लोगों में कोई मिनिस्टर है, कोई एम० एल० ए० है, कोई डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसैलिटी का सदस्य है, कोई दूकानदार है और हजारों तो दफ्तरों के क्लर्क हैं और कुछ विकास-योजनाओं में सेवक हैं। ऐसा इसलिए है कि हमारे देश में जो शिक्षाक्रम चल रहा है, उसमें किसी भी प्रकार का संयोजन नहीं है।

समवाय-शिक्षण की समस्या

इस बार बुनियादी शाला के निरीक्षण के सिलसिले में मेरे सामने आयी—समवाय शिक्षण की समस्या। नयी तालीम का ही क्यों, शिक्षा-मनोविज्ञान का भी सिद्धान्त यह है कि कोई ज्ञान ऊपर से आरोपित न किया जाय, बल्कि बच्चों की जिज्ञासा के उत्तर में ही ज्ञान-चर्चा हो। हम मानते हैं कि यह जिज्ञासा वास्तविक रूप से तभी पैदा हो सकती है, जब बच्चा उत्पादन की प्रक्रिया में सृष्टि के आनन्द का अनुभव करे। साथ ही साथ वह उत्पादन उसकी जिन्दगी के लिए दिलचस्पी का विषय हो। इसी मनोवैज्ञानिक तत्त्व के कारण ही आज के शिक्षाशास्त्री बापू की नयी तालीम के प्रति इतने आकर्षित हैं। वे इसी एक पहलू को मानते हैं। नयी तालीम के आर्थिक तथा सामाजिक विचार को नहीं मानते। लेकिन जब हमने बुनियादी शाला के बच्चों को उत्पादन-पद्धति से ज्ञान देने का कार्यक्रम अपनाया, तो हमें कृत्रिम उपायों का अवलम्बन लेना पड़ा। बच्चे हमारे साथ काम करते थे। चूँकि हम लोग सब मेहनत से काम करते थे, इसलिए उनमें उत्साह था; परन्तु उत्पादन में उन्हें दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि उनके जीवन के पोषण आदि समस्याओं के समाधान के साथ खादीग्राम की खेती तथा उद्योग के उत्पादन का कोई समवाय नहीं है। बच्चों के खर्च के लिए उनके माता-पिता रकम भेजते थे और वे यहाँ पढ़ते थे। काम में विविधता के कारण बच्चों को जो दिलचस्पी थी, उसका प्रकार वही था, जो खेल-कूद का होता है।

अतएव खेती के सिलसिले में पौधे की बाढ़ कुछ कम होती थी, धान के बयान में वृद्धि रुकती थी या कहीं कोई कीड़ा लगता था, तो उन्हें परेशानी नहीं होती थी। परेशान हुए बिना कारण ढूँढ़ने की प्रवृत्ति और इसके बिना जिज्ञासा का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। इसलिए हम लोग खेती-बारी में काम करते थे और उसके समवाय के विभिन्न विषयों के ज्ञान का नोट तैयार करते थे, फिर बच्चों को बताते थे। पौधा ठीक से बढ़ नहीं रहा है, यह उसे दिखाते थे, कीड़े लगने की बात बताते थे और उसका कारण भी बताते थे। इस तरह हमारी समवाय-प्रक्रिया चलती थी। इस प्रक्रिया को तुम सब लोग शायद समवाय कह सकोगे, लेकिन सहज जिज्ञासा-जनित न होने के कारण यह तरीका समवायी होने पर भी आरोपित ही है।

आरोपित उपाय

यद्यपि मुझे इस तरीके से सन्तोष नहीं था, फिर भी मैं शिक्षकों को इसके लिए प्रोत्साहित करता था। क्योंकि मैं मानता था कि जो आज स्कूलों में किताब रटाकर पढ़ा देते हैं, उससे तो यह अच्छा ही है। अधूरी होने पर भी इस प्रकार की बुनियादी शाला में मुख्य दिलचस्पी इसलिए थी कि मैं देखता था कि समवायी पद्धति से शिक्षकों के ज्ञान का विकास हो रहा है। मेडिकल कॉलेज में अधूरा सीखे हुए छात्रों को भी रोगी के इलाज का काम दिया जाता है। उसका उद्देश्य इलाज करना उतने महत्त्व का नहीं होता है, बल्कि चिकित्सा-प्रशिक्षण ही मुख्य उद्देश्य होता है। साथ-साथ रोगियों को भी कुछ लाभ हो जाता है।

इस प्रकार की समवाय-पद्धति को मैं काफी महत्त्व देता हूँ और चाहता हूँ कि देश में काफी तादाद में इस प्रकार की बुनियादी शालाएँ हों। इससे तीन लाभ तो अवश्य ही होंगे :

समवाय-पद्धति के लाभ

(१) पुरानी तालीम छोड़कर नयी तालीम की ओर का एक समाधानकारक नमूना उपस्थित होगा।

(२) जो बच्चे इसमें से निकलेंगे, उनको श्रम-

सम्बन्धी पुरानी मान्यताएँ छोड़ना आसान होगा, जिससे वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया को बल मिलेगा।

(३) शिक्षकों की तैयारी का एक आधार मिल जायगा।

इस प्रकार संस्थागत नयी तालीम के प्रयोग में हम सब लग गये। इसीके दौरान में अगस्त १९५८ में सर्व-सेवा संघ ने चालीसगाँव की अपनी बैठक में अपने काम को सर्वजन-आधारित करने का संकल्प किया। खादीग्राम सर्व-सेवा-संघ का प्रधान केन्द्र है, इसलिए इसका भविष्य क्या हो, यही मुख्य चिन्तन का विषय हो गया। इसके हल के लिए हम किस दिशा में सोचते रहे और क्या करते रहे, यह बात अगले पत्र में लिखूँगा। ○ ○ ●

हुजूर को मजूर बनाने का स्वप्न साकार : ८ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२१-१-'५९

पिछले एकाध वर्ष से मैं अनुभव करने लगा था कि संस्थाओं के स्वरूप में सामूहिक परिवार का निर्माण होना संभव नहीं है। मैं जब यह कहता हूँ, तो बहुत से मित्र मुझसे कहते हैं कि यदि आप ऐसा मानते हैं कि संस्था के विभिन्न कार्यकर्ताओं का मिलकर एक कुटुम्ब नहीं बन सकता है, तो आप किस मुँह से गाँव के परिवारों को मिलाकर एक कुटुम्ब बनाने की बात करते हैं ! ऊपर से यह सवाल बहुत ठीक मालूम होता है। लेकिन थोड़ा गहराई से विचार करने पर समझ में आ जायगा कि जिन परिस्थितियों के कारण संस्था में परिवार-भावना निर्माण नहीं हो पाती है, गाँव की भूमिका में वह परिस्थिति नहीं रहती। सबसे बड़ी चीज यह है कि देहात के लोगों के दो घर नहीं होते। जैसे संस्था के अधिकांश लोगों का दिल घर पर और शरीर तथा दिमाग संस्था में रहता है, गाँव के लोगों का ऐसा नहीं होता। वे जनमते हैं उसी गाँव में। जब से वे चलना सीखते हैं, तब से आपस में दोस्ती करते हैं, खेलते-कूदते और मरते भी हैं, तो उसी गाँव में। आजीवन साथ रहने से उनके स्नेह-सम्बन्ध सहज हो जाते हैं। कालक्रम में यदि वह संबन्ध टूटता है, तो सिर्फ व्यक्तिगत सम्पत्तिवाद के चलते। अगर यह चीज हट जाय, तो जन्म से मृत्यु तक सहजीवन के कारण परिवार-भावना के लिए आवश्यक परस्पर स्नेह-सम्बन्ध सहज रूप से अपने-आप पैदा हो सकता है। संस्था में इसका अवसर नहीं मिल पाता है। दूसरी बात यह है कि संस्था के लोगों की जीविका परस्पर अवलंबित नहीं है, क्योंकि वे अलग-अलग किसी संचित निधि के आश्रित होते हैं। कृषिप्रधान देश होने के नाते गाँव के लोग

उत्पादन प्रक्रिया में एक-दूसरे का सहयोग करने के लिए विवश होते हैं। इसलिए भी पारस्परिक भावना निरन्तर जाग्रत रहती है। ये दो मुख्य परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जिनके आधार पर गाँव में परिवार-भावना निर्माण करने की बात सोची जा सकती है। संस्था में इन्हीं दोनों बुनियादी चीजों की कमी होने के कारण वहाँ ऐसा नहीं सोचा जा सकता।

मैं लिख चुका हूँ कि बिहार खादी-ग्रामोद्योग संघ ने जब समवेतन का प्रस्ताव स्वीकार किया, तो मेरा चिन्तन समवेतन और साम्ययोग के प्रश्नों पर तेजी से चलता रहा। मैं ऐसा महसूस करने लगा कि खादीग्राम में साम्ययोग का जो प्रयोग करते थे, वह साम्ययोग नहीं है। यद्यपि हम समान वेतन लेते थे, फिर भी उस वेतन का इलाके की जनता की आमदनी से कोई सम्बन्ध नहीं था और न निकट भविष्य में उसका मान अपने समान करने का कोई भरोसा था। ऐसी हालत में हमारे यहाँ का प्रकार भी समवेतन है, साम्ययोग नहीं, ऐसा मानने लगा था। अगर समवेतन ही है, तो मैं यह सोचने लगा कि एक प्रदेश के भिन्न-भिन्न सर्वोदयी संस्थाओं में अलग-अलग प्रकार क्यों हो? बिहार में खादी-ग्रामोद्योग संघ सबसे बड़ी संस्था है, जिसमें तीन चार हजार कार्यकर्ता हैं। हमारे यहाँ सिर्फ २०-२२ कार्यकर्ता हैं। मुझे ऐसा उचित लगा कि हम भी अपने समवेतन का प्रकार वैसा ही कर दें, जैसा बिहार खादी-ग्रामोद्योग संघ में है। जब कुटुम्ब-निर्माण सम्भव नहीं लगा और कृत्रिम रूप से वैसा करने की चेष्टा में आरोहण के बजाय अवरोहण की सम्भावना दिखाई देने लगी, तो जीवन के विकास के लिए वैसा ही करना ठीक लगा। अतएव हमने खादीग्राम में भी बिहार में चालू समवेतन की प्रथा लागू कर दी। मैंने अपने साथियों से कहा कि संस्थाओं में परिवार बनाने की चेष्टा तो नहीं करनी है, लेकिन एक सभ्य समाज तो बनाना ही है। सांस्कृतिक पड़ोसी-धर्म सभ्य समाज की पहली कसौटी है। एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहानुभूतिपूर्ण सहयोग

समवेतन और साम्ययोग

उसकी प्रक्रिया है। खादीग्राम के जीवन में अब से कुटुम्ब-साधना के बजाय पड़ोसी-धर्म की साधना करनी होगी। मुझे खुशी है कि यहाँ के साथी अब धीरे-धीरे उस दिशा में आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

पिछले पत्र में मैंने चालीसगाँव के प्रस्ताव की प्रतिक्रिया बताने की बात लिखी थी। बीच में सोचा कि खादीग्राम के जीवन में इधर जो परिवर्तन हुआ, उसकी चर्चा पहले कर लें, तो अच्छा होगा।

चालीसगाँव के प्रस्ताव के अनुसार सर्व-सेवा-संघ के सभी केन्द्र, सभी प्रवृत्तियाँ सर्वजन-आधार से चलनी चाहिए। जो न चल सकें, उसे या तो बन्द कर देना चाहिए या दूसरी किसी स्थानीय संस्था

खादीग्राम की को दे देना चाहिए। चालीसगाँव की प्रबन्ध समिति व्यवस्था का प्रश्न में ही सवाल उठा कि सर्वजन-आधार से प्राप्त यानी सर्वोदय-पात्र, सूतांजलि, सूत्रदान तथा अन्य श्रमदान का जो छठा हिस्सा सर्व-सेवा-संघ को मिलेगा, उससे दफ्तर के खर्च के अतिरिक्त खादीग्राम जैसी विभिन्न प्रवृत्तियाँ भी चलायी जा सकेंगी क्या ? उस बैठक में बिहार के भाई बैजनाथ चौधरी भी शामिल थे। उन्होंने कहा कि यह संभव नहीं होगा। फिलहाल अगर दफ्तर ही चल जाय, तो काफी मानना चाहिए। मैंने उनसे कहा कि "फिर खादीग्राम चलाना आप लोगों के ही जिम्मे रहा।"

खादीग्राम लौटा। साथियों से कहा कि दो ही विकल्प हैं, पूरी श्रम-भारती को स्वावलम्बी बनाना या सर्वजन-आधारित कर देना। दोनों में से एक भी न हो सका, तो किसी दूसरी संस्था को सौंप देना। इस पर कई दिन तक कार्यकर्ताओं में रोज चर्चा होती रही, लेकिन हम सब किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके। उमंग स्वावलम्बन की थी, क्योंकि हम जिस क्षेत्र में बैठे हैं, वह अत्यन्त गरीब आदिवासियों का क्षेत्र है। अतः सर्वजन-आधार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इस पथरीली भूमि में इतने बड़े पैमाने के कार्यक्रम को स्वावलम्बी बनाना सम्भव नहीं दिखाई देता था। इस कारण चर्चा ही चलती थी, उसमें से कुछ निष्पत्ति

नहीं निकलती थी। उधर मैं प्रान्त के सर्वोदयी नेताओं से भी सम्पर्क कर रहा था। बिहार में सर्वोदय के कुल काम के मार्ग-दर्शन के लिए एक सर्वोदय-मंडल बना हुआ है। मैंने उसके मंत्री श्यामबाबू को लिखा कि खादीग्राम के भविष्य के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कोई बैठक बुलायें। बिहार खादी-ग्रामोद्योग संघ के अध्यक्ष ध्वजाभाई को भी मिलने के लिए लिखा, क्योंकि बिहार में रचनात्मक काम के सबसे बड़े चिन्तक वे ही हैं। श्यामबाबू मिले। सारी बातों पर चर्चा करने के बाद उनकी राय यही रही कि खादीग्राम को सर्वजन-आधारित बनाने की कोशिश सफल नहीं होगी। अतः इसे खादी-ग्रामोद्योग संघ को सौंप दिया जाय। ध्वजाभाई ने कहा कि खर्च भले ही ग्रामोद्योग संघ दे, नाम तो सर्व-सेवा-संघ का ही चलना चाहिए। इसका अखिल भारतीय रूप कायम रखने की उनकी इच्छा थी। लेकिन यह कैसे हो सकता था? खादी-ग्रामोद्योग-संघ खर्च दे, तो सर्वजन-आधारित कैसे हो जायगा? अगर सर्व-सेवा-संघ के नाम से चलाना है, तो प्रस्ताव को तो अमल में लाना ही होगा न! ऐसी अनेक चर्चाएँ चलती रहीं।

जिले के कार्य-कर्ताओं से वार्ता

सन् १९५६ में जब मैंने अपने साथियों के सामने गाँव में विलीन होने की परिकल्पना रखी थी, उसी समय से मैं जिला के सर्वोदय-कार्यकर्ताओं से कहता आ रहा था कि उन्हें खादी-ग्राम की जिम्मेदारी को उठाने की तैयारी करनी चाहिए। जब वे कहते थे कि आचार्य होने के लिए आदमी कहाँ से मिलेगा, तो उनसे यही कहता था कि जिस जिले से एक ही साथ प्रदेश का मुख्यमन्त्री तथा कांग्रेस का अध्यक्ष मिल सकता है, उस जिले से एक शिक्षण-केन्द्र का आचार्य नहीं मिल सकेगा क्या? सन् १९४६ में जब मैंने रणीवाँ से करणभाई और बाकी साथियों को सेवापुरी में नये केन्द्र-स्थापना के लिए भेज दिया था, तो किस तरह रणीवाँ गाँव के ही युवकों के हाथ उस केन्द्र को सौंपा था, उसकी कहानी पहले लिख चुका हूँ। आज भी वही गाँव है। लोग उसे

केवल चल ही नहीं रहे हैं, बल्कि कम-से-कम दसगुना बढ़ा भी चुके हैं। अगर रणीवाँ को एक गाँव के लड़के सँभाल सकते हैं, तो खादीग्राम को एक जिले के लोग क्यों नहीं सँभाल सकते ? मैं तो मानता हूँ कि जिला ही क्यों, अगर जन-शक्ति का उद्‌बोधन हो जाय, तो हर थाना खादीग्राम जैसे केन्द्र का भार उठा सकता है। सन् '५७ मे श्रमभारती परिवार की पद-यात्रा के प्रारम्भ में बरियारपुर मे जो जन-सभा हुई थी, उसमें मैंने कहा था कि जनता की श्रम-शक्ति यदि जम जाय, तो मैं हर थाने में एक खादीग्राम खोलने की जिम्मेवारी ले सकता हूँ। यह बात तुम्हें याद होगी। मैं तो अभी भी मानता हूँ कि अगर चालीसगाँव के प्रस्ताव पर गम्भीरता पूर्वक अमल किया जाय, तो जिलेभर में इतना संगठन जमाना कठिन नहीं है, जिससे खादीग्राम सर्वजन-आधारित हो सके।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मैंने मुँगेर जिला के निवेदक भाई रामनारायण बाबू को लिखा कि वे वहाँ के भावी स्वरूप पर चर्चा करने के लिए जिले के सर्वोदय-मण्डल की बैठक बुला लें। उन्होंने खास-खास कार्यकर्ताओं की एक बैठक खादीग्राम में बुलायी। मैंने उनके सामने अपना विचार रखा। लेकिन जिले के कार्यकर्ताओं को इतना बड़ा हाथी पचाने की हिम्मत नहीं हुई। लेकिन वे यह चाहते थे कि संघ के प्रस्ताव के अमल का कोई तरीका निकले। काफी चर्चा के बाद रामनारायण बाबू ने कहा कि अगर आप अपने काम को विकेन्द्रित कर जिले के विभिन्न हिस्सों में बाँट दें, तो यह सम्भव है। मैंने पूछा कि फिर खादीग्राम का क्या होगा ? तो सबकी राय यह रही कि इसे कृषि तथा उद्योग-शिक्षण-केन्द्र के रूप में परिणत किया जाय और खादी-ग्रामोद्योग संघ को सौंप दिया जाय। मुझे यह विचार पसन्द आया और मैंने कहा कि मैं इस पर विचार करूँगा।

चालीसगाँव का प्रस्ताव तथा रामनारायण बाबू के सुझाव से मानो

मेरे हाथ चाँद लग गया। ऐसा लगा कि अब वर्षों के स्वप्न का कोई साकार रूप देखने को मिलेगा। तीस साल से समग्र

शिक्षण-कार्य का विकेन्द्रीकरण

ग्राम-सेवा की ओर की जो यात्रा चल रही है, उसकी भी शायद आखिरी मंजिल मिले। वैसे दो साल से सोच ही रहा था, लेकिन निर्णय स्थगित करने का कुछ-न-कुछ कारण हो जाता था। मैंने निर्णय किया कि इस अवसर का पूरा लाभ उठाया जाय और ग्राम-केन्द्रित नयी तालीम का श्रीगणेश कर ही लिया जाय। ईश्वर जो कुछ कराता है, सब लाभकारी होता है। अगर हम *पूर्वकल्पना के अनुसार '५७ में ही निकलकर गाँव में बैठते, तो शायद निराश होना पड़ता। अकालग्रस्त जनता हमारा क्या स्वागत करती? फिर भाई राममूर्ति और दूसरे साथी बाहर के होने के कारण जिले से परिचित नहीं थे, अतः जिले की जनता को उनका आकर्षण नहीं होता। खादीग्राम का परिचय तो उन्हें था, पर वह परिचय दूर का था। वे खादीग्राम आते थे, यहाँ की व्यवस्था और विराट् स्वरूप देखकर आश्चर्यचकित होते थे। यहाँ की चीजों का उन्हें आकर्षण अवश्य था। हमारे लिए उनमें आदर भी था, लेकिन इन सबके पीछे राजसी सम्मान था, सात्त्विक स्नेह नहीं। खादीग्राम के भाई-बहन तथा बच्चों की पद-यात्रा से हमें देहाती जनता का भरपूर प्रेम और स्नेह मिला। मुझे ऐसा लग रहा है कि गाँव में विलीन होने के लिए ईश्वर की ओर से यह पूर्वयोजना थी। '५७ में बाहर निकलने की योजना न करके अब करने का एक दूसरा लाभ हुआ। उस समय वह हमारा अकेले का प्रयास होता। यह कदम विनोबा की प्रेरणा से तथा सर्व-सेवा-संघ के प्रस्ताव के होने के कारण आज राष्ट्रीय योजना का अंग बन गया। इसलिए देश-भर की शुभ कामनाओं की पूँजी हमारे साथ रहेगी। कल्याणकारी राज्य-वाद के युग में अलग से जन-आधारित काम का विचार समझाना भी कठिन होता। आज सर्वोदय-पात्र के व्यापक प्रचार के कारण वह आसान हो गया। इस प्रकार कुल मिलाकर खादीग्राम के शिक्षण-कार्य

को विकेन्द्रित कर सर्वजन-आधारित करने का निर्णय समयानुकूल ही रहा। इस कारण इसकी सफलता में मुझे सन्देह नहीं रहा।

सन् १९५६ की जनवरी में जब गाँव में जाने की योजना सुनायी थी, तो हमारे सामने सर्वजन-आधार का प्रस्ताव नहीं था। इसलिए उस समय की योजना धीरे-धीरे आगे बढ़ने की थी। लेकिन अब तो ३० जनवरी से ही कदम उठाना है, अतः जल्दी से सपरिवार देहात के नागरिक बनकर बैठने का विचार स्थिर हुआ। यह किस तरह हो, उसकी प्रक्रिया क्या हो आदि बातों को सोचने लगा।

बड़े बच्चों की व्यवस्था

यह तो सम्भव नहीं होगा कि हम तुरन्त गाँव में जाकर ग्रामशाला या ग्रामभारती का काम शुरू कर दें। कम-से-कम सालभर तो वातावरण बनाने में ही लगेगा। उसके बाद जहाँ शुरू करेंगे, वहाँ पूर्व-बुनियादी तथा अधिक-से-अधिक बुनियादी के एक या दो वर्ग बन सकेंगे। अतः अपने बड़े बच्चों की चिन्ता हुई। खादीग्राम के करीब सभी कार्यकर्ताओं के चले जाने पर यहाँ बुनियादी शाला नहीं चल सकेगी। अपने बच्चों को गाँव की पुरानी तालीम की शाला में नहीं भेज सकते हैं। अतः नयी तालीम ही चाहिए। इसलिए दूसरे प्रान्तों में चालू व्यवस्था में ही अपने बच्चों को भेजना है, ऐसा निर्णय किया। खादी-ग्रामोद्योग संघ के तथा बिहार के दूसरे लोगों के बच्चों को मुजफ्फरपुर नयी तालीम भवन में भेज दिया। अपने लड़कों को सेवापुरी में व्यवस्था करके वहाँ भेजने की बात सोची। यद्यपि तालीमी संघ के दिल्ली के प्रस्ताव तथा सर्व-सेवा-संघ के चालीसगाँव के प्रस्ताव के अनुसार कदम उठाने के कारण खादीग्राम की बुनियादी शाला बन्द करनी पड़ी, फिर भी इस प्रकार की शाला चलनी चाहिए, ऐसी बात मैं हमेशा कहता रहता हूँ, इसलिए मैंने सोचा कि जब सेवापुरी भी मेरे ही मार्गदर्शन में चलता है, तो नयी तालीम के पहले ढाँचे का प्रयोग हम सेवापुरी में ही करें। ऐसा सोचकर करणभाई को लिखा कि वे जल्दी ही

वहाँ छात्रावास की व्यवस्था करें। यह भी लिखा कि भविष्य में वहाँ के प्रयोग में मैं खुद समय दूँगा। करणभाई ने मेरे प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत किया।

मैंने सेवापुरी जाकर वहाँ के काम की नये सिरे से पुनर्गठन की योजना बना दी, ताकि वे तदनुसार व्यवस्था कर सकें। वहाँ से लौटकर अपने बड़े लड़कों को सेवापुरी भेज दिया। सेवापुरी में किसी योग्य कार्यकर्त्री के न होने से लड़कियों की व्यवस्था वहाँ न हो सकी। महिलाश्रम *अपनी ही संस्था है। लेकिन वहाँ खेती का काम नहीं होता है। जिस युग* में युग पुरुष कहता है कि देश के प्रधानमंत्री को भी अपने हाथ से कुछ *समय खेती करनी चाहिए, उस युग में नयी तालीम के नाम से* चलनेवाली संस्था के शिक्षक तथा शिक्षार्थी अगर नियमित खेती न करें, तो उसे हम नयी तालीम कैसे कहे ? यह सही है कि वहाँ कताई और बुनाई का अच्छा प्रबन्ध है। यह प्रबन्ध तो आज पुरानी तालीम की सभी कन्यापाठशालाओं में हो रहा है। महिलाश्रम में खेती का अभाव मुझे खटकता था। महिलाश्रम की देखभाल भाई राधाकृष्ण करते है। पहले से ही आश्रम की सचालिका रमादेवी तथा भाई राधाकृष्ण से खेती के लिए कहता रहा हूँ। इस बार और अधिक जोर देकर कहा। परन्तु उन्हें यह मान्य नहीं होता था। काफी चर्चा के बाद उन्होंने इतना माना कि खेती की भीड के समय वे चार-पाँच घण्टे समय उसमें दे सकते हैं, जिससे सालभर का औसत एक घण्टा खेती के लिए हो जाय। पहले कदम के लिए इतने सुधार पर समझौता करके अपनी बड़ी लड़कियों को वहाँ भेज दिया।

मुझे ऐसा समझौता करते देख मुझे जाननेवाले लोगों को कुछ आश्चर्य होगा, फिर भी मैंने अपनी बड़ी चार लड़कियों के लिए समझौता किया। तुम पूछ सकती हो कि ऐसा क्यों किया ? जैसा कि मैं हमेशा कहता हूँ कि संसार में कोई भी वस्तु निरपेक्ष नहीं है। नयी तालीम के सर्वजन-आधार तथा सार्वजनिक स्वरूप की प्राप्ति में सफलता के लिए

एक आवश्यक बुराई के रूप में मैंने इसे स्वीकार किया। लेकिन उनसे कुछ कम उम्र की लड़कियों को भाषा की दिक्कत के बावजूद बंगाल के बलरामपुर में भेज दिया, क्योंकि वहाँ कृषि तथा कताई मूल उद्योग माना जाता है।

बड़े बच्चों की व्यवस्था करने के बाद हम लोगों ने अपना पूरा ध्यान गाँव में बसने की ओर लगाया। भगवान् परोक्ष में हमारे इस कदम की तैयारी कर रहा था। '५८ के मार्च में खादीग्राम के पुराने कार्यकर्ता भाई सुरेन्द्रसिंह का मेरे पास एक पत्र आया कि उनके गाँव भागलपुर जिला स्थित चटमाडीह ने ग्रामदान का संकल्प किया है और अधिकांश परिवार दान-पत्र भर चुके हैं। यह गाँव मुँगेर जिले की सरहद पर है। पत्र में उनका आग्रह था कि गाँववालों का मार्गदर्शन मैं करूँ।

चटमाडीह का ग्रामदान का संकल्प

चटमाडीह का ग्रामदान बिहार के लिए एक महत्त्व का विषय था। यह गाँव कुलीन राजपूतों का है। मध्यम-वर्ग का गाँव है। विषमता भरपूर है। गाँव में पढ़े-लिखे नौजवान काफी हैं। उनमें बहुत-से बाहर नौकरी करते हैं। कुछ लोग बी० ए०,बी० एस-सी०तथा एम० ए०, एम० एस-सी० पास हैं। कांग्रेस तथा सोशलिस्ट पार्टी के चोटी के नेता उस गाँव के निवासी हैं। एक भाई जिला बोर्ड के अध्यक्ष रह चुके हैं। आज कौंसिल के मेम्बर हैं। इलाका अत्यन्त रूढ़िग्रस्त होने के कारण जाति-पाँति, पर्दा-प्रथा आदि का कड़ाई से पालन होता है। राजपूत होने के नाते गरीब लोग भी अपने हाथ से काम करने को नफरत की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे गाँव के लोग ग्रामदान का विचार मान्य करते हैं, यह बात आन्दोलन की बहुत बडी सफलता है। यह काम लक्ष्मीबाबू जैसे सन्त और तपस्वी द्वारा ही सम्भव था।

भाई सुरेन्द्र के पत्र के बाद गाँव के दस-बारह नौजवान मुझसे खादीग्राम मिलने आये। तीन दिन रहकर सारी योजना के बारे में गहराई

से चर्चा की। उन्होंने जो योजना बनायी थी, उसे देखकर लगता था कि यह भारत सरकार की ही योजना है। अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी होने के कारण खर्च का अन्दाज-पत्रक लाख-डेढ़ लाख रुपया हो गया था। मैंने उन्हें समझाया कि न कहीं से यह पैसा मिलेगा और न मिलने पर यह उन्हें पचा सकेंगे। तीन दिन तक ग्रामदान का मतलब समझाया। मैंने कहा कि "केन्द्रवाद के निराकरण के लिए ही तो ग्राम-स्वराज्य का आन्दोलन है। जब तक आप लोग सामूहिक पुरुषार्थ का निर्माण नहीं करेंगे और केन्द्रीय शासन के भरोसे अपना विकास करने की बात सोचेंगे, तब तक आप लोगों को ग्राम-स्वराज्य की दिशा नहीं मिलेगी; परस्पर सद्भावना का भी निर्माण नहीं होगा, कुटुम्ब-भावना तो दूर की बात है।"

लाख-डेढ़ लाख की योजना

उन्होंने दलील दी। ऐसी दलील करीब-करीब सभी साथी देते हैं। खादीग्राम के साथी तो इसी प्रश्न पर आये दिन मुझसे झगड़ते रहते हैं। उनकी दलील यह थी कि गाँव तो रिक्त हो गया है, इस समय अगर बाहर का साधन नहीं मिलेगा, तो वे अपना निर्माण कैसे करेंगे? मैंने कहा कि "सम्पत्ति से रिक्त हो गया, पर श्रम से नहीं। अगर वे सामूहिक श्रम का संगठन करें, तो उन्हें विशाल शक्ति का दर्शन होगा। शुरू में बाहर के कुछ साधनों की शायद आवश्यकता हो, लेकिन उनसे मदद मिलेगी, उनका भरोसा नहीं होगा। भरोसा तो आत्मशक्ति का ही रखना होगा। मैंने 'हिन्द-स्वराज्य' का उदाहरण दिया और बताया कि सैकड़ों वर्ष की गुलामी तथा शोषण के कारण भारत रिक्त हो गया है, कंगाल हो गया है, फिर भी भारत को अपने विकास के लिए अपना ही भरोसा करना होगा, यदि अपनी स्वतन्त्रता कायम रखनी है तो।"

मैंने उनसे कहा कि "जब कभी भारत सरकार के अधिकारी धन के लिए अमेरिका जाते हैं, तो आप भी तो उनकी टीका करते हैं कि वे देश को बेचने जा रहे हैं। भारत जैसे पिछड़े देश को बाहर की मदद अवश्य चाहिए, लेकिन अगर उसी मदद के भरोसे देश का विकास होगा,

तो उस मदद के जरिये गुलामी की जंजीरें भी अवश्य पहुँचेंगी। अतः भारत को अपनी गरीबी के भीतर भी अपना ही भरोसा रखना होगा। ऊपर से थोड़ी मदद ली जा सकती है। इसके बिना हिन्द-स्वराज्य टिक नहीं सकता।"

मैंने यह भी कहा कि "आपके यहाँ तो अभी ग्राम-स्वराज्य हुआ ही नहीं, संकल्पमात्र है, उसे कायम करना है, फिर बाद को टिकाने का सवाल है। अतएव यद्यपि बाहर से दो-चार हजार रुपये की मदद ले सकते हैं, फिर भी आत्मशक्ति के भरोसे ही अपने काम की योजना बनाइये।" तीन दिन की चर्चा से वे मेरी बात समझे और मूल दृष्टि के कायल हुए।

इन युवकों की माँग के अनुसार अप्रैल में दो दिन के लिए मैं चटमा गया। चटमा के सभी लोगों से चर्चा की। ग्रामदान के विभिन्न पहलू मैंने उन्हें बताये। इस बीच गाँव के लोगों के उत्साह में भी कुछ स्थिरता आ गयी। वे दो दिन गम्भीरता-पूर्वक चर्चा करते रहे। कुछ लोग ग्रामदान के बारे में पुनर्विचार भी करते रहे। चर्चा से बहुत-से लोगों में जो गलतफहमियाँ थीं, वे दूर हुईं, शंकाओं का निराकरण हुआ। तसल्ली भी हुई। लेकिन स्थिरता से विचार करने के बाद कुछ लोगों ने दानपत्र वापस ले लिये। उन्होंने कहा कि "हमारी सद्भावना है, हमें यह विचार मान्य है, पर फिलहाल साहस नहीं हो रहा है।" मैंने उनकी इस भावना का स्वागत किया।

कुछ दानपत्र वापस

परिवार तथा समाज का मध्यबिन्दु स्त्री होती है। हमारे देश में उसे 'गृहलक्ष्मी' कहा गया है। वह 'चण्डी माई' भी कही जाती हैं यानी वह शक्ति होती हैं। जिस घर की स्त्री बनानेवाली होती है, वह घर गरीबी में भी बन जाता है। अगर स्त्री बिगाड़नेवाली होती है, तो लाख कमाई होने पर भी घर बर्बाद हो जाता है। यही कारण है कि पिछले ३५ साल से

बहनों का जागरण

राष्ट्र-निर्माण के काम में स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-सुधार को मुख्य काम माना है। तुम्हें मालूम है कि मैं इस काम में विशेष रूप से लगा रहता हूँ। चटमा निवासियों ने मेरा दो दिन का व्यस्त कार्यक्रम रखा था, लेकिन वहाँ की बहनों से मिलने का कोई कार्यक्रम नहीं रखा था। दूसरे दिन शाम को मैंने कहा कि "गाँव की बहनों की एक बैठक होनी चाहिए, क्योंकि मैं उनसे बात करना चाहता हूँ।" मैंने उनसे कहा कि "अगर आप स्त्रियों को अलग रखकर नयी समाज-रचना करना चाहेंगे, तो पूर्ण रूप से असफल होंगे। केवल पुरुष विचार कर सकते हैं, कमाई भी कर सकते है और अधिक से अधिक कुछ गुण-विकास कर सकते हैं; लेकिन वे समाज-निर्माण नहीं कर सकते। स्त्री-पुरुष दोनों से समाज बनता है। स्त्री उसका रचनात्मक अंग है, क्योंकि बच्चे की जिम्मेदारी उसी पर रहती है।"

मेरे कहने पर रात को नौ बजे उन्होंने बहनों को बटोरा। मैंने उनसे प्रश्न किया कि "बाबू लोगों ने ग्रामदान करते समय तुम लोगों से पूछा था क्या?" कुछ ने 'हाँ' कहा, कुछ ने 'ना' कहा। फिर मैंने उनकी भाषा में ग्रामदान के बारे में भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए उन्हें बताया कि उनका क्या कर्तव्य है। उस दिन तीसरे पहर की सार्वजनिक सभा में मैंने कहा था कि बाबू लोग आज काम नहीं करते हैं, उन्हें भी खेत में जाकर काम करना होगा। नहीं तो वे आज की परिस्थिति में भूखे मर जायँगे। उस सभा में कुछ बहनें भी थीं। मैंने उन्हें सभा का स्मरण कराते हुए पूछा कि "आप लोगों की खेत में जाकर धान रोपने की तैयारी है क्या?" रात को घर की औरतें खेत पर जाकर धान रोपें, यह बात सुनना भी इस देश के लोग पाप मानते हैं। इसलिए इस प्रस्ताव पर काफी खलबली मची। उसी गाँव के सुरेन्द्र भाई की पत्नी खादीग्राम में रहकर धान रोप चुकी थी। मैंने उनसे पूछा—"उसने जो रोपाई की, उससे उनका क्या बिगड़ा?" कुछ ने 'हाँ' किया, लेकिन और सभी बहनें तरह-तरह की शंकाएँ करने लगीं। बाहर निकलेंगे, तो

तो उस मदद के जरिये गुलामी की जंजीरें भी अवश्य पहुँचेंगी। अतः भारत को अपनी गरीबी के भीतर भी अपना ही भरोसा रखना होगा। ऊपर से थोड़ी मदद ली जा सकती है। इसके बिना हिन्द-स्वराज्य टिक नहीं सकता।"

मैंने यह भी कहा कि "आपके यहाँ तो अभी ग्राम-स्वराज्य हुआ ही नहीं, संकल्पमात्र है, उसे कायम करना है, फिर बाद को टिकाने का सवाल है। अतएव यद्यपि बाहर से दो-चार हजार रुपये की मदद ले सकते हैं, फिर भी आत्मशक्ति के भरोसे ही अपने काम की योजना बनाइये।" तीन दिन की चर्चा से वे मेरी बात समझे और मूल दृष्टि के कायल हुए।

इन युवकों की माँग के अनुसार अप्रैल में दो दिन के लिए मैं चटमा गया। चटमा के सभी लोगों से चर्चा की। ग्रामदान के विभिन्न पहलू मैंने उन्हें बताये। इस बीच गाँव के लोगों के उत्साह में भी कुछ स्थिरता आ गयी। वे दो दिन गम्भीरतापूर्वक चर्चा करते रहे। कुछ लोग ग्रामदान के बारे में पुनर्विचार भी करते रहे। चर्चा से बहुत-से लोगों में जो गलतफहमियाँ थीं, वे दूर हुईं, शंकाओं का निराकरण हुआ। तसल्ली भी हुई। लेकिन स्थिरता से विचार करने के बाद कुछ लोगों ने दानपत्र वापस ले लिये। उन्होंने कहा कि "हमारी सद्भावना है, हमें यह विचार मान्य है, पर फिलहाल साहस नहीं हो रहा है।" मैंने उनकी इस भावना का स्वागत किया।

कुछ दानपत्र वापस

परिवार तथा समाज का मध्यबिन्दु स्त्री होती है। हमारे देश में उसे 'गृहलक्ष्मी' कहा गया है। वह 'चण्डी माई' भी कही जाती है यानी वह शक्ति होती है। जिस घर की स्त्री बनानेवाली बहनों का जागरण होती है, वह घर गरीबी में भी बन जाता है। अगर स्त्री बिगाड़नेवाली होती है, तो लाख कमाई होने पर भी घर बर्बाद हो जाता है। यही कारण है कि पिछले २५ साल से

राष्ट्र-निर्माण के काम में स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-सुधार को मुख्य काम माना है। तुम्हें मालूम है कि मैं इस काम में विशेष रूप से लगा रहता हूँ। चटमा निवासियों ने मेरा दो दिन का व्यस्त कार्यक्रम रखा था, लेकिन वहाँ की बहनों से मिलने का कोई कार्यक्रम नहीं रखा था। दूसरे दिन शाम को मैंने कहा कि "गाँव की बहनों की एक बैठक होनी चाहिए, क्योंकि मैं उनसे बात करना चाहता हूँ।" मैंने उनसे कहा कि "अगर आप स्त्रियों को अलग रखकर नयी समाज-रचना करना चाहेंगे, तो पूर्ण रूप से असफल होंगे। केवल पुरुष विचार कर सकते हैं, कमाई भी कर सकते हैं और अधिक से अधिक कुछ गुण-विकास कर सकते हैं; लेकिन वे समाज-निर्माण नहीं कर सकते। स्त्री-पुरुष दोनों से समाज बनता है। स्त्री उसका रचनात्मक अंग है, क्योंकि बच्चे की जिम्मेदारी उसी पर रहती है।"

मेरे कहने पर रात को नौ बजे उन्होंने बहनों को बटोरा। मैंने उनसे प्रश्न किया कि "बाबू लोगों ने ग्रामदान करते समय तुम लोगों से पूछा था क्या?" कुछ ने 'हाँ' कहा, कुछ ने 'ना' कहा। फिर मैंने उनकी भाषा में ग्रामदान के बारे में भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए उन्हें बताया कि उनका क्या कर्तव्य है। उस दिन तीसरे पहर की सार्वजनिक सभा में मैंने कहा था कि बाबू लोग आज काम नहीं करते हैं, उन्हें भी खेत में जाकर काम करना होगा। नहीं तो वे आज की परिस्थिति में भूखे मर जायँगे। उस सभा में कुछ बहनें भी थीं। मैंने उन्हें सभा का स्मरण कराते हुए पूछा कि "आप लोगों की खेत में जाकर धान रोपने की तैयारी है क्या?" रात को घर की औरतें खेत पर जाकर धान रोपें, यह बात सुनना भी इस देश के लोग पाप मानते हैं। इसलिए इस प्रस्ताव पर काफी खलबली मची। उसी गाँव के सुरेन्द्र भाई की पत्नी खादीग्राम में रहकर धान रोप चुकी थी। मैंने उनसे पूछा—"उसने जो रोपाई की, उससे उनका क्या बिगड़ा?" कुछ ने 'हाँ' किया, लेकिन और सभी बहनें तरह-तरह की शंकाएँ करने लगीं। बाहर निकलेंगे, तो

लोग क्या कहेंगे ! रिश्तेदारी में क्या स्थिति रहेगी ? लड़कियों की शादी कैसे होगी, आदि प्रश्न उठने लगे। आज से पचीस साल पहले राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में छुआछूत का सवाल लेकर ऐसे ही प्रश्न उठते थे। मैंने उनसे पूछा कि "जब गांधीजी ने छुआछूत के खिलाफ आन्दोलन चलाया था, और उस गाँव के जिन लोगों ने चमारों के हाथ का खाना खाया था, क्या वे आज समाज से बाहर निकाल दिये गये हैं ? क्या उनकी लड़कियों की शादियाँ रुक रही हैं ? तो गांधी के शिष्य विनोबा अगर उनको खेत में जाकर काम करने को कहते हैं और वे करते हैं, तो उनका क्या बिगड़ेगा ? हर जमाने में सन्त महापुरुष उस युग के लिए आवश्यक बात करने को कहते हैं, शुरू-शुरू में लोग डरते हैं, पर कुछ लोग हिम्मत कर जाते हैं। चूँकि हिम्मत करनेवाले जमाने की माँग के साथ होते हैं; इसलिए वे हमेशा आगे ही रहते हैं। तो अगर चटमा के लोगों ने ग्रामदान की हिम्मत की है, तो उन्हें हर बात के लिए आगे रहना चाहिए।" बहनों पर कुछ असर हुआ। मैंने उनसे कहा कि "तुम लोग सब-की-सब दस दिन की ट्रेनिङ्ग के लिए खादीग्राम चलो, तो मैं सबको पक्का कर दूँगा।"

खादीग्राम में बहनों की ट्रेनिंग

जुलाई में धान-रोपाई के मौसम में मैंने उन्हें खादीग्राम बुलाया। ४०-४५ बहनें यहाँ आकर एक सप्ताह तक रहीं। प्रतिदिन उनसे वैचारिक चर्चा करता रहा। यहाँ के वातावरण से हिल-मिलकर भी उन्होंने बहुत कुछ समझा। खादीग्राम की बहनों और बच्चों के साथ उन्होंने खेत में खाद की ढुलाई की, मिट्टी खोदकर तथा ढोकर खेतों की मेंड़ बनायी और धान की रोपाई की। ये सब काम उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ किये। चलते समय मैंने उनसे पूछा कि "तुमने यहाँ तो ये सब काम किये, पर घर पर भी करोगी क्या ? मैं यहाँ के काम को कोई महत्त्व नहीं देता। जो लोग जगन्नाथपुरी में जाकर सबका छुआ भात खा लेते हैं, वे गाँव में नहीं खाते। खादीग्राम में अगर यह काम

कर लिया, इसलिए अपने गाँव में भी कर सकेंगी, ऐसा भरोसा है क्या ?" मुझसे उन्होंने वादा किया कि वे अपने गाँव में भी करने की हिम्मत कर सकती हैं; लेकिन मुझसे वे एक शर्त चाहती थीं। उन्होंने कहा कि "अगर मैं वहाँ बैठ जाऊँ, तो उनकी तैयारी हर काम को करने की है।" मैंने उन्हें बताया कि "मुझे बुलाना आसान काम नहीं है, मैं तो हाथी हूँ। हाथी पालनेवालों को उसकी खुराक जुटानी पड़ती है न !" उनमें से एक बहन बोली कि "हम सब मिलकर खुराक बटोर लेंगी।" इस तरह वादा करके वे अपने गाँव को वापस गयीं। मैंने उस गाँव की स्वराज्य समिति के मंत्री भाई गुड़ेश्वर सिंह से कहा कि "जिस समय धान-रोपाई शुरू हो जाय, वे सूचित करें, तो मैं गाँव में आ जाऊँगा।"

चालीसगाँव की बैठक चल रही थी। गुड़ेश्वर भाई का तार आया कि "१५ अगस्त के दिन वे रोपनी-समारोह करना चाहते हैं और चाहते हैं कि मैं वहाँ पहुँच जाऊँ।" सम्मेलन से सीधे १४ अगस्त की दोपहर को चटमा पहुँचा। पहुँचकर देखा कि गाँव में तथा आस-पास काफी खलबली मची हुई थी। भाई गुड़ेश्वर तथा दूसरे भाइयों को बड़ी परेशानी थी। उनको विश्वास नहीं हो रहा था कि सातपटी गाँव के बीच में चटमा की बहनें निकलकर धान-रोपाई करेंगी। गाँव के अधिकांश लोग इस चिन्ता में भी थे कि यह काम होना भी चाहिए कि नहीं। इस प्रकार की डाँवाडोल मनःस्थिति स्वाभाविक थी। ३० साल से आन्दोलन के संदर्भ में उस बात का पूरा अनुभव हो गया था कि बड़े-बड़े हिम्मतवाले सिपाही, जो राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई में अपने को असीम खतरे के मुँह में डाल चुके हैं, वे भी सामाजिक रूढ़ियाँ तोड़ने के समय घबराते रहे हैं और उनमें से अधिकांश रूढ़ियों के आगे नतमस्तक हो जाते थे। हँसते-हँसते छाती पर गोली खानेवालों को भी इस मोर्चे पर हिम्मत हारनी पड़ती थी। अतः अगर चटमा के भाइयों को घबराहट थी, तो इसमें आश्चर्य की बात कुछ नहीं थी।

घरसे निकलकर धान-रोपाई

बहनों से मिला। वे सब १५ अगस्त के झण्डोत्तोलन के समारोह में शामिल हुईं। मेरे भाषण का असर हुआ। समारोह के बाद बहनों से रोपाई करने के लिए चलने को कहा, तो वे सब वहीं से जुलूस निकालकर खेत में चली गयीं। कुछ के घरवालों ने जब मना किया, तो उन्होंने जवाब दिया कि वे खादीग्राम में वचनबद्ध हो चुकी हैं, इसलिए जायँगी। मैं तबीयत खराब होने के कारण खेत से जल्दी ही लौट आया। बहनें दो खेतों को पूरा करके मेरे पास प्रणाम करने के लिए आयीं। मैंने उनसे कहा—"दिग्विजय करके आ गयीं न?" उन्होंने हँसकर उत्तर दिया-"हाँ"।

नौ दिन तक लगातार रोज सुबह बहनें रोपाई करती रहीं। धीरे-धीरे दूसरी पट्टी के लोग खेतों के चारों तरफ भीड़ लगाकर भूदान के गीत गाती हुई बहनों को देखने लगे। कुछ राजपूत तो खेत में जाकर खुद भी रोपनी करने लगे।

इस प्रकार १५ अगस्त १९५८ को देश में एक बड़ी क्रान्ति की बुनियाद पड़ी। ग्राम-स्वराज्य का संकल्प हुआ। पिछले बारह साल से देशभर में 'हुजूर' और 'मजूर' की परिस्थिति समझाते हुए मैं यह आवाज बुलन्द करता रहा कि हुजूरों को मजूर बनना है। आज उस प्रक्रिया के प्रत्यक्ष श्रीगणेश से मुझे अत्यधिक आनन्द हुआ। दो साल पहले खादीग्राम के पास लमेत गाँव में राजपूत बहनों ने जो रोपनी की थी, उसमें से कुछ अधिक निष्पत्ति नहीं निकल सकी थी।

बारह वर्ष का स्वप्न साकार

अत्यन्त गरीब होने के कारण उनके पुरुष लोग दूसरी जगह मजदूरी करने जाते थे। उनके निकलने से समाज पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। गरीब होने के कारण उनके मन में भी विशेष उत्साह नहीं था। भीतर से उन्हें लगता था कि मानो गरीब होने के नाते इस काम के लिए मजबूरी है। इसलिए थोड़ी देर काम करके वे चली जाती थीं। उन बहनों से बात करने पर ऐसा नहीं लगता था कि उन्हें नया

काम करने का गर्व है। इसलिए यद्यपि उनका निकलना भी हिम्मत का काम था, फिर भी इलाके में कुछ खास असर नहीं हुआ था। चटमा की बहनों के निकलने से इलाकेभर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। केवल इलाके में ही नहीं, अपितु जिला और प्रदेश में भी उसकी शोहरत हुई। वस्तुतः रणीवाँ से प्रारम्भ कर खादीग्राम तक श्रम-साधना की जो चेष्टा चल रही थी, उनसे मैं गुण-विकास तो हो रहा था, कार्यकर्ताओं का मानस भी बन रहा था। लेकिन उसका असर जगन्नाथ क्षेत्र में छुआछूत निवारण जैसा ही था। सामाजिक संदर्भ में होने के कारण चटमा के काम को मैंने अपने जीवन का श्रीगणेश ही माना।

नौ दिन बाद चटमा से लौटते समय सब बहनों को एक साथ बुलाया, उनसे कहा कि धान कटनी के समय फिर आऊँगा। उस समय वे और अधिक सख्या में तैय्यार रहें, ऐसा भी मैंने

सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार

उनसे आग्रह किया। चार महीने बाद उसी इलाके के तीन थानों में श्रमदान-यात्रा का आयोजन रखा। दो टोलियों की यात्रा चली। एक टोली मेरे साथ, दूसरी भाई राममूर्ति के साथ। इस बार इलाके में मानो धूम मची हुई थी। गाँव-गाँव मे पचासों और सैकड़ों की तादाद में हजारों वर्षों की रूढ़ि तोड़कर औरतें हाथ में हँसिया लेकर धान काटने को निकल रही थीं। नौगाँई गाँव में तो अजीब दृश्य था। वहाँ के नौजवानों ने ही रूढ़ि छोड़ने की प्रक्रिया के खिलाफ संगठन किया। बहनों की तैयारी थी। बहनें एक तरफ से निकलती थीं और नवयुवक उन्हें रोकते थे, फिर बहनें दूसरी ओर से निकलने की कोशिश करतीं, वे उधर से रोकते थे। मानो गोरिल्ला लड़ाई चल रही थी। अतएव इन तमाम रोक-थाम के बावजूद ३५ बहनों ने जाकर धान-कटनी की। उनमें कई नौजवान 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा लगानेवाले थे। सब समाजवाद को ही माननेवाले थे। तुम देख सकती हो कि जमाना कितना बदल रहा है, पर्दे के भीतर क्रान्ति की आवाज से दूर रहनेवाली बहनों को किसने चेतना

दी। जिले के दूसरे इलाकों के कार्यकर्ता इसे देखने आते थे और दंग रह जाते थे। वे पूछते थे कि "भाईजी, ऐसा हुआ कैसे?" मैं उन्हें जवाब देता था कि "जमाने की आवश्यकता करा रही है, हम लोग निमित्त-मात्र हैं।"

एक भाई ने पूछा "अगर जमाने की आवश्यकता करवा रही है, तो दूसरे क्षेत्रों में ऐसी बातें क्यों नहीं होती हैं!" इसका मैंने यह उत्तर दिया कि "दूसरे क्षेत्रों में भी ऐसा होगा, आवश्यकता इस बात की है कि कोई निमित्त बने, कार्यकर्ता इसे शुरू करें। दिक्कत यह है कि कार्यकर्ता स्वयं ही रूढ़िग्रस्त हैं। चाहे वे सर्वोदय के प्रचारक हों या समाजवाद के। उनकी मान्यताएँ तो पुरानी ही हैं। यह पुरानापन केवल पिछले जमाने का ही नहीं, बल्कि पिछले से पहले का है। क्योंकि उनकी मान्यताएँ केवल पूँजीवादी समाज की ही नहीं, बल्कि काफी अंश में सामन्तवादी समाज की भी हैं। इसलिए सामाजिक क्रान्ति के लिए कदम बढ़ाने का उन्हें स्वयं ही साहस नहीं होता है, दूसरों को प्रेरणा तो क्या दें! दूसरी सामाजिक मान्यताओं को छोड़ दीजिये, केवल श्रम की ही बात लीजिये। मैं बारह साल से 'हुजूर' और 'मजूर' का नारा लगा रहा हूँ। विनोबा वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया के लिए पिछले पाँच साल से यहाँ तक कह रहे हैं कि देश के प्रधान मंत्री को भी भूमि पर जाकर शरीर-श्रम करना चाहिए। बापू ने पिछले चालीस साल से, साबरमती आश्रम की स्थापना के समय से वाणी और कर्म द्वारा कार्यकर्ताओं को दीक्षा दी थी, फिर भी आज कितने भूदान-कार्यकर्ता नियमित शरीर-श्रम करते हैं? वे गाँव में रहते हैं, उनके सामने गाँव के किसान खेत में जाते हैं, लेकिन उनके साथ जाने में शायद शर्म आती होगी। इसी बार मैंने देखा कि हमारे कुछ कार्यकर्ताओं ने ही अपनी पत्नी को कटनी के लिए नहीं भेजा।" इस तरह की चर्चा कई कार्यकर्ताओं से हुई।

कार्यकर्ताओं का दोष

आज भूदान के कार्यकर्ताओं में कई लोग निराशा का अनुभव करते

हैं। कहते हैं कि भू-क्रांति ठंढी पड़ गयी है। लेकिन ये देखते नहीं हैं कि आज गाँव-गाँव में जरा-सी पुकार पर लोग किस तरह क्रान्ति की राह पर आगे बढ़ते हैं। वे देखते नहीं कि गाँव-गाँव के लोगों की मान्यताएँ किस प्रकार बदल गयी हैं। लोग सोचते हैं कि यह होकर रहेगा, ये देखते नहीं कि देश के राजनीतिक जीवन की मायूसी के बावजूद सर्वोदय की सभाओं में हजारों की तादाद में लोग जुटते हैं। लोग कहते हैं कि १९५२ में क्रान्ति का जोर था। क्या १९५३ में गाँव-गाँव के लोगों में यह आकर्षण था ? क्या हमारी बातों को इतनी अनुभूति मिली थी ? क्या उन दिनों सामाजिक क्रान्ति के आह्वान पर लोग इस तरह निकलते ! मैं मानता हूँ कि ऐसा नहीं होता, क्योंकि उन दिनों भी मैं कमर में दर्द के होते हुए भी देहातों में घूमता था। बात यह है कि उस समय कार्यकर्ताओं का दिल और दिमाग गर्म था, आज वही ठण्डा पड़ गया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में भी कार्यकर्ताओं में ऐसी ही चर्चाएँ चलती थीं। १९२४ में कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता कहते थे कि गांधी का तरीका असफल रहा। बम फेंकने का काम करने की रुचि या हिम्मत नहीं थी, तो माडरेटवाला वैधानिक आन्दोलन कुछ अधिक गरम भाषा में करने लगे। सन् १९३२ के बाद कांग्रेस के जोशीले नौजवान गांधी में क्रान्ति का अभाव देखकर समाजवाद में क्रान्ति की खोज करने लगे। आज इस आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को गांधी के शिष्य विनोबा के कार्यक्रम में निष्पत्ति नहीं दिखाई दे रही है, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? आखिर नौजवान तो नौजवान ही है न ? वह अधीर होता है, उसे तुरत कुछ दिखाई देना चाहिए। सो भी वह जहाँ है, वहीं बैठकर दिखाई देना चाहिए। देखने के लिए जनता के अन्दर उसे घुसने की आवश्यकता नहीं है। यह सही है कि जवानों की यह अधीरता प्रगति का लक्षण है, लेकिन उन्हें समझना चाहिए कि क्रान्ति कोई घटना नहीं है, यह आरोहण की प्रक्रिया है।

इस प्रकार कटनी-यात्रा से इलाकेभर में क्रान्ति की एक लहर

दौड़ गयी। भू-दान के लिए भी वे जागरूक हुए। गाँव-गाँव से प्रतिष्ठित लोग मेरे पास आकर कहने लगे कि "हमें रास्ता बताइये। हम काम करने को तैयार हैं।" मैंने उन्हें आश्वासन दिया और कहा कि वे अपना काम करें और हमारे कार्यकर्ताओं को सर्वजन आधार में पचा सके, तो खादी-ग्राम के भाई-बहन भी इलाके में रह सकते हैं। उनके आग्रह पर अपने दो साथियों को मैंने उस क्षेत्र में भेज दिया।

कटनी-यात्रा का सुफल

तुम पूछोगी कि क्षेत्र में भेजने की क्या प्रक्रिया है? चालीसगाँव के प्रस्ताव के बाद जो विकेन्द्रीकरण का निर्णय किया, उसकी योजना क्या है, इत्यादि। इस बारे में तो अभी हमारा दिमाग जोरों से चल रहा है। कुछ कर भी रहे हैं। आगे के लिए दूर तक की योजना सोच रहा हूँ। मैंने कहा था कि आन्दोलन का यह समय अज्ञातवास का समय है और मैं मानता हूँ कि यह समय कम-से-कम ५ साल तक रहेगा। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि १९६२ के आम चुनाव के अवसर पर दलगत राजनीति का जो दर्शन मिलेगा, उससे जनता परेशान होगी। वह रास्ता ढूँढ़ने के लिए व्याकुल होगी। अज्ञातवास से तुम लोगों को उस अवसर के लिए अपनी तैयारी करनी है। पिछले साल मैंने खादीग्राम के साथियों से कहा था कि "क्रान्ति के आरोहण में अज्ञातवास की आवश्यकता होती है और उसका संयोजन करना पड़ता है। वैसे भी स्वाभाविक रूप से अज्ञातवास होता है। नेतृत्व की सिफत इसीमें है कि वह उसे संयोजित बनाये, नहीं तो अज्ञातवास का उत्कट निराशावाद में परिणत होने का खतरा है।"

इस अज्ञातवास के संयोजन के लिए मैं क्या-क्या सोच रहा हूँ, फिर कभी लिखूँगा।

⊗